CIVIL ARCHITECTURE
IN ANCIENT INDIA

(HINDI)
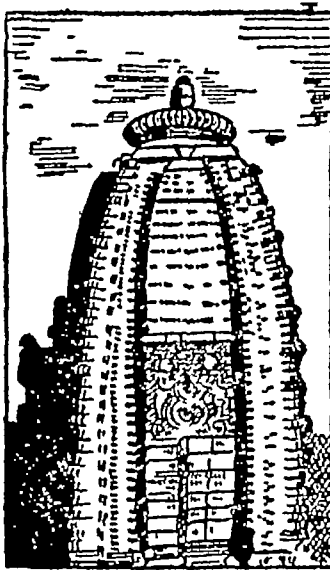
Dr D. N Shukla, M. A., Ph. D , D Litt.

समराङ्गण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्रीय

भवन-निवेश

डा. द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल
एम. ए, पी-एच. डी., डी. लिट्
साहित्याचार्य, साहित्यरत्न, काव्यतीर्थ, शिल्पकला-आकल्प
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष—संस्कृत-विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

सर्व-विक्रयाधिकारी
मेहरचन्द लछमनदास
२७३६ कूचा चेलां, दरियागंज, दिल्ली-६

विक्रय-केन्द्र—१ अन्सारी रोड, नया दरियागंज, दिल्ली-६

समर्पण

भृगुरत्रिर्वशिष्ठश्च विश्वकर्मा मयस्तथा ।
नारदो नग्नजिच्चैव विशालाक्षः पुरन्दरः ॥
ब्रह्मा कुमारो नन्दीश शौनको गर्ग एव च ।
वासुदेवोऽनिरुद्धश्च तथा शुक्रबृहस्पती ॥
अष्टादशैते विख्याता शिल्पशास्त्रोपदेशकाः ।

—इन अष्टाश वास्तु-शास्त्रोपदेशक ऋषियो, महर्षियो
एव देवो के चरणो मे—जिनके द्वारा उद्भावित
स्थापत्य-वेद के प्राचीन स्रोत से वास्तु-
शास्त्र (शिल्प-विज्ञान) की
प्रतिष्ठा हुई ।

निवेदन

हिन्दी मे वास्तु-शास्त्र पर प्रथम कृतियों का श्रीगणेश मैंने १९५४ ई० मे अपने प्रथम प्रकाशन—भारतीय वास्तु-शास्त्र—वास्तु-विद्या एवं पुर-निवेश के द्वारा किया था।

उत्तर-प्रदेश-राज्य की ओर से हिन्दी मे एतद्विषयक अनुसन्धानात्मक एव गवेषणात्मक दश-ग्रन्थ-प्रकाशन-आयोजन मे निम्नलिखित चार ग्रन्थों—१. भारतीय वास्तु-शास्त्र—वास्तु-विद्या एवं पुर-निवेश, २. भारतीय वास्तु-शास्त्र—प्रतिमा-विज्ञान, ३ भारतीय वास्तु-शास्त्र—प्रतिमा-लक्षण, ४. भारतीय वास्तु-शास्त्र—चित्र-लक्षण (Hindu Canons of Painting)—पर अनुदान प्राप्त हुआ था। अतएव हिन्दी-साहित्य में वास्तु-शिल्प के ग्रन्थों के प्रणयन का मुझे प्रथम सौभाग्य एवं श्रेय प्राप्त हो सका। उत्तर-प्रदेश-राज्य की हिन्दी समिति ने इनमें से प्रथम दो कृतियों पर पारितोषिक भी प्रदान किया। अतएव इस दिशा में अग्रसर होने के लिये लेखक ने केन्द्रीय सरकार के शिक्षा-सचिवालय से भी इस प्रकाशन मे साहाय्यार्थ प्रार्थना की।

१९५९ ई० में शेष छहो ग्रन्थो (भवन-निवेश, प्रासाद-निवेश, यन्त्र एव चित्र, समराङ्गण का हिन्दी में अनुवाद (२ भाग) तथा समराङ्गण-वास्तु-कोष पर प्रति प्रकाशन दो-दो हजार रुपयो का अनुदान स्वीकृत हुआ। उत्तर-प्रदेश-राज्य का अनुदान (दो-दो हजार रुपये प्रति प्रकाशन) १९५४ ई० में प्राप्त हुआ था। उस समय छपाई और कागज मे आजकल की कठिनता और महँगाई नहीं थी अतः पहले उत्साह से निजी व्यय-पूर्ति से ये प्रकाशन सुलभ हो सके। परन्तु जब से मैं लखनऊ विश्वविद्यालय से गोरखपुर विश्वविद्यालय (१९५७-१९५९) तथा पंजाव विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ (१९५९) के स्थानो पर नियुक्त हुआ तब से मैं अपने एतद्विषयक अंग्रेजी के ग्रन्थो —पी-एच. डी. तथा डी लिट. की थीसिसों (Vāstuśāstra Vol. I—Hindu Science of Architecture with especial reference to Bhoja's Samarāngana-Sūtradhāra—an extended study of Ph.D Thesis and Vāstuśāstra Vol. II—Hindu canons of Iconography and Painting) के प्रकाशन मे व्यस्त

रहा। साथ-ही-साथ कुछ वैयक्तिक व्यस्तताओ एव कठिनाइयों के कारण तथा छपाई की कठिनता के कारण ये प्रकाशन अभी तक स्थगित रहे। केन्द्रीय शिक्षा-सचिवालय के हिन्दी-डाइरेक्टरेट से इस विषय पर पत्र-व्यवहार चलता रहा। आशा है अब शीघ्र ही केन्द्रीय सरकार इन प्रकाशनो की पूर्ति मे विशेष ध्यान देगी जिससे वास्तु-कोष का प्रकाशन बृहद रूप मे अलग से हो सकेगा। अतः उत्तर-प्रदेश-राज्य एव केन्द्रीय शिक्षा-सचिवालय का तो मैं इन प्रकाशनो के लिए पूर्ण आभार मानता ही हूँ, साथ-ही-साथ यूनिवर्सिटी ग्राण्ट्स कमीशन के भूतपूर्व चेयरमैन डा० देशमुख का भी मैं अत्यधिक आभार मानता हूँ जिनकी सस्कृत-वाङ्मय-अनुसन्धान-प्रियता के कारण अग्रेजी के ये दोनो बृहदाकार ग्रन्थ प्रकाशित हो सके। वास्तव मे यह विषय ही अछूता था। विद्वानों ने अपनी भूरि प्रशसा के कारण मेरा उत्साह वढ़ाया तथा इन सस्थाओ को इन प्रकाशनों की ओर आकृष्ट किया। अतः यह वास्तु-शास्त्र (शिल्प विज्ञान) भी सस्कृत-पण्डितों के सम्मुख आ सका अन्यथा वेद, व्याकरण, दर्शन, साहित्य, पुराण, धर्मशास्त्र ही सस्कृत के अद्यावधि पठनीय एव गवेषणीय विषय रहे।

अन्त मे वास्तविक निवेदन यह है कि महाराजाधिराज धाराधिप भोजदेव-विरचित यह समराङ्गण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्र ग्रन्थ ११वीं शताब्दी की अधिकृत कृति है। इसमे वास्तु-शास्त्रीय सभी प्रमुख विषयो का प्रतिपादन है। यह वडा वैज्ञानिक भी है। दुर्भाग्यवश यत्र-तत्र ग्रन्थ भ्रष्ट भी अधिक है। अध्यायो की योजना भी गडवड़ है। हमारे देश मे एक समय था जव ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य भी कुशल स्थपति होते थे तथा स्थापत्य-कौशल विशेषकर मन्दिर-निर्माण एक यज्ञ-कर्म के समान पुनीत एव प्रशस्त माना जाता था। पता नहीं कालान्तर मे यह स्थापत्य-कौशल निम्नश्रेणियो (शूद्रादि जातियों) मे क्यो चला गया? शास्त्र की परम्परा एक प्रकार से उत्तर भारत मे विलुप्त हो गयी। दक्षिण मे भी कौशल तो शेष रह गया परन्तु शास्त्र-ज्ञान वहां भी एक प्रकार से परम्परा-मात्र रह गया। न तो कोई वास्तु-कोष, न कहीं वास्तु-सम्बन्धी टीका ग्रन्थ। ऐसी अवस्था मे वास्तु-पदावली का अर्थ एव उसकी वैज्ञानिक व्याख्या वडे ही असमजस एव एक प्रकार की निरीहता का विषय रहा। तथापि अप्रज्ञेय, दुरा-लोक, गूढार्थ, बहुविस्तर इस वास्तु शास्त्र-सागर का मैं यथाकथञ्चित अपने प्रज्ञा-पोत के द्वारा ही संतरण कर सका।

गर्व तो नहीं परन्तु हर्ष तो अवश्य है कि मेरी इन कृतियों के द्वारा यह अवश्य सिद्ध हो सकेगा कि सस्कृत के ये पारिभाषिक एव वैज्ञानिक ग्रन्थ

कोरी कल्पनाओं एव पौराणिक अतिरञ्जनाओ के आगार नही है जैसा कि तथा कथित पुराविद हमारे भारतीय विद्वान् भी मानते आये है। वैसे तो हमने इस शास्त्र के अध्ययन एवं अनुसन्धान में कठिनता के साथ सफलता भी पाई परन्तु यथानिर्दिष्ट किसी भी प्राचीन सहायता के अभाव में इस बृहदाकार समराङ्गण के अनुवाद मे वास्तव मे बड़ी कठिनता का अनुभव करना पडा है।

अनुवाद में बहुत से शब्दों को पारिभाषिक रूप मे रख दिया गया है, परन्तु वास्तु-कोष मे उनकी व्याख्या एव चित्रण दोनो के द्वारा पूर्ण प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जावेगा। इस देश में अब भी बहुत से मनीषी विद्वान् हैं जो स्थापत्य-शास्त्र से सम्भवतः परिचित हैं अतः उनसे प्रार्थना है कि वे अपने सुझावो से लेखक को उपकृत करें जिससे यदि भगवती सर्वमङ्गला की कृपा से दूसरा मुद्रण हुआ तो ये सुझाव विचारणीय बन सकेंगे। अस्तु—

गच्छत स्खलन क्वापि भवत्येव प्रमादत ।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति साधव· ।।

विदुपा वशवद
शुक्लोपाह्व द्विजेन्द्रनाथ

केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय से प्राप्त अनुदान एव प्रकाशकीय साहाय्य
से प्रकाश्य निम्नलिखित छे ग्रन्थ—

समराङ्गण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्रीय

भवन-निवेश (Civil Architecture)—

प्रथम भाग — अध्ययन एव हिन्दी अनुवाद

द्वितीय भाग — मूल का सस्करण एव वास्तु-पदावली

प्रासाद-निवेश (Temple and Palace Architecture)—

प्रथम भाग — अध्ययन एव हिन्दी अनुवाद

द्वितीय भाग — मूल का सस्करण एव वास्तु-शिल्प-पदावली

चित्र, यन्त्र एव शयनासनादि-शिल्प (Painting, Yantras & other Arts)—

प्रथम भाग — अध्ययन एव हिन्दी अनुवाद

द्वितीय भाग — मूल का सस्करण एव वास्तु-चित्र-पदावली

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

समराङ्गणीय भवन-निवेश· एक अध्ययन

द्वितीय खण्ड

प्रथम पटल—औपोद्घातिक

प्रवर्तन—आद्य-स्थपति—विश्वकर्मा एव उसके मानस-सुतो के द्वारा स्थपति-कोटियो (Architect-guilds) एव शिल्पि-वृन्दो का आविर्भाव, वास्तु-शास्त्र-विषय—वास्तु-शास्त्र मे वास्तु कला (Architecture), प्रतिमा-कला (Sculpture) तथा चित्र-कला (Painting) तीनो का विज्ञान-क्षेत्र, वास्तु एव सृष्टि—आयोजन (Planning) तथा सृष्टि (Creation), भारतीय वास्तु-विज्ञान का विशाल दृष्टिकोण—समस्त पृथ्वी वास्तु का विषय—अतएव भूगोल का अनिवार्य ज्ञान अभिप्रेत, भूतल पर प्रथम भवन की जन्मकथा, वर्णाश्रम-धर्म तथा वास्तु-विनियोग—

द्वितीय पटल—सामान्य (पारिभाषिक)

वास्तु-कर्ता एव वास्तु-कर्म—स्थपति एव स्थापत्य, वास्तु-परीक्षा—भूमि-परीक्षा एव देश-चयन, वास्तु-मान—हस्त-लक्षण, वास्तु-आरम्भ—(अ) आयादि-विचार (ब) इन्द्रध्वज-स्थापन, वास्तु-पद-विन्यास, वास्तु-पद-देवता-बलि, वास्तु-सस्थान, शिला-न्यास एव कीलक-सूत्र-पात—

तृतीय पटल—पुर-निवेश

नगरादि, भवनादि, एव भवनाङ्गो की संज्ञाएं तथा नगर-निवेश

चतुर्थ पटल—भवन-निवेश

भवन-प्रकार (चतु:शालादि दशशालान्त), भवन-द्रव्य (दारु-ग्राहरण), भवन-द्रव्य-प्रमाण (भवनाङ्ग), भवन-रचना (चुनाई), भवन-भूषा, द्वार-तोरणादि-भवनाङ्ग एवं तत्तद्-भङ्गादि-वेधादि-दोष एव शान्ति, भवन-दोष-सामान्य तथा भवन-शान्ति—

अनुक्रमणी

रेखा-चित्र

प्रथम खण्ड

भवन-निवेश का एक अध्ययन

समराङ्गणीय
भवन-निवेश का एक अध्ययन

भवन-निर्माण एव भारतीय संस्कृति

प्राचीन भारत मे भवन-निवेश का दृष्टिकोण बडा ही व्यापक था। इस देश की सस्कृति का प्राण धर्म रहा है और धर्म का अर्थ जैसा आजकल लोग लेते है वह कदापि नही था और न होना चाहिए। धर्म से अभिप्राय व्यक्ति-विशेष, समाज-विशेष अथवा देश-विशेष की उपासना-पद्धति या पूजोपचारो से ही नही था। धर्म एक प्रकार से मानव सस्कृति, सभ्यता और जीवन का एक-मात्र प्राण रहा है। वास्तव मे धर्म ने ही मानवता को पशुता से उठाया है। मानव के आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि तो पशु-समान है। केवल धर्म ही एक-मात्र पशुता एव मानवता का विभेदक है। धर्म बुद्धि-जीवियो के लिए ही आचरणीय है। इस लिए मानव को बुद्धि-जीवी (Rational) कहा गया है।

मानव-सस्कृति के विकास मे भारतीय दृष्टिकोण से धर्म ने बडा भारी योग-दान दिया है। अतएव हमारे पूर्वजो ने धर्म की व्याख्या मे लिखा था, कि—"जिस से मानव का अभ्युदय और उसका नि श्रेयस दोनो सिद्ध हो सकें वही धर्म है—यतोऽभ्युदय-निश्रेयस्-सिद्धि स धर्म। अभ्युदय का अर्थ सासारिक उन्नति है। आमोद-प्रमोद, भोजन-पान, निवास एव परिधान, अलङ्करण तथा रहन-सहन के साधन जितने भी प्रचुर हो, सुलभ हो, उतने ही वे अभ्युदय के परिचायक माने गये है। प्राचीन मानव जगलो मे रहता था, नदी-कूलो पर निवास करता था अथवा पर्वतो की कन्दराओ मे जीवन-यापन करता था—ऐसे मानव को हम जगली कहकर पुकारते है। झोपडियो मे रहनेवाले अथवा पल्लियो या पल्लिकाओ की छोटी-छोटी वस्तियो मे रहने वाले प्राचीन पुलिन्द, व्याध आदि जातियो को हम अर्ध-सभ्य किंवा असभ्य कहकर पुकारते है। इतिहास के साक्ष्य पर जिस दिन से मानव ने अच्छे-अच्छे घर वनाने आरम्भ किये और वडे-वडे नगरो को जन्म दिया उस दिन से हम उनको सभ्य की उपाधि प्रदान करने लगे। मध्य-युग मे जव लोग धवल-सौधो मे तथा अभ्रलिह प्रासादो मे निवास करने लगे, वडे-वडे राज-प्रासादो, देव-मन्दिरो, देवतायतनो आदि की

स्थापत्य वेद—भारतीय स्थापत्य एक विशुद्ध विज्ञान है। प्राचीन काल मे इसे स्थापत्य-वेद के नाम से पुकारा जाता था। मानव-जीवन मे गृह-निर्माण (रहने के लिए), चिकित्सा (जीने के लिए), सगीत (मनोरञ्जन के लिए) तथा अर्थ (व्यवसाय, व्यवहार, शासन तथा समाज-सगठन के लिए) ये चार या पाच अलग-अलग उपवेद भी कल्पित हुए। ऋग्वेद का आयुर्वेद, यजुर्वेद का धनुर्वेद, सामवेद का गान्धर्ववेद तथा अथर्ववेद का स्थापत्यवेद एव अर्थवेद ये चार-पाच उपवेद भी माने गये थे। सनातन से हम वेदो का अध्ययन करते आये। उनकी रक्षा मे हमने कुछ भी उठा न रखा। वडी-वडी शाखाएँ स्थापित की, वडे-वडे ऋषिकुलो को जन्म दिया, गुरु-शिष्य एव पिता-पुत्र की परम्परा को प्रोत्साहन दिया, जिस से हमारा यह प्राचीन वाङ्मय विकृत न हो जावे एव उसकी अक्षुण्णता वनी रहे। इस प्रकार से यह सिद्ध हुआ कि भारत की भवन-निर्माण-कला वहुत प्राचीन काल से इस देश मे विकसित हो चुकी थी और उसका अपना शास्त्र व्यवस्थित हो चुका था। अतः इससे प्रथम कि हम भारतीय वास्तु-कला के धार्मिक अङ्ग का विश्लेषण एव पोषण करें हमे पहले भारतीय वास्तु-कला के शास्त्र की प्राचीनता पर थोडा-सा सकेत करना आवश्यक है।

भवन-निवेश की प्राचीनता—एव भारतीय स्थापत्य की स्थापना—हम यह पहले ही सकेत कर चुके हैं कि आयुर्वेद (चिकित्सा) आदि, ज्योतिष आदि वेदो अथवा उपवेदो एव वेदाङ्गो के समान ही स्थापत्य वेद भी अति प्राचीन है। इसकी प्राचीनता का सर्वाधिक सुदृढ प्रमाण मत्स्य-पुराण के निम्न प्रवचन मे है—

> भृगुरत्रिर्वशिष्ठश्च विश्वकर्मा मयस्तथा।
> नारदो नग्नजिच्चैव विशालाक्षः पुरन्दरः॥
> ब्रह्मा कुमारो नन्दीशः शौनको गर्ग एव च।
> वासुदेवोऽनिरुद्धश्च तथा शुक्रबृहस्पती॥
> अष्टादशैते विख्याताः शिल्पशास्त्रोपदेशकाः।

जिन अष्टादश वास्तुशास्त्र के उपदेशक-आचार्यो का सकेत है उनमे प्राय सभी वैदिक-कालीन ऋषि अथवा प्रख्यात देव-पुरुष हैं। इसके अतिरिक्त भारतीय स्थापत्य-परम्परा मे दो वडे प्रख्यातनामा स्थपति मिलते हैं—विश्वकर्मा तथा मय। मय को असुर कहा जाता है। महाभारत मे मय दानव नामक एक महा-स्थपति के वास्तु-कौशल की वडी प्रशसा है। इसने ही पाण्डवो के सभा-भवन का निर्माण किया था। मय ने असुरो के आचार्य शुक्र से दीक्षा ली

निर्देश मिलते है जिनका सम्बन्ध तत्कालीन कलाओ से था, ऐसा अनुमेय है। धर, ध्रुव, सोम, अह (आय), अनल, अनिल, प्रत्यूष, प्रभास इन आठ वसुओ मे कुछ तो अग्नि-कला मे, कुछ यातायात के साधनो मे और कुछ तक्षरण और कई वास्तु-कलाओ मे विचक्षण थे। वसुओ के वश में प्रभास-वसु आता है। प्रभास वसु की शादी बृहस्पति की बहिन से हुई थी—यह समराङ्गरण की परम्परा है, परन्तु अपराजित-पृच्छा की परम्परा मे प्रभास वसु ने महर्षि भृगु की बहिन से शादी की थी। भृगु और भार्गव के पौराणिक आख्यानो एव कथाओ से हम परिचित ही हैं। परन्तु आज कल की भारतीय विज्ञान-परम्परा मे 'भृगु' इस शब्द के निर्वचन मे (दे० Encyclopaedia of Religions and Ethics—धर्म तथा आचार का विश्वकोश) 'भृगु' शब्द एक प्रकार से प्राचीन कारीगरो के लिए बताया गया है जिनको हम आजकल स्वर्णकार, लौहकार, रथकार के रूप मे परिकल्पित कर सकते हैं।

इनकी कला की सबसे बडी ओजस्विता आग्नेय-कौशल था। महाभारत के आग्नेय-अस्त्रो से हम परिचित ही हैं—आग्नेयास्त्र, वायव्यास्त्र, वारुणास्त्र, ऐसे नाना अस्त्रो का सकीर्तन बहुत बार हुआ है। अभी तक हम इन अस्त्रो को कवि-कल्पना समझते रहे। प्राचीन पुष्पक-विमान का भी हम कल्पना के रूप मे ही मूल्याङ्कन करते रहे। परन्तु अब हमे यह अविश्वास छोडना पडेगा। यदि आज का मानव आणविक शक्ति के प्रयोग से बडे-बड़े अस्त्रो का निर्माण कर सकता है तो क्या प्राचीनकाल के मय तथा विश्वकर्मा जैसे कला-कोविद् तथा बृहस्पति और भृगु जैसे विज्ञान-वेत्ताओ ने क्या ऐसा नही किया होगा? हमे भले ही महर्षि भारद्वाज के वैमानिक-शास्त्र की प्रामाणिकता पर विश्वास न हो परन्तु ११वी शताब्दी के धाराधिप महाराज भोज की कृति 'समराङ्गण-सूत्रधार' मे जो यन्त्राध्याय है और उसमे यन्त्र शब्द के निर्वचन मे जिन भूतो का वर्णन है तथा यन्त्र की शक्ति के स्वभाव पर, यन्त्र के बीजो पर, और इसी प्रकार, यन्त्र-कर्म, यन्त्र-गुण, यन्त्र-भेद तथा प्राचीन यन्त्र-कौशल आदि का जो निरूपण मिलता है और साथ-ही-साथ इस यन्त्राध्याय के विमान-यन्त्र के प्रकरण मे पारा, अग्नि और अय-कपाल आदि के जो निर्देश मिलते हैं उनसे भी प्राचीनकाल में भारतीय यान्त्रिक ज्ञान के अभाव की आस्था पर वज्रपात होता है। यहाँ पर इस भवन-निवेश मे यान्त्रिक-कला और यन्त्र-विज्ञान पर सविस्तर प्रतिपादन अभीष्ट नही है। इस ग्रन्थ के तीसरे भाग मे हम इस विषय की विशद व्याख्या करेंगे। हमारा इस उपोद्घात से यह अभिप्राय है कि हमारे देश मे भवन-निर्माण-कला जिसे स्थापत्य-वेद कहे अथवा वास्तु-शास्त्र कहे या शिल्प-

आज भी अपना वैभव बतला रही है। द्राविडो की कला से ही नागर प्रासादो की कला-कल्पना निखरी है।

कला एवं अध्यात्म—

भारतीय स्थापत्य की प्राचीनता का बहुत बडा प्रमाण वात्स्यायन का कामसूत्र है जिसमे नागरिको के शिष्ट जीवन मे चौसठ कलाओ का एक प्रकार से अनिवार्य स्थान प्रतिपादित किया गया है। सभ्य नागरिको के जीवन मे गीत, नृत्य, वाद्य के स्थान को सभी जानते हैं परन्तु आलेख्य, वास्तु-कला, तक्षण, प्रतिमाला आदि नाना पारिभाषिक कलाओ का जो वहाँ पर परिगणन किया गया है वह भारतीय जीवन के कला-पक्ष पर बडा भारी प्रकाश डालता है। भारतीय स्थापत्य पर विहङ्गम-दृष्टि का एक विशेष मर्मोद्घाटन यह है कि इस देश मे कला और विज्ञान अध्यात्म अथवा दर्शन से अलग नही रखे गये। कला का जन्म मनोरञ्जन से नही बल्कि धर्म और दर्शन से हुआ है। धर्म की व्याख्या हम ऊपर कर चुके है। दार्शनिक दृष्टि के सम्बन्ध मे इतना ही विभाव्य है कि जो विज्ञान अथवा कला अध्यात्म से शून्य है अथवा दर्शन से अननुप्राणित है वह कोरी और सूखी कला है जो शुष्क काष्ठ के समान जलाने लायक है। कला और विज्ञान आसुरी सम्पदा हैं उसे राक्षस नही बनने देना चाहिए। जो मनुष्य का भक्षक बन जावे उसे देवत्व की भावना से सदैव अनुप्राणित रखना चाहिए जिससे वह द्यावा, पृथिवी, अन्तरिक्ष, पर्जन्य, चन्द्र, सूर्य के समान जन-मङ्गल, जन-रक्षण एव जन-जीवन का विधान कर सके। सगीत हमारी इन्द्रियो को तृप्त अवश्य कर सकता है परन्तु ये इन्द्रिया हमे बिगाड सकती हैं, हमारे व्यक्तित्व को नष्ट कर सकती हैं, हमारे जीवन को ही खतरे मे डाल सकती हैं, परन्तु वही सगीत जब देवाराधन मे, देव-तृप्ति मे लगाया जाता है तो 'नादब्रह्म' का जन्म होता है, विश्व-सगीत का स्फुरण होता है, और भूतल पर नट-राज शिव के पावन चरणो के स्पर्श से अगणित मानवो का उद्धार होता है, एव विश्व मे शान्ति तथा सुख का साम्राज्य फैलता है। कृष्ण की वंशी, नाद और तुम्बुर की वीणा मे भी यही रहस्य छिपा है। वैसे तो सभी मकान बनाते है और बिना विचार किये भी आजकल उसका निवेश कर बैठते हैं। भवन का दिक्-साम्मुख्य किस ओर होना चाहिए, किस देवपद पर कौन-सा भवनाङ्ग निवेश्य है और कौन से देव-पद वर्ज्य हैं यह ज्ञान और विज्ञान तभी सम्पन्न हो सकता है जब हम भारतीय स्थापत्य के प्रमुख एव प्रथम अङ्ग वास्तु-पद-विन्यास या वास्तु-पुरुष-मण्डल के मर्म को पूरी तरह

समझ में । वास्तु-बलि एव वास्तु-पूजा बहुत ही प्राचीन सस्था है । यह वैदिक काल मे भी थी । वास्तु-पूजा अथवा वास्तु-बलि-विधान मे जिस मन्त्र का हम सनातन से उच्चारण कर रहे हैं उनमे वास्तोष्पति या वास्तु-ब्रह्म या वास्तु-पुरुष का ही आवाहन है । भारत की सब से बडी विभूति यह है कि हम ने स्थापत्य मे भी निराकार ब्रह्म को साकार रूप मे प्रतिष्ठित कर दिया है । सागर को बिन्दु से भर दिया है और बिन्दु मे सागर की सत्ता की पूर्ण शक्ति का आवाहन कर लिया । भारतीय स्थापत्य का मुकुट-मणि मन्दिर-निर्माण है । मन्दिर के निर्माण मे जिन कल्पनाओ के द्वारा उसका भिट्ट, जगती, पीठ, वेदाबन्ध, मण्डोवर, शिखर, कलश, आमलक आदि का विन्यास प्रतिपादित है उनमे पूर्णरूपेण निराकार ब्रह्म की साकार प्रतिष्ठा है । हम इस विषय पर सविस्तर विवेचन इस ग्रन्थ के दूसरे भाग 'प्रासाद-निवेश' मे करेंगे ।

वास्तु है, कोई भी योजना 'वास्तु' है। वास्तु शब्द वस्तु से निकला है। विधाता ने मानसी सृष्टि की और सम्भवत: भौतिक सृष्टि की भी परन्तु वह जितनी भी सृष्टि है वह सभी वस्तु है। अत उसको वास्तु मे परिणत करने के लिए विश्वकर्मा की आवश्यकता हुई और विश्वकर्मा को एक सरक्षक महाराज की भी आवश्यकता हुई। पुराणो मे पृथु का गोदोहन-वृत्तान्त सर्व-विदित है। पण्डित लोग इसका अर्थ लगावेंगे कि पृथ्वी को दुहा या गाय को दुहा। परन्तु मेरी दृष्टि मे पृथु के इस गोदोहन से ऊबड-खावड, पथरीली-ककरीली जमीन को केवल पुर, ग्राम निवेशो के उचित ही नही बनाया गया अपितु भिन्न-भिन्न भूखण्डो, पार्वत्य-प्रदेशो, नदी-कूलो, सघन वनो, कान्तारो और वृक्षो का पता लगाया गया और उन देशो, प्रदेशो और भूखण्डो की भूमि का परीक्षण भी किया गया जिस से यह साबित हो सके कि कौनसे प्रदेश मानव-वासोचित है? कौन से प्रदेश पशुओ की समृद्धि के अनुकूल हैं, किन-किन प्रदेशो मे इस रत्न-गर्भा वसुधरा के कौन २ से नाना खनिज पदार्थ, धातु, रत्न आदि प्राप्य है। इस दृष्टि से यह गोदोहन आज की भाषा मे (Geological Expedition) के नाम से पुकारा जा सकता है।

इसी प्रकार मन्वादि-धर्मशास्त्रो मे लिखा है कि सृष्टि के पूर्व एक ही तत्त्व था अर्थात् जल ही जल था। पुराणो मे यह भी लिखा है कि पृथिवी पर जल ही जल था। प्रलयावस्था इसी का नाम था तो फिर क्यो जल ही जल था। बात यह है कि बहुत अतीत की बात है कि यह पृथिवी बडी गर्म थी। यह एक प्रकार जलते हुए गोले के समान थी। ऐसे गोले पर वनस्पतियो, कीटादि-जन्तुओ, पशुओ और मानवो का उद्गम एव निवास कैसे सम्भव था? अत पुराणो मे एक आख्या-नात्मक अथवा उपरञ्जक शैली मे लिखा है कि सवर्तक और आवर्तक आदि मेघो ने इस पृथिवी को शीतल करने के लिए घोर वृष्टि कर दी तब यह पृथिवी वनस्पतियो, जन्तुओं और मानवो के बसने और बसाने के योग्य बनी। आजकल विकासवाद का सिद्धान्त सर्व-प्रचलित है और सर्वमान्य भी है। इस विकास-वाद की हम हिन्दू-दृष्टि से कैसे व्याख्या कर सकते हैं? समराङ्गण मे लिखा है कि इस जलमयी सृष्टि के अनन्तर ही सागरो, समुद्रो, द्वीपो, पर्वतो आदि का विभाग हुआ लेकिन इनका श्रेय प्रचण्ड प्रभञ्जन पवन को है जिसने इस महा-वृष्टि के बाद अपने प्रचण्ड समीरण के द्वारा जल को सुखाया। जो स्थल सूख गये वे मैदान बन गये। जो नही सूखे और घने रहे वे समुद्र बन गये। सरिताएँ कैसे बनी, जीव-जन्तुओ की सृष्टि कैसे हुई यह भी प्रतिपादित है। यह सब अपने-अपने अध्यायो मे प्रतिपादित है। यह विस्तार से वहीं पर द्रष्टव्य है।

भी कहा गया है। इनसे लोग समझते है कि सूर्य के रथ मे सात घोडे होते है—यह वैज्ञानिक व्याख्या नही है। 'हरित्' शब्द हृ धातु से निष्पन्न होता है। यास्क ने अपने निघण्टु मे हरित् का अर्थ 'Take away' आदान करने वाला कहा है। इस प्रकार हरित् का अर्थ रश्मि से है और वही अर्थ अश्व से भी समझना चाहिए। सूर्य-रश्मियाँ जिस प्रकार आदान करती है उसी प्रकार से प्रदान भी करती है। इसीलिए वर्ष मे आदान-काल और विसर्ग-काल दो षाण्मासिक काल माने गये हैं। पर्जन्य, वरुण आदि जिन देवो का ऋग्वेद मे वर्णन है तथा आगे चल कर इस देव-परम्परा मे जिन पौराणिक देवो का विकास हुआ है अथवा वास्तु-विन्यास मे जिन ४९ या ५३ पद-देवो की प्रतिष्ठा हुई है, वे सब वास्तव मे दृश्यमान, देदीप्यमान एव महीयान् इस महादेव सूर्य-देव की रश्मियो के ही नाम है, जो सूर्य के रश्मि-पुञ्ज की विविध वर्णमाला की व्याख्या करते हैं। इस विषय की विशद चर्चा हम आगे वास्तु-पुरुष-मण्डल की व्याख्या मे करेंगे।

भारतीय वास्तु-शास्त्र का व्यापक क्षेत्र—सृष्टि, भूगोल तथा सौरमण्डल

इस अधिकरण मे हमे पाठको के सामने समराङ्गण आदि वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थो मे प्रतिपादित भूगोल-वर्णन और सौर-मण्डल के वर्णन की क्या सगति है—इस पर प्रकाश डालना है। इस उपोद्घात से यह पता लग ही चुका है कि भारतीय वास्तु-शास्त्र का बडा ही व्यापक दृष्टिकोण था। जब समस्त भूमण्डल तथा सौरमण्डल 'वास्तु' का विषय है तो वास्तु की व्याख्या मे वास्तु को भवन-निर्माण की कोठरी मे बन्द कर देना बडा अभिशाप है। भारतीय स्थापत्य के अनुसार वास्तु-विनियोजना समस्त भूमण्डल को लेकर चलती है। एक देश दूसरे देश से प्रभावित रहता है। पडोसी देशो की पारस्परिक मैत्री अथवा शत्रुता का एक दूसरे पर कैसा प्रभाव पडता है—यह हम जानते ही है। इसी प्रकार देश-विशेष के अपने-अपने जनपदो, नगरो, ग्रामो, कुटुम्बो की पारस्परिक मैत्री और शत्रुता का क्या प्रभाव पड सकता है यह भी किसी से अविदित नही।

अथ च इस सौरमण्डल मे यह पृथ्वी एक बहुत ही लघु इकाई है। सौरमण्डल के विभिन्न ग्रह एक दूसरे को प्रभावित करते है। यह बेचारी पृथ्वी सूर्य और चन्द्र के बिना निर्जीव-सी है, अन्धी-सी है, बेकार है, तो क्या इस क्षुद्र पृथिवी पर रहने वाला जन्तु वह मानव हो, किंवा पशु हो, क्या सूर्य-चन्द्र

धर्म, ज्ञान, विज्ञान, दर्शन और कला पर विचार करने के लिए और दूसरा उपयुक्त, अनुकूल तथा प्रशस्त वातावरण नही समझा जाता था। ककरीली-पथरीली जमीन पर शस्य-श्यामला कृषि की कल्पना आकाश-कुसुम के समान है। आजकल की बन्द इमारतो मे बैठकर विराट्-पुरुष पर विचार असम्भव है। वह पृष्ठ-भूमि तथा वातावरण ही नही रहा। इसलिए अरण्यो मे पैदा होने वाला औपनिषदिक रहस्य आज भी सबसे बड़ा विज्ञान माना जाता है। सुकरात ने पश्चिम मे सब से बडा ज्ञान आत्म-ज्ञान माना था। उससे बहुत पूर्व यहाँ के ऋषियो ने आत्मा के ज्ञान मे ही परमात्मा को पहचान लिया था। उस दिन से मानव अपने आगे की छलाग को छोडकर फिर पीछे मुड गया और आत्मा को तो उसने अपने हाथो से ही मार डाला और परमात्मा को ईंटो से तथा पत्थरो से मार रहा है।

भारतीय स्थापत्य की विशेषता—

भारतीय स्थापत्य भारतीय सस्कृति का एक बडा ओजस्वी अङ्ग है। यह वह अङ्ग है जहाँ पार्थिव और अपार्थिव दोनो का सगम होता है। भारतीय स्थापत्य की यही अपनी विशेपता है। यूनान और रोम की वास्तु-कला पार्थिव तत्त्वो से ही विकसित हुई है। मानव शरीर के सौष्ठव की अभि-व्यक्ति ही वहाँ की कला का परम प्रयोजन रहा है। स्त्री-पुरुषो के शरीरावयवो की अभिव्यक्ति के साथ देवो और वीरो की आकृतियो मे भी उसी निष्ठा का पर्याप्त परिचय मिलता है। बडे-बडे गिरजा-घरो मे भी राजसी ठाठ-बाठ, अति-रञ्जना एव अलङ्कृति के अतिरिक्त और क्या मिलेगा ? वहाँ के स्थापत्य मे शरीरावयवाभिव्यक्ति निष्णात स्थपतियो की कला की पराकाष्ठा है, और विशाल भवनो विशेष कर गिरिजा-घरो और राज-प्रासादो की रचना उनके गौरव की प्रतीक हैं। गिरजा-घरो मे कतिपय धार्मिक चिह्नो एव उपलक्षणो की सूचक निर्मितियो के द्वारा वे राज-गृहो से पृथक् किये जा सकते है। सनातन से देव-मन्दिरो के निर्माण मे कोई-न-कोई पृष्ठ-भूमि का महारा लिया गया है। वहुत से विद्वानो के मत मे गिरजा-घरो और देव-मन्दिरो की रचना एक प्रकार से राज-घरो का सस्करण है। राज-गृहो का सब से प्रमुख निवेश सभा या आस्थान-मण्डप है जिसे दरबारे-आम या 'आडियन्स-हाल' के नाम से पुकारते हैं। दूसरी विशे-षता दरबारे-खास या आभ्यन्तर-कक्ष है जो क्रमश. मण्डप और विमान के पल्ल-वन मे सहायक हुआ है। उसी प्रकार राज-गृहो की भूमिकाएँ भी शिखरावलि—अलकृतिया तथा वितान-विन्यास आदि नाना निवेश मन्दिर-स्थापत्य के अङ्ग बने। यह विषय विवादास्पद है जिस पर हम 'प्रासाद-निवेश', मे विचार करेंगे।

समराङ्गण की देन—भारतीय स्थापत्य मे साधारण जनावासो का स्थान—भवन-जन्म-कथा

भारतीय स्थापत्य के इस व्यापक दृष्टिकोण पर किञ्चित्कर प्रवचन के उपरान्त हमे भारतीय वास्तु-शास्त्र के मूर्धन्य ग्रन्थरत्न—समराङ्गण-सूत्रधार—वास्तु-शास्त्र के अध्ययन सम्बन्धी इस भाग मे उसके प्रतिपाद्य विषय पर इस उपोद्घात मे कुछ विस्तृत चर्चा करनी है। परन्तु इससे पूर्व लेखक ने जो मौलिक-परिमार्जन एव संशोधन किया है उसका एक सुसम्बद्ध एव वैज्ञानिक पोषण आवश्यक है।

समराङ्गण-सूत्रधार का प्रथम सम्पादन एव संस्करण म० म० टी० गणपति शास्त्री महोदय ने १९२४ मे किया था और इसको दो भागो मे महाराज बड़ोदा-नरेश के संरक्षण मे प्रकाशित किया था।

सम्पूर्ण समराङ्गण मे ८३ अध्याय हैं। उनमे पहले ५४ अध्यायो का सम्पादन प्रथम-भाग और अन्तिम २९ अध्यायो का द्वितीय भाग मे किया गया है।

समराङ्गण-सूत्रधार—इस शीर्षक से ही इस ग्रन्थ की देन का पूर्ण सकेत है। समराङ्गण के पूर्ववर्ती ग्रन्थो मे जैसे मानसार, मयमत तथा अनेक प्राचीन पुराणो मे एव आगमो मे वास्तु-शास्त्र का विशद क्षेत्र देव-मन्दिरो एव देव-प्रतिमाओ तक ही पाया जाता है। मानसार के ६८ प्रकार के भवन एक प्रकार के विमान-मन्दिर हैं। मयमत की भी यही परम्परा है। पुराणो मे भी प्रासादो का ही प्रकर्ष है। अतएव आजकल के भारतीय पुराविदो की भी पाश्चात्य पुराविदो के समान एक भ्रान्त धारणा हुई कि भारतवर्ष के वाङ्मय मे 'सिविल-आर्कि-टेक्चर' का कोई वैज्ञानिक शास्त्र नही विकसित हुआ है। यहाँ के लोग बडे-बडे मन्दिर, राज-भवन अथवा दुर्ग तथा प्राकार वलयावृत नगर की ही रचना मे दक्ष थे। परन्तु साधारण जनोचित भवनो के विन्यास मे सर्वथा अनभिज्ञ थे।

यह धारणा नितान्त भ्रान्त है। यत. इस देश की सस्कृति मे दैवी तत्त्व के सामने अथवा सनातन अध्यात्म तत्त्व के सामने नश्वर भौतिक तत्त्व एव भौतिक बाह्याडम्बर को विशेष प्रश्रय नही दिया गया और ऊँचे विचार तथा साधारण जीवन ही सार्वदेशिक एव समन्वित रूप मे इस देश की सस्था रही है, अतएव लोग साधारण छाद्य भवनो मे रहते हुए परमानन्द प्राप्त करते रहे।

विज्ञान और कला को जीवन के व्यावहारिक उपयोग मे नही लगाया गया। विज्ञान और कला को देवता के चरणो मे समर्पित किया गया। अन्यथा आजकल की सी विषम परिस्थिति उत्पन्न हो जाती। जो विज्ञान एव कला अध्यात्म से शून्य है अथवा देवता-तत्त्व से रहित है वह स्वय संहारक अथवा संहार्य है। अतएव वह कला जो अध्यात्म से शून्य है, जो दैवीतत्त्व से शून्य है वह केवल जलाने के काम आ सकती है।

इसका तात्पर्य यह कदापि नही कि इस देश मे भौतिक पक्ष को सर्वथा गौण कर दिया गया। इस देश की सबसे बडी विशेषता यह रही कि आध्या-त्मिक पक्ष एव भौतिक पक्ष को सदैव सतुलित रखा गया और यह सतुलन तभी सम्भव हो सकता है जब भौतिक पक्ष की उद्दाम गति का अध्यात्म के द्वारा सदैव निरोध रहता रहे। अन्यथा यह भौतिकवाद भस्मासुर के समान अपने जनक स्वय शिव को भक्षण करने को तत्पर हो जाता है।

कोई भी देश महान् नही बन सकता, कोई भी सस्कृति अथवा सभ्यता चिर-स्थायी नही रह सकती जो एकाङ्गी हो। भारतवर्ष एक महान् देश था और है। भारतवर्ष की सस्कृति एव सभ्यता महान् थी एव अब भी कही जाती है। पुन हमारे देश को धर्म-प्रधान देश कहना अथवा हमारी सस्कृति को

इस अधिकृत ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय मे भवन-निर्माण अर्थात् शाल-भवन-विन्यास अर्थात् साधारण-जनोचित निवास-भवनो की रचना-पद्धति ही ग्रन्थ सर्वप्रधान है, तो फिर इस देश मे 'सैकूलर आर्किटैक्चर' का वैज्ञानिक विवेचन नही हुआ—यह कथन निराधार है कि नही ?

आगे हम भारतीय भवन-रचना-सिद्धान्तो का सविस्तर विवेचन करेगे वहाँ उस प्रश्न का अनायास ही समाधान हो जायगा। यहाँ पर प्रकृत मे समराङ्गण की जिज्ञासा मे 'समराङ्गण-सूत्रधार' इस शीर्षक का अर्थ मात्र ही हमारे प्रवचन का प्रबल समर्थन करता है। समराङ्गण का साधारण अर्थ तो युद्ध-क्षेत्र है। परन्तु यह तो वास्तु-शास्त्र का ग्रन्थ है, यहाँ पर युद्ध-क्षेत्र की क्या कथा ? अत ग्रन्थकार ने वास्तुशास्त्र का परमोपादेय मर्म इस शीर्षक मे ही भर दिया है। समर का अर्थ है जुडे हुए अथवा अच्छे-अच्छे चक्र, जैसे एक पहिये मे उसके अर जुडे हुए होते है—उसी प्रकार से शालाएँ (गृह) आङ्गन से जुडे हुए होते है—वे समराङ्गण है और उनका सूत्रधार 'समराङ्गण-सूत्रधार' हुआ। अर्थात् इस ग्रन्थ की सर्वप्रमुख विशेषता साधारण-जनोचित-भवन-विन्यास है। वैसे तो देव-भवनो पर भी बडा प्रौढ प्रतिपादन है परन्तु इस ग्रन्थ के पूर्ववर्ती ग्रन्थो मे एकमात्र देवभवनो का ही रूढि-ग्रस्त जो प्रतिपादन मिलता है उसी रूढि का भञ्जन कर ग्रन्थकार ने वास्तु-कला की सर्वव्यापक प्रतिष्ठा मे तीनो प्रकार के भवनो (जनभवन, राजभवन, देवभवन) की रचना के सिद्धान्तो की व्याख्या की है।

वास्तु एवं शिल्प—

समराङ्गण-सूत्रधार के अध्यायो की हम चर्चा कर रहे थे। समराङ्गण-सूत्रधार के लेखक धाराधिप महाराजाधिराज भोजदेव थे। हो सकता है कि कालान्तर मे इस शास्त्र को लिपिवद्ध करने मे लेखको ने कुछ इधर-उधर गडवडी कर दी हो अतएव इस ग्रन्थ मे भवन-सम्वन्धी अध्यायो मे पूर्वापर क्रम सुसम्वद्ध नही है। अत मैंने अपने इस दीर्घ-कालीन अध्ययन से प्राप्त अनुभव के आधार पर निम्नलिखित तालिका मे अध्यायो के सुसम्वद्ध सङ्घटन करके ग्रन्थ का परिमार्जन किया है। परन्तु इस तालिका के अवतरण से पूर्व विज्ञ पाठको के सम्मुख थोड़ा-सा इस सम्वन्ध मे निवेदन अपेक्षित है। यह ग्रन्थ वास्तु-शास्त्र का प्रतिपादन करता है। वहुत से अन्य ग्रन्थ जैसे—मानसार तथा मयमत वास्तु-शास्त्र के स्थान पर शिल्प-शास्त्र का शीर्षक देते हैं। वैसे तो ये सभी ग्रन्थ एक ही शास्त्र का प्रतिपादन करते है, परन्तु वास्तु-शास्त्र एव

स्थापत्य-शास्त्र, वास्तु-शास्त्र, शिल्प-शास्त्र ये तीनो शब्द पर्यायवाची विवृत हुए। परन्तु मेरी धारणा के अनुरूप वास्तु-शास्त्र के निम्नलिखित अङ्ग हैं—वास्तु, शिल्प तथा चित्र। ये तीनो एक दूसरे के उपकारक है। भारतवर्ष की कला उपलक्षणात्मक रूप मे पल्लवित एव फलित हुई है। उपलक्षण अर्थात् 'सिम्बल्स' या प्रतीक की अवतारणा मे चित्रण और मूर्तिकला नितान्त अनिवार्य सहचर है। शिल्परत्न का लेखक स्वय कहता है—

> एव सर्वविमानानि गोपुरादीनि वा यत.।
> मनोहरतर कुर्यात् नानाचित्रैर्विचित्रितम्॥

इस प्रवचन मे वास्तु-कला एक यान्त्रिक-कला न रहकर मनोरम-कला के रूप मे उद्भावित की गई है। भारतीय वास्तुकला वास्तव मे पश्चिम की वास्तु-कला के समान यान्त्रिक-कला नही है। यह काव्य-कला, सगीत-कला, नृत्य-कला नाट्यकला के समान एक मनोरमकला है। इसके साथ-ही-साथ भारतीय कलाओं की सर्वप्रमुख विशेषता यह भी है कि इनका आधार अध्यात्म की ज्योति है जिससे वे अनुप्राणित हैं। सगीत के नाद ब्रह्म के समान, काव्य और नाटक के 'रसो वै सः' रस ब्रह्म के समान वास्तु मे भी वास्तु-ब्रह्मवाद की केवल शास्त्रीय अवतारणा ही नही की गई वरन् प्रासाद की रचना मे अथवा विमान की रचना मे उसे पूर्णरूप से प्रतिष्ठित किया गया है। आगे हम जब प्रासाद अर्थात् हिन्दू-देवमन्दिर का विवेचन करेंगे तब प्रासाद की प्रकृति एव उसके उद्गम और विकास पर जो प्रकाश पडेगा उससे हिन्दू-मन्दिर की 'आरगैनिक थ्योरी'—पुरुष-सिद्धान्त अर्थात् प्रासाद-पुरुष-सिद्धान्त के द्वारा इस मर्म का पूर्णरूप से मर्मोद्घाटन हो सकेगा। अतः वास्तु, शिल्प और चित्र के पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध पर इस सकेत से भारतीय दृष्टि से कुछ निर्वचन हुआ। अब वास्तु के व्यापक क्षेत्र पर थोडा-सा प्रवचन आवश्यक है।

वास्तु की व्यापकता—

भवन-निर्माण के प्रथम भवनोचित देश, प्रदेश, जनपद, सीमा क्षेत्र, वन, उद्यान, भूमि आदि की परीक्षा आवश्यक है। पुन भवन एकाकी नहीं रह सकता। वह तो किसी पुर, पत्तन अथवा ग्राम का अङ्ग होता है अतः भवन-निर्माण अथवा भवन-निवेश की प्रथम प्रक्रिया अथवा प्रथम सोपान पुर-निवेश है। परन्तु पुर-निवेश जहाँ कहीं नहीं किया जा सकता। पुरोचित-भू प्रदेश का चयन भी आवश्यक होता है। इस चयन मे आधुनिक 'सर्वेइंग' और टेक्निक-

२०.	आयतन	वसित	वेश्म
२१.	वेश्म	निलय	गृह
२२.	मन्दिर	तल	ओक
२३.	धिष्ण्यक्	कोष्ठ	प्रतिश्रय
२४	पद	स्थान	—
२५	लय	—	—
२६.	क्षय	—	—
२७.	आगार	—	—
२८.	उद्वमित	—	—
२९.	स्थान	—	—

इस तालिका से भवन के जन्म, उद्गम, आकृति, प्रतिकृति, प्रकार और प्रकर्ष सभी दिखाई पड़ते हैं। साधारण उटज भी भवन थे और आजकल के अभ्रलिह बहु-भूमिक प्रासाद अथवा हर्म्य भी भवन है। परन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से भारतवर्ष की भवन-कला मे निम्नलिखित तीन ही भवन-वर्ग हैं—

जन-भवन, राज-भवन, और देव-भवन।

राजभवन मे ही आजकल की जो 'पबलिक बिल्डिङ्गस' हैं वे गतार्थ होती हैं—जैसे पुस्तकालय, विश्रामालय, सभा इत्यादि। परन्तु आधुनिक युग मे यह वर्ग-त्रयी अपूर्ण ही कही जायगी क्योकि औद्योगिक विकास ने नाना प्रकार के नये-नये भवनो को जन्म दिया। परन्तु यह पुरातत्त्व का ग्रन्थ है और पुरातत्त्व की समीक्षा है अत. हमारे क्षेत्र मे यह जिज्ञासा अथवा विचिकित्सा अनावश्यक है। इस प्रकार से वास्तु अथवा भवन-कला का निम्नलिखित षडङ्ग विनिर्णीत हुआ—

१. वास्तु-शास्त्र के मौलिक सिद्धान्त ;
२. पुर-निवेश (ग्रामादि भी) ;
३. भवन-निवेश (जन-भवन, शाल-भवन) ;
४. राज-निवेश तथा राज-भवन ;
५. प्रासाद-निवेश (विमान-विधान, देव-भवन) तथा
६. देव-भवन-चित्रण अर्थात् शिल्प एव चित्र।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि भारतवर्ष की वास्तु-कला यूनान अथवा रोम की वास्तु-कला से विलक्षण है। यूनान की वास्तु-कला वैषयिक है अर्थात् पार्थिव जगत—मानव, पशु-पक्षी एव प्रकृति का हू-बहू चित्रण ही उनका चरम

अथ च प्रतिमा-निर्माण के नानावर्गीय द्रव्यो मे जैसे पाषाण, धातु, रत्न, काष्ठ, मृत्तिका इन विभिन्न द्रव्यो का सकीर्तन किया गया है वही चित्र को नही भुलाया गया है। अतएव जिस प्रकार से हम भारतीय स्थापत्य मे पाषाण-निर्मिता, धातूत्था, काष्ठजा, रत्नजा, मृन्मयी आदि प्रतिमाओ को पाते हैं वहाँ चित्रजा प्रतिमा भी भारतीय स्थापत्य की अनुपम एव अभिन्न निधि के रूप मे पाई जाती है। अभी तक हम वास्तु-कला को पारिभाषिक एवं वैज्ञानिक स्तर से विचार करते रहे, यद्यपि हमने भाव और रस का भी उल्लेख किया है जिसमे भक्ति भी आ सकती है, परन्तु जो स्तर स्पष्ट-रूप से प्रतिपाद्य है वह है धार्मिक-स्तर। वैसे तो हमारा समस्त वास्तु-वैभव और शिल्प-उत्कर्ष देव-चरणो पर पुष्पाञ्जलि के रूप मे पल्लवित एव फलित हुआ है और यही कारण है कि देवत्व की अभिव्यञ्जना और उसकी व्याख्या मे प्रतीको और उपलक्षणो का सहारा लेना पडा है। परन्तु जहाँ तक इस देश की मूर्ति-कला के विकास का प्रश्न है वह सर्वथा धर्माश्रय से निष्पन्न हुआ है।

वैदिक-इष्टि मे प्रतिमा की आवश्यकता नही थी, परन्तु पौराणिक पूर्त मे देवतायतनो का निर्माण एव उनमे देवता-प्रतिमाओ की प्रतिष्ठा एक अनिवार्य सस्था वन गई। अत प्रतिमा-निर्माण जन-धर्म की आवश्यकता की पूर्ति के हेतु प्रौढ सस्था वन गई।

सभी ज्ञानी एव ध्यानी नही वन सकते थे, सभी आत्मवित् तथा ब्रह्मवित् नही वन सकते थे। अत. साधारण जनो की धार्मिक पिपासा, आत्मिक उन्नति तथा भावमयी तुष्टि एव भक्तिप्रधान आसक्ति के लिए अज्ञो के निमित्त प्रतिमा की प्रकल्पना एक युगीन चेतना के रूप मे विकसित हुई जो प्रासाद-वास्तु अर्थात् मन्दिर-स्थापत्य की अभिन्न सहचरी वन गई। अतएव वास्तु-कला के षडङ्ग मे ही प्रासाद-चित्रण भी एक प्रधान अङ्ग है यह समझ मे आ सकता है और यह भी समझ मे आ सकता है कि भारतीय परम्परा के अनुसार वास्तु, चित्र एवं शिल्प एक दूसरे से कितने सम्बन्धित है।

पश्चिमीय परम्परा और आजकल की प्रगति के अनुसार वास्तु, शिल्प और चित्र एक प्रकार से अलग-अलग कलाएँ हैं तथा उपजीव्य व्यवसाय भी हैं एव वैयक्तिक अध्यवसाय भी हैं। प्राचीन भारत की पद्धति के अनुसार वास्तु-कला-कोविद् स्थपति की चार कोटियाँ थी—स्थपति, सूत्रग्राहिन्, तक्षक तथा वर्धकि। स्थपति वास्तु-शास्त्र के सभी अङ्गो का निष्णात विद्वान् और परम-कुशल कलाकार माना जाता था परन्तु तक्षक की विशेषता और वैदुष्य तथा दाक्ष्य पाषाण-कला अर्थात् मूर्ति-कला पर आश्रित था। वर्धकि पच्चीकारी और

काष्ठ-कला का कोविद होता था और सूत्रग्राहिन् आजकल के इञ्जीनियर अथवा ओवरसियर की तरह काम करता था। इन शिल्प-कोटियो मे ही भारतीय-स्थापत्य-शास्त्र अथवा वास्तु-शास्त्र का कितना विशाल एव व्यापक क्षेत्र प्रकट हुआ—यह हमारी समझ मे आ सकता है।

समराङ्गण-सूत्रधार वास्तुशास्त्र का पुन सगठन—अध्यायो की वैज्ञानिक योजना—

इस समस्त भूलोक एव सौरमण्डल तथा समस्त ब्रह्माण्ड से सम्बन्धित है। क्या किसी देश-विशेष की वास्तु-योजना मे दूसरे देशो का ज्ञान आवश्यक नही है ? यह भूलोक सौरमण्डल की क्या एक लघु इकाई है, और क्या यहाँ के निवासियो के जीवन और भाग्य अन्य ग्रहो से प्रभावित नही रहते हैं ? अत. सौरमण्डल और इस समस्त ब्रह्माण्ड या अण्ड-कर्पर का भी थोडा-सा ज्ञान परमावश्यक है। अतएव इस अध्याय के बाद आचार्य विश्वकर्मा पहले सृष्टि-वर्णन करते है जिसका शीर्षक **महदादिसर्ग** (चौथा अध्याय) है। पुनः पाँचवे अध्याय मे सूर्यादि ज्योतियो की स्थितियो एव गतियो पर प्रकाश डाला गया है।

भूतल पर भवन की आवश्यकता क्यो हुई ? अत भवन-जन्म की कहानी के सुन्दर कथा-चित्र एव भवन की प्रकृति तथा प्रतिकृति एव रूप-रेखा पर भी प्रकाश डाला गया है। यह विषय **सहदेवाधिकार** नामक छठे अध्याय मे उद्घाटित है। भारतीय सस्कृति का मूलाधार वर्णाश्रम-धर्म है। अत. कोई भी इस देश की योजना वर्णाश्रम-धर्मानुकूल ही होनी चाहिए। अन्यथा न तो सुनियोजित राष्ट्र सम्पन्न हो सकता है, और न सुसघटित समाज परिकल्पित हो सकता है तथा न व्यक्ति ही सभ्य नागरिक के रूप मे विकसित हो सकता है। अत. किसी भी योजना के लिए सुसयमित व्यक्ति, सुनियन्त्रित समाज तथा सुशासित राज्य परमावश्यक है। अतः **वर्णाश्रम-प्रविभाग** नामक सातवे अध्याय मे भूलोक के प्रथम शासक महाराज पृथु के द्वारा इन तीनो की सुन्दर व्याख्या की गई है। साथ-ही-साथ उनकी वृत्ति के लिए खेट, ग्राम, नगर, दुर्ग आदि की कल्पना की गई है जो वास्तु-शास्त्र के परम उपजीव्य विषय है।

द्वितीय पटल—सामान्य

हमने वास्तु-शास्त्र के नाना अङ्गो का निर्धारण किया है जैसे—नगर-निवेश, भवन-निवेश, राज-निवेश, प्रासाद-निवेश, प्रतिमा-निवेश, चित्र-निवेश आदि-आदि। अत इन सभी निवेशो के योग्य कुछ सर्वसाधारण वास्तु-शास्त्रीय उपजीव्य विषय हैं जिनको हमने सामान्य के अन्दर रखा है। वास्तु-कला का अधिकृत विद्वान् और कुशल कारीगर स्थपति है। वास्तु-शास्त्र अथवा स्थापत्य-शास्त्र के शास्त्रीय दृष्टि से कौन-कौन अङ्ग है यह जिज्ञासा सामान्य मे पहली होनी चाहिए। अत स्थपति और स्थापत्य विषयक **'स्थपति-लक्षण'** ४४वा तथा **'अष्टाङ्ग लक्षण'** ४५वा ये दोनो अध्याय सामान्य-शीर्षक द्वितीय पटल के प्रथम दो अध्यायो मे परिकल्पित किये गये है। अत. इस नवीकरण मे इन अध्यायो का क्रम आठवां नवां हो गया है।

उद्धृत किया गया है। इस प्रकार समराङ्गण के मौलिक अध्यायो मे १८वे अध्याय तक पहुँचे। परन्तु बीच मे दो अध्याय रह गये हैं—राज-निवेश नामक १५वा अध्याय तथा वन-प्रवेश नामक १६वा अध्याय। हम पहले ही भवन की त्रिविधा पर सकेत कर चुके हैं—जन-भवन, राज-भवन तथा देव-भवन। विकास की दृष्टि से राज-भवन और देव-भवन ऐतिहासिक दृष्टि से वाद के विकास है। अत राज-भवन भारतीय स्थापत्य के अनुसार साधारण-जनोचित भवन-निवेश से एक विलक्षण सस्था है। अत. उसका मूल्याङ्कन प्रासाद-निवेश मे होगा। वैसे तो प्रासाद का पारिभाषिक अर्थ वास्तु-शास्त्र की दृष्टि से मन्दिर अर्थात् देव-भवन है परन्तु वाङ्मय मे 'प्रासादो देवभूभुजाम्'—अमरकोष की परम्परा और व्यावहारिक दृष्टि से तथा कला की अलकृत शैली के अनुरूप राज-भवन और देव-भवन पर हम साथ-साथ प्रतिपादन करेंगे। अत राज-निवेश का यह अध्याय इस भवन-खण्ड मे असगत है। आगे राज-निवेश सम्वन्धी अन्य अध्याय भी हैं—जैसे राज-गृह (३०वा), राजोचित शयनासन (२९वा), राजक्रीडार्थ यन्त्रादि (३१वा), राजोचित आयतनादि (५१वा)—ये अध्याय राज-निवेश के अङ्ग होने के कारण तत्रैव प्रतिपाद्य होंगे। अश्वशाला, गजशाला, सभा आदि के तत्तद-ध्याय भी प्रासाद-निवेश मे विवेच्य एव व्यवहार्य होंगे। वन-प्रवेश यह अध्याय गृह्य-सूत्रो की दार्वाहरण अर्थात् वन से भवनादि के निर्माण मे आवश्यक काष्ठादि की सामग्री के आहरण की परम्परा है, जिसका सम्वन्ध भवन-रचना से है। अत जव तक भवन के प्रकारो (चतुःशालादिदश-शालान्त साधारण जनावास) का निर्णय और विधाओ का वर्गीकरण नही वताया जाता तव तक रचना का प्रश्न ही नही उठता। अतः यह अध्याय भवन-निवेश मे द्वितीय सोपान के रूप मे परिकल्पित किया जायगा।

अस्तु इस उपोद्घात के अनन्तर अव हम इस अध्ययन के चतुर्थ पटल पर थोडी-सी अध्याय-सम्वन्धी समीक्षा करेंगे—

चतुर्थ पटल—भवन-निवेश

भवन-निवेश पर समराङ्गण मे, लेखक की दृष्टि से, १६ अध्याय हैं जिनको हम निम्नलिखित कोटियो मे विभाजित कर सकते हैं—

क. भवन-प्रकार—चतुश्शालादिदशशालान्त भवन,
ख. भवन-द्रव्य एव भवनाङ्ग,
ग. भवन-रचना,
घ भवन-भूषा,
ड. भवन-दोष, भवनाङ्ग-दोष, वेध-दोष एव भङ्गादि-दोष तथा
च. भवन-शान्ति।

अतएव इसी वैज्ञानिक दृष्टि से हमने भवन-निवेश के इस चतुर्थ पटल मे समराङ्गण के निम्नलिखित अध्यायों का निम्नलिखित रूपसे समार्जन किया है—

परिमार्जित संख्या	अध्याय-शीर्षक	मौलिक संख्या
२४	चतुश्शाल-विधानम्	१९
२५	निम्नोच्चादि-फलम्	२०
२६	द्वासप्तति-त्रिशाल-लक्षणम्	२१
२७	द्विशाल-गृह-लक्षणम्	२२
२८	एक-शाल-लक्षणम्	२३
२९	द्वार-पीठ-भित्ति मानादिकम्	२४
३०	समस्तगृहाणां संख्या-कथनम्	२५
३१	वन-प्रवेश	१६
३२	गृह-द्रव्य प्रमाणम्	२८
३३	चय-विधि	४१
३४	अप्रयोज्य-प्रयोज्यनानि	३४
३५	द्वार-गुण-दोषा	३९
३६.	द्वार-भङ्ग-फलम्	४३
३७	तोरण-भङ्गादि-शान्तिकम्	४६
३८	गृह-दोष-निरूपणम्	४८
३९	शान्ति-कर्म-विधि	४२

लेखक का समराङ्गणीय अध्ययन—

६. यन्त्र एव चित्र,
७. समराङ्गण का अनुवाद प्रथम भाग,
८ समराङ्गण का अनुवाद द्वितीय भाग,
९. समराङ्गण-वास्तु-कोष प्रथम भाग तथा
१०. समराङ्गण-वास्तु-कोष द्वितीय भाग।

यह योजना १० वर्ष पूर्व बनी थी और उसमे प्रथम, चतुर्थ एव पञ्चम ग्रन्थ पूर्णरूप से उत्तरप्रदेश राज्य की सहायता से प्रकाशित हो चुके है। साथ-ही-साथ उत्तरप्रदेश राज्य की सहायता से प्रासाद-निवेश का उपोद्घात अर्थात् हिन्दू-प्रासाद की चतुर्मुखी पृष्ठ, भूमि—वैदिकी, पौराणिकी, लोकधर्मिणी तथा राजाश्रया—और चित्र-लक्षण ये दो पुस्तके भी प्रकाशित हो चुकी हैं। भारतीय स्थापत्य के नाम से एक बृहदाकार ग्रन्थ भी लिखा जा चुका है जो उत्तरप्रदेश राज्य की हिन्दी-समिति प्रकाशित कर रही है।

अवशेष ग्रन्थो के प्रकाशन की नवीनीकरण की योजना से छः ग्रन्थो पर भारत सरकार के शिक्षा-सचिवालय से प्रतिश्रुत अनुदान-साहाय्य से यह प्रकाशन पुनः सचालित किया जा रहा है —

१.	समराङ्गण सूत्रधार	प्रथम भाग	प्रथम खण्ड	**भवन-निवेश**—अध्ययन एव अनुवाद
२.	,,	,,	द्वितीय खण्ड	मूल एव वास्तु-पदावली
३	,,	द्वितीय भाग	प्रथम खण्ड	**प्रासाद-निवेश**—अध्ययन एव अनुवाद
४.	,,	,,	द्वितीय खण्ड	मूल तथा वास्तु-शिल्प-पदावली
५	,,	तृतीय भाग	प्रथम खण्ड	**यन्त्र एव चित्रादि कलाएँ** अध्ययन एव अनुवाद।
६	,,	,,	द्वितीय खण्ड	मूल एवं वास्तु-चित्र-पदावली

यतः अनुदान की राशि बडी स्वल्प थी अतः वास्तु-कोष अब सचिवालय के विचाराधीन है। आशा है, वह किसी अन्य प्रकार से पार लगेगा।

इस भाग का विषय भवन-निवेश है। अतः इस अध्ययन मे भवन-निवेश के सिद्धान्तो, विन्यास-प्रक्रियाओ, रचना-शैलियो एव अन्य तत्सम्बन्धी अङ्गो पर एक उपोद्घात प्रस्तुत करना परमावश्यक है।

भवन-निवेश की प्रथम इकाई अथवा प्रथम अङ्ग वास्तु है। इस अङ्ग के

१. वास्तु-पद-विन्यास—

वास्तु-पद-विन्यास अथवा वास्तु-पुरुष-मण्डल आजकल की भाषा मे भवन का नक्शा अथवा 'साईट प्लेनिङ्ग' के रूप मे समझा जा सकता है। आज कल जो भी बिल्डिङ्ग बनती है उसका नक्शा पास कराना पडता है और नक्शा किसी इञ्जिनियर अथवा आर्किटैक्ट से बनवाना पडता है। इसी प्रकार प्राचीन काल मे भी भवन-निर्माण के पूर्व भवन की योजना अर्थात् 'साईट-प्लान' या 'हाऊस-प्लान' बनवाना अनिवार्य अङ्ग था। भारतीय स्थापत्य की सज्ञा अष्टाङ्ग है। इस अष्टाङ्ग का प्रथम अङ्ग वास्तु-पुरुष-विकल्पन है। वास्तु-पुरुष-विकल्पन अर्थात् वास्तु-पुरुष-मण्डल या वास्तु-पद-विन्यास ये सभी संज्ञाएँ भवन की योजना के रूप मे परिकल्प्य हैं।

भारतीय स्थापत्य का जन्म वैदिक यज्ञ-वेदी से प्राप्त हुआ। यज्ञ मे यज्ञ-पुरुष की कल्पना के द्वारा ही प्राचीन याग की त्रिविधा—द्रव्य, देवता, त्याग अर्थात् किसी देव-विशेष के निमित्त किसी द्रव्य-विशेष का त्याग अर्थात् आहुति इसी त्रिविधा पर भारतीय याग-सस्था का विकास हुआ। पुन. वैदिक यज्ञ-वेदियो विशेषकर चितियो का निर्माण एक विशेष प्रक्रिया एव सिद्धान्त से निष्पन्न होता था। अतएव भूमि-चयन, भूमि-शोधन, इष्टिका-कर्म, इष्टिका-चयन आदि-आदि वैदिक यज्ञ-वेदियो के अनिवार्य अङ्ग थे। उन्ही के आधार पर कालान्तर मे भवन-निर्माण के या किसी भी वास्तु-विनिवेश के ये अनिवार्य अङ्ग प्रकल्पित किये गये। यज्ञ के प्रधान अङ्गो मे वेदिका-निर्माण एव चिति-चयन के साथ-साथ यूप-स्थापन भी एक अनिवार्य अङ्ग था। इन यूपो की स्थापना कालान्तर मे केन्द्रीय स्तम्भ के स्थापन की अग्रजा बनी। भवन-जन्म की कथा मे (देखिये सहदेवाधिकार) शाल-भवन का प्रधान अङ्ग, वृक्ष की शाखाओ एव पत्तियो का छाद्य था, पुन. वृक्ष के तने की ही प्रतिकृति पर केन्द्रीय स्तम्भ की कल्पना की गई।

प्राचीन वास्तु-कला के इन अङ्गो का सम्बन्ध वास्तु-कला की व्यावहारिक प्रक्रिया एवं कलात्मक आचरण की ओर सकेत करता है जिसे हम वास्तु-शास्त्रीय पारिभाषिक अथवा वैज्ञानिक पक्ष मे परामर्श कर सकते है। प्राचीन-वास्तु-कला का आध्यात्मिक एव धार्मिक पक्ष भी बोधगम्य है। ऋग्वेद मे जो मन्त्र वास्त्वारम्भ के लिए प्रयुक्त होता था उसकी परम्परा आज भी अक्षुण्ण है। पुनः ऋग्वेद के नाना देवो मे वास्तोष्पति के भी पूर्ण दर्शन होते हैं। यही वास्तोष्पति आगे चल कर वास्तु-पुरुष मे प्रचलित हुआ। वास्तु-शास्त्रीय

एव जटिल तो है ही परन्तु बडा ही विशद तथा वैज्ञानिक एवं पारिभाषिक भी है। इसकी विस्तृत व्याख्या हमने अपने अंग्रेजी ग्रन्थ Vastu-Sastra Vol I (See Fundamental Canons) मे की है। उसका साराश यह है कि प्राचीन वास्तु-उपदेशक आचार्य वैदिक ऋषि थे। वे मन्त्रद्रष्टा तो थे ही तत्त्वविगन्ता भी थे। अत विना आधुनिक भौतिक-शास्त्रीय यन्त्रो के भी उन्हें सूर्य-रश्मि-सिद्धान्त के पूरे अविकल विवरण ज्ञात थे। ये सभी देव सूर्य-रश्मि-जाल की पारिभापिक सज्ञाएँ हैं जिनका भवन अथवा प्रासाद-निवेश मे दिक्-सामुख्य (Orientation) के अनुकूल प्रतिष्ठित किया गया। उदाहरण के लिए प्रधान दो दिशाओ—प्राची एव प्रतीची के अधीश्वर देव ईश तथा अग्नि है। ईश की व्याख्या यदि आप वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थो एव तत्सम्बन्धी अन्य वाङ्मय मे पढे तो वह वडा ही बोधक प्रतीत होगा। इसी प्रकार अग्नि के रूप तथा उसकी शक्तियाँ, उसकी ज्वालाएँ आदि भी बडी ही विशद हैं। ये सभी सौर-मण्डलीय-वर्ण-पट्ट (Spectrum) के बोधक एव प्रतीक तथा उपलक्षण हैं। अत. वास्तु-पुरुष-मण्डल एक बडा ही वैज्ञानिक शास्त्र है जो दर्शन तथा विज्ञान को एक स्तर पर लाकर पल्लवित करता है—यही भारत की वडी अनुपम विभूति है।

अथ च वास्तु की उत्पत्ति, वास्तु-नाग, वास्तु-छागासुर आदि के जो पौराणिक आख्यान साहित्य मे मिलते हैं उनमे भी यही व्याख्या देखने को मिलेगी। पुनश्च कोई भी कृति विना योजना के सम्पन्न नही होती। वास्तु, पहले ही बताया जा चुका है कि, वस्तु से निकला है। अत. इस सृष्टि के लिए वास्तु उसी प्रकार परमोपादेय है जिस प्रकार सृष्टि—'वास्तु ब्रह्मा ससर्जादौ विश्वमप्यखिल तथा'। विश्व-सृष्टि के प्रथम वास्तु की सर्जना हुई। ब्रह्मा मानसी सृष्टि का कर्ता है परन्तु विश्वकर्मा उस सृष्टि को नियोजन के द्वारा निर्मिति मे अवतरित करता है। अत जगत्-कर्ता ब्रह्मा और जगत् के आवास-योग्य स्थानो, पुरो, पत्तनो, नगरो, ग्रामो, दुर्गों के कर्ता विश्वकर्मा और उसके प्रतिनिधि शिल्पी है। यही वास्तु-प्रतिष्ठा और वास्तु-पुरुष-विकल्पना का मर्म है।

वास्तु-पद-विन्यास पर इस किञ्चित्कर प्रवचन के उपरान्त निवेश्या-निवेश्य पर भी थोडा सा प्रकाश डालना उचित है।

वास्तु-पद-विन्यास मे वास्तु-पुरुष-विकल्पना अनिवार्य रचना है। अत जब पुरुष की कल्पना है तो पुरुषाङ्गो की कल्पना अनायास ही आ जाती है। जिस प्रकार मानव-शरीर के विभिन्न अवयवो मे मूर्धा, शीर्ष, मुख, हृद्, कटि जानु, पाद, सिरा, अनुसिरा, वंश, नाडी आदि-आदि होते है उसी प्रकार वास्तु-

भगवान् भास्कर उदित होते है। प्रात कालीन सूर्य के रश्मि-जाल का उपभोग भारतीय विश्वास मे वडा ही स्वास्थ्यकर माना जाता है। अत. भवन-विन्यास ऐसा होना चाहिए कि प्रात होते ही सूर्य की रश्मियो का उद्दाम उपभोग भवन-सम्मुखीन अलिन्द-प्रकोष्ठ मे अनायास सम्पन्न हो सके। यह व्यावहारिक निरूपण है। जिस प्रकार से हमने वास्तु-पद-विन्यास मे दार्शनिक दृष्टि की ओर थोडा सा सकेत किया था उसी प्रकार यह सिद्धान्त भी दर्शन की आभा से प्रद्योतित है। भारतीय दर्शन मे पृथ्वी की सतह सूर्योदय एव सूर्यास्त से प्रकल्पित की जाती है अर्थात् क्षितिज पर जहाँ सूर्योदय होता है उसे पूर्व कहते है एव क्षितिज पर जहाँ सूर्यास्त होता है उसे प्रतीची कहते है। इसी प्रकार दक्षिण एव वाम पर दक्षिण और उत्तर की प्रकल्पना की जाती है। वैसे तो यह कहा जाता है कि पृथ्वी गोल है परन्तु भारतीय परम्परा मे यह वर्ग है। ऋग्वेद १० ५८ ३ मे इसे चतुर्भृष्टि कहा गया है। इस सम्बन्ध मे अन्य विवरण हमारे वास्तु-शास्त्र—भाग प्रथम पृष्ठ १८०-८५ मे द्रष्टव्य है।

३. मान अथवा हस्त-लक्षण

अब वास्तु-शास्त्र के तीसरे मौलिक सिद्धान्त अर्थात् हस्त-लक्षण पर थोडा-सा विचार करना आवश्यक है। सभ्यता के आदि काल मे मान का काम हस्त और अङ्गुलो से लिया जाता था और कालान्तर मे भी काष्ठ-निर्मित गजो एव फुटो की सज्ञा हस्त ही रही और उनके भागो को अङ्गुल के नाम मे ही पुकारा जाता था। किसी भी वास्तु-विन्यास के लिए नाप की परम उपादेयता है। मान के सम्बन्ध मे तो शास्त्र मे वडा सूक्ष्म एव विशद विचार है। अव्यक्त व्यक्त मे मान के बिना परिणत नही किया जा सकता। निराकार ब्रह्म को साकार ईश्वर मे परिणत करने का श्रेय माया को है। माया ही इस जगत् की मूलशक्ति है। बिना मान के कोई भी धाम सम्पूर्ण नही हो सकता है। मयाचार्य का कथन है—

'मान धाम्नस्तु सम्पूर्णं जगत्सम्पूर्णता भवेत्'

समराङ्गण के लेखक का भी उद्घोष है—

'प्रमाणे स्थापिता देवा. पूजार्हाश्च भवन्ति ते'

हमारी परम्परा मे तो किसी भी कला-कृति की रमणीयता का आधार वास्तव मे शास्त्र-मान ही है। लिखा भी है—

'शास्त्रमानेन यो रम्य. स रम्यो नान्य एव हि'

बात यह है कि वस्तु से वास्तु बनता है। उसी प्रकार जब द्रव्य से कोई

लय-चन्द्रिका मे लिखा है—

'योनिः प्राणा एव धाम्नां यदस्माद्
ग्राह्यस्तत्तद्योग्ययोनिप्रभेदा '

योनि और आय का सम्बन्ध वडा घनिष्ठ है और ये तथाकथित पाशव आय वास्तव मे आठ वास्तु-पुरुष है। हम पूर्व सकेत कर चुके है कि वास्तु-पुरुष-मण्डल तथा प्राची-साधना या शङ्कु-स्थापना दोनो ही भवन के दिक्-सामुख्य की साधना करते हैं। इसी प्रकार से आयादि-निर्णय विशेषतया योनि-निर्णय भी भवन के दिक्-सामुख्य अथवा ओरियेंटेशन का विधायक है।

योनि की अष्टधा का कारण आठ दिशाएँ हैं। **ध्वज**-पूर्व, **धूम**-दक्षिण-पूर्व, सिंह-दक्षिण। इसी प्रकार अन्य योनियो की भी परिगणना की जा सकती है। भवन, विमान अथवा प्रासाद की नाप को हमे आठ से भाग देना चाहिये, जो शेष होता है वही उसकी दिशा का सकेत करता है। यदि शेष एक है तो वह पहली अर्थात् ध्वज-योनि का सकेत करता है, जो पूर्व की आधायिका है। इसी प्रकार यदि शेष की सख्या दो है तो भवन का दिक्-सामुख्य दक्षिण-पूर्व निष्पन्न होगा, क्योकि दो का सकेत दूसरी योनि **धूम** से होगा। वास्तु-विदो का कथन है कि सम-सख्यक योनियाँ शुभप्रद हैं और विषम-सख्यक अशुभप्रद। इस प्रकार **ध्वज, सिंह, वृषभ और गज शुभ हुईं और धूम, श्वा, खर, और ध्वाङ्क्ष** अशुभ।

वास्तु-शास्त्र एक प्रकार से ज्योतिष एव गणित शास्त्र का समन्वित-विज्ञान या उप-शास्त्र (Allied Science) है। अतएव वास्तु-शास्त्रियो ने आयादि की निम्न प्रकार से गणना-परिभाषाएँ बना रखी हैं—

मानसारीय		तन्त्र-समुच्चयीय	
(१)	$\frac{\text{ल} \times \text{८}}{\text{१२}}$ — शेष = आय	(१)	$\frac{\text{प} \times \text{३}}{\text{८}}$ — शेष = योनि
(२)	$\frac{\text{चौ} \times \text{९}}{\text{१०}}$ — ,, = व्यय	(२)	$\frac{\text{प} \times \text{३}}{\text{१४}}$ — शेष = व्यय अथवा $\frac{\text{प} \times \text{९}}{\text{१०}}$ — ,, = ,,
(३)	$\frac{\text{ल} \times \text{८}}{\text{२७}}$ — ,, = ऋक्षा	(३)	$\frac{\text{प} \times \text{८}}{\text{१२}}$ — ,, = आय

गति आदि का ज्ञान कर लेते हैं। उसी प्रकार यदि भवन के बाह्यरूप को देख कर हमे पता चल जाय कि यह देव-भवन है या राज-भवन है, यह विष्णवायतन है अथवा शिवायतन है, सूर्यायतन या चण्डिकायतन है या जैन-मन्दिर है, साधारण विद्यालय है या विश्वविद्यालय है, पुस्तक-शाला है कि नाट्य-शाला है, आयुध-शाला है या पशुशाला है, जन-भवन है या विशिष्ट-भवन है—यदि हमे यह ज्ञान हो जाय तो यही भवन का छन्द-निर्णय है। आजकल हम देखते है कि एक विश्वविद्यालय मे तथा एक फैक्ट्री मे कोई अन्तर नही दिखाई देता। इसका कारण यह है कि आधुनिक वास्तु-कला मे छन्द का कोई महत्व नही। वास्तु-छन्द एक प्रकार से व्याकरण का "इत्थभूतलक्षणे" सूत्र की व्याख्या है। यथा जटाओ को देखकर हम तापस की अभिज्ञा करते है, उसी प्रकार हमे भवन को देखकर उस की अभिज्ञा होनी चाहिए कि वह शिवालय है या विद्यालय है। वास्तु-शास्त्र मे पताकादि ६ छन्द माने गये हैं—**मेरु, खण्डमेरु, पताका, सूची, उद्दिष्ट** तथा **नष्ट**। इनमे अन्तिम दो वास्तव मे छन्द नही वल्कि छन्दाभास हैं। वे एक प्रकार से गुरु-लघु-प्रस्तार के विधायक हैं। इसका हम आगे भवन-योजना मे विचार करेगे। यहाँ पर पहले के चार छन्दो पर थोडा-सा प्रकाश डालना परमावश्यक है। मेरु छन्द पृथिवी के रूप को ग्रहण करता है और मेरु पर्वत का सादृश्य ग्रहण करता है तथा शराव की आकृति मे वनता है। यथा नाम यह एक पर्वत-प्रतिकृति है। इस प्रकार उत्तुङ्ग विमान, प्रासाद या भवन जैसे जावा का वोरोवुदर (वहु-वुध) साक्षात् मेरु-छन्द है। खण्ड-मेरु यथा नाम अर्ध-पर्वत-प्रतिकृति है। यह एक प्रकार का अर्धवृत्त है और इस छन्द-प्रकार मे वहुसख्यक द्राविड विमानो की रचना हुई है। पताका छन्द यथा नाम लम्बी रचना है। फतेहपुर सीकरी का अन्त.कक्ष, अर्थात् दिवाने-खास के अन्त कक्ष की रचना इसी छन्द मे हुई। एक दण्ड मे पताका वांध कर उसे खोल दिया जाय तो वह छत्राकार धारण करती है। उसी प्रकार यह रचना विश्व-विश्रुत है। सूची-छन्द यथानाम सूची के समान निर्मित भवन होता है, जैसे राजस्थान के कीर्ति-स्तम्भ तथा ध्वज-स्तम्भ इसी छन्द के उदाहरण परिकल्प्य हैं।

वास्तु-शास्त्र का अष्टाङ्ग—

समराङ्गण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्र मे स्थापत्य को चतुर्धा तथा अष्टाङ्ग (दे० सौ० अ० ४४-४५ परिमा० अ० ८-६) कहा गया है। चतुर्धा स्थापत्य से स्थपति (वास्तु-कोविद्) की योग्यता से तात्पर्य है—शास्त्र, कर्म, प्रज्ञा तथा शील (देखिए हमारा भारतीय-वास्तु-शास्त्र, वास्तु-विद्या एव पुर-निवेश—स्थपति

(द्र स्थापत्य अ० ६ पृ० ६६-७४) तथा अष्टाङ्ग स्थापत्य से तात्पर्य—

१. वास्तु-पुरुष-विकल्पन,
२ पुर-निवेश—द्वार-गोपुर-रथ्या – मार्ग – प्राकार–अट्टालक–प्रतोली–स्थान-विभाग (जन-भवन, देवायतन, पुर-जन-विहार आदि-आदि)—निवेश,
३. प्रासाद (मन्दिर-निर्माण),
४ ध्वजोच्छ्रिति—इन्द्रध्वजोत्थान,
५ राजवेश्म तथा राजवेश्म से सम्बन्धित नाना अन्य राजोचित भवन—सभा, अश्व-शाला, गज-शाला आदि-आदि,
६ जन-भवन (जाति एव वर्ण के अनुरूप वस्तियाँ एव भवन—Folk-planning),
७ यज्ञ-वेदी, यजमान-शाला एव कोटिहोम-विधि, तथा
८ राज-शिविर-विनिवेश एव दुर्ग-रचना ।

यह शास्त्रीय अष्टाङ्ग है परन्तु आधुनिक नयी दृष्टि से हमने भारतीय-वास्तु-शास्त्र के व्यापक क्षेत्र के अनुरूप निम्न अष्टाङ्ग उद्भावित किया है—

१ वास्तु-विद्या का उद्गम, उसके प्रवर्तक आचार्य एव परम्पराओ के साथ-साथ प्रतिनिधि ग्रन्थ एव वाङ्मय,
२. वास्तु-शास्त्र के मौलिक सिद्धान्त,
३ पुर-निवेशोपक्रम एव पुर-निवेश के नानावयवीय प्रक्रियाएँ एव प्रक्रम,
४ भवन-निवेश,
५ राज-निवेश,
६ प्रासाद-निवेश,
७ प्रतिमा-निवेश तथा
८ चित्र-निवेश ।

भवन-निवेश की प्रधान विषय-तालिका—

भवन-निवेश की विषय-तालिका निम्न प्रकार से प्रविभाजित की जा सकती है—

(क) प्रथम कृत्य जैसे—भूमि-चयन, भूमि-परीक्षा, शोधन, कर्षण एव वास्तु-पद-विन्यास, मानादि, प्राची-साधन, आयादि-निर्णय आदि-आदि,
(ख) भवन-प्रकार अथवा भवन-विधा,
(ग) भवन-जन्म तथा भवन की प्रतिकृति—शालाएँ,
(घ) भवन-नियोजन अर्थात् 'भवन-प्लान' और 'बिल्डिग बाईलाज़';
(ङ) भवन-द्रव्य एव भवन-चय-विधि,
(च) भवन-अङ्ग,
(छ) भवन-भूषा अर्थात् योज्यायोज्य-व्यवस्था तथा भवन-सज्जा;
(ज) भवन-दोष—वेधादि, भङ्गादि ।

इनमें भवन के प्राथमिक कृत्यो पर हमने पीछे वास्तु-शास्त्र के मूलाधारो के स्तम्भ मे चर्चा कर ली है। अब भवन-प्रकार पर भी थोडा-सा सकेत करना अभीष्ट है। हम यह प्रतिपादित कर चुके हैं कि भारतीय भवन-विधा अनेक-विधा है। भवन मुख्य रूप से त्रि-विधा मे परिकल्पित किया जा सकता है—जन-भवन, राज-भवन, देव-भवन। राज-भवन मे ही नानावर्गीय सरकारी इमारते 'पब्लिक-बिल्डिगस्' तथा अन्य व्यावहारिक एव उपकारी इमारते आती है। ये सब देव-भवन और राज-भवन मे प्रतिपाद्य हैं। यहाँ जन-भवन से साधारण-जनोचित भवन-विन्यास अर्थात् 'सिविल या सैक्युलर आर्किटैक्चर' से मन्तव्य है। समराङ्गण-वास्तु-शास्त्र इस रचना का सर्वप्रख्यात, सर्वश्रेष्ठ, सर्वाधिकृत एव वरिष्ठ ग्रन्थरत्न है। पुराणो मे विशेषकर मार्कण्डेय-पुराण मे शाल-भवन का वर्णन है। परन्तु वहाँ एकमात्र कथा-प्रतिपादन है। शास्त्र मे उसका पारिभाषिक एव वैज्ञानिक पूर्ण विवेचन है। इस स्तम्भ पर हम थोडा-सा पहले भी सकेत कर चुके हैं। अब हमे यहाँ शाल-भवन की योजना पर विशेष ध्यान देना है।

शाल-भवन-नियोजन—

शाल-भवन के मुख्य चार प्रकार हैं—एक-शाल, द्वि-शाल, त्रि-शाल तथा चतुश्शाल। इन्ही चारो के द्वारा आगे के छे प्रकार जैसे—पञ्च-शाल, षट्-शाल, सप्त-शाल, अष्ट-शाल, नव-शाल तथा दश-शाल भवनो की सयोजना

कक्ष्याएँ थी। मुगल महलो मे यद्यपि आपातत दो ही (अन्तर् एव बाह्य) कक्ष्याएँ प्रतीत होती है परन्तु वास्तव मे उनकी अपनी-अपनी अन्य और उप-कक्ष्याएँ थी, अन्यथा इतनी सज-धज, शान-शौकत कैसे विनिविष्ट की जा सकती थी। अस्तु, ये सब विवरण राज-निवेश मे प्रतिपाद्य है। यहाँ पर इनकी अवतारणा का मुख्य प्रयोजन यह है कि पाठको का ध्यान इस ओर आकृष्ट करें कि इन्ही विशिष्ट शाल-भवनो से ही राज-भवन का विकास हुआ। जहाँ तक राज-वेश्म की रचना-विच्छित्तियो, अलकृतियो जैसे नाना भूमियाँ, वितानाकृति, शिखरालङ्करण, लुमादि-चित्रण एव मण्डपादि-सन्निवेश तथा सभा-भवनादि इन सब का प्रश्न है, वे सब प्रासाद-स्थापत्य के अग्रज है कि अनुगामी यह ऐतिहासिक दृष्टि से ही निर्धारित किया जा सकता है जो **प्रासाद-निवेश** मे विवेच्य होगा।

शाल-भवन के इस प्रधान अवयव के अनन्तर अब अन्य प्रधान अङ्गो पर भी सकेत अभीष्ट है। शाल-भवन के तीन ही प्रधान अङ्ग है—आङ्गन, शाला तथा अलिन्द। अलिन्द से तात्पर्य बरामदे से है। प्रत्येक शाल-भवन मे यह त्र्यङ्ग अनिवार्य हैं। उपाङ्गो की सख्या सख्यातीत है। ग्रन्थ के **नगरादि-संज्ञा, भवन-द्रव्य-प्रमाण, द्वार-गुण-दोष, द्वार-भङ्गादि-फल, शान्तिक-विधि, तोरण-भङ्गादि-शान्तिक** एव **गृहदोष-निरूपण** नामक इन अध्यायो मे भवन के अङ्गो एव उपाङ्गो की लम्बी सूची मिलेगी जो इस देश मे जन-वास्तु—'सिविल आर्किटेक्चर'—के जन्म एव महाविकास पर बडा भारी प्रमाण प्रस्तुत करती है। इन अध्यायो के परिनिष्ठित अध्ययन के द्वारा भारतीय जन-भवन-निवेश के विशद विज्ञान एव पारिभाषिकत्व का पता लगाया जा सकता है।

शाल-भवन-विनियोजना का मुख्याधार **गुरु-लघु-प्रस्तार** है। गुरु-लघु-प्रस्तार मे गुरु शाला का बोधक है तथा लघु शालेतर अलिन्द का बोधक है। यह प्रस्तार दो या अनेक सख्यायो मे प्रकल्प्य है। एकाध प्रस्तारो की अवतारणा यहाँ अभीष्ट होगी। निम्न तालिकाओ पर दृष्टिपात करे—

चार गुरुओं का प्रस्तार—

१	ऽ ऽ ऽ ऽ	६	। ऽ । ऽ
२	। ऽ ऽ ऽ	७	ऽ । । ऽ
३.	ऽ । ऽ ऽ	८	। । । ऽ
४.	। । ऽ ऽ	९	ऽ ऽ ऽ ।
५	ऽ ऽ । ऽ	१०	। ऽ ऽ ।

११	ऽ । ऽ ।	१४	। ऽ । ।
१२	। । ऽ ।	१५.	ऽ । । ।
१३	ऽ ऽ । ।	१६	। । । ।

परिणाम—

अलिन्द स०	भवन स०	प्रस्तार मे सख्याङ्क
०	१	१
१	४	२, ३, ५, ९
२	६	४, ६, ७, १०, ११, १३
३	४	८, १२, १४, १५
४	१	१६

सार—चार गुरुओ के प्रस्तार मे षोडश वेश्म निष्पन्न होते हैं जिनमे कहाँ अलिन्द और कहाँ शाला—यह ऊपर की तालिका से विभाव्य है। इस पारिभाषिक एव गणितमय प्रस्तार पर श्री मानकद ने 'अपराजित-पृच्छा' की भूमिका मे सविस्तर उल्लेख किया है। पाठक यह विस्तार वही पडे।

शाल-भवन-सज्ञा—अस्तु, शाल-भवन के अध्यायो मे जिन-जिन भेदो एव उपभेदो का परिगणन है उनकी एक बहुत बडी सख्या है जिसको पढकर ये भेद पर्याय-मात्र प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ द्विशाल-भवनों के भेदो को पढिये (दे०—अनुवाद)—इनका क्या मर्म है? शुभ एव अशुभ उपादान ही वर्ज्यावर्ज्य, योज्यायोज्य, ग्राह्याग्राह्य व्यवस्था के परिचालक हैं। अत अशुभो के लिये अशुभ सज्ञाएँ एव शुभो के लिये शुभ सज्ञाएँ विहित हुईं।

'बिल्डिग वाईलाज़'—

एक-शालादि दश-शालान्त शाल-भवनो का नियोजन भी एक प्रमुख विषय है जिस पर हम पहले कुछ सकेत कर आये हैं, वह भी यहाँ पर अवतारणीय है। शाल-भवनो के दस वर्ग हैं; उनमे प्रथम चार मौलिक हैं और इन्ही के पारस्परिक सयोजन से अन्य पञ्च-शालादि दश-शालान्त भवन-विन्यास होते हैं। निम्न तालिका द्रष्टव्य है—

पञ्च-शाल—१. द्विशाल तथा त्रिशाल सयोग।
२. चतुश्शाल और एकशाल सयोग।

षट्-शाल—१. द्विशाल, एकशाल तथा त्रिशाल संयोग।
२. त्रिशाल और त्रिशाल सयोग।
३. द्विशाल तथा चतुश्शाल सयोग।

सप्त-शाल—१. दो त्रिशाल तथा एकशाल सयोग।
२. एक त्रिशाल तथा चतुश्शाल सयोग।
३. एकशाल, द्विशाल तथा चतुश्शाल सयोग।

अष्ट-शाल—१. अन्तःचतुश्शाल तथा बाह्य चतुश्शाल सयोग।
२. दो त्रिशाल तथा एक द्विशाल सयोग।

नव-शाल— १. दो सम-चतुश्शाल तथा एक एक-शाल सयोग।
२. दो विषम चतुश्शाल तथा एक एक-शाल सयोग।
३. त्रिशाल, त्रिशाल, त्रिशाल सयोग।

दश-शाल—१. दो सम-चतुश्शाल तथा एक द्विशाल सयोग।
२. तीन समत्रिशाल तथा एक एक-शाल सयोग।
३. दो सम-त्रिशाल और एक चतुश्शाल सयोग।

भवनाङ्ग—विन्यास की दृष्टि से हम भवनाङ्गो पर ऊपर कुछ विचार कर ही चुके हैं जैसे शाला तथा अलिन्दादि। अब क्रम-प्राप्त भवन-निर्माण मे जो भारतीय-कला के विशेष उपादेय हैं उन पर विचार करना परमावश्यक है। भवन-रचना मे पीठ, द्वार, स्तम्भ, कुड्य एव छाद्य विशेष विचारणीय है। भारतीय स्थापत्य के मुकुटमणि द्वार एव स्तम्भ हैं। द्वार की स्थापना एक विशेष पद पर विहित है। द्वाराङ्गो मे उदुम्बर अर्थात् 'लिंटल' तथा शाखाएँ अर्थात् 'डोर-फ्रेम्स' और कपाट (द्वार-पक्ष, कपाट-पुट, पक्ष, विधान, वरण, द्वार-सवरण) के साथ-साथ अर्गला, कलिका, कुञ्ची आदि पारिभाषिक अङ्ग एव उपाङ्ग हैं। शाखाओ को देवी, नन्दिनी, सुन्दरी आदि मनोरम सज्ञाएँ दी गई हैं। विच्छित्ति-विशेष के कारण शाखाओ के अपने अलग प्रकार परिकल्पित किये गये हैं। जैसे रूप-शाखा, खल्व-शाखा आदि-आदि। रूप-शाखा से तात्पर्य किसी

देव-प्रतिमा अथवा मानव-प्रतिमा की चित्रण-विच्छित्ति से है। लता-शाखा किसी लता-विशेष की विच्छित्ति-विशेष का रूप है। आजकल तीन शाखाओं से काम चल जाता है, परन्तु प्राचीन स्थापत्य में द्वार में पाँच शाखाएँ होती थीं। निम्न रेखा-चित्र से यह उद्भाव्य है—
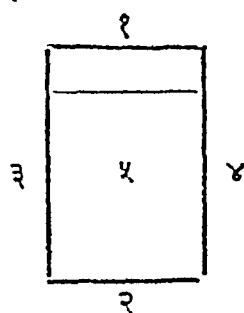
द्वार की कितनी ऊँचाई होनी चाहिए, कितना विस्तार होना चाहिए तथा उसके कितने पारिभाषिक भेद हैं, जैसे उत्सङ्ग, हीन-बाहु, पूर्ण-बाहु आदि तथा द्वारों के गुण क्या हैं और दोष क्या हैं? इसी प्रकार द्वारों पर कौन-सी भूषा-व्यवस्था होनी चाहिए? द्वार-वेध तथा द्वार-भङ्ग के साथ-साथ द्वाराङ्गों के वेध एवं भङ्ग से क्या-क्या अशुभ आपतित होते हैं ये सब विवरण तत्तद् अध्यायों में ग्रन्थ-कलेवर में द्रष्टव्य हैं (दे०—अध्याय शीर्षक 'गृह-द्रव्य-प्रमाण', 'द्वार-गुण-दोष', 'द्वार-भङ्ग-फल', 'गृह-दोष-निरूपण' तथा 'अप्रयोज्य-प्रयोज्य')। इसी प्रकार भवन-स्तम्भ, तल-न्यास एवं भूततिलकादि छाद्य आदि पर पूर्ण विवरण, ग्रन्थ-कलेवर में द्रष्टव्य है (अध्याय-शीर्षक—'नगरादि-संज्ञा' तथा 'गृह-द्रव्य-प्रमाण' आदि-आदि)।

भवन-द्रव्य—

अब क्रम-प्राप्त भवन-द्रव्य पर विचार आवश्यक है। द्रव्य शब्द समराङ्गण-सूत्रधार वास्तु-शास्त्र में पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ भवनाङ्ग है जैसे द्वार एवं स्तम्भ आदि-आदि। परन्तु यहाँ पर द्रव्य का अर्थ व्यापक दृष्टि से भवन के निर्माण में नाना द्रव्यों से है। प्रासाद अथवा विमान की रचना में दारु, मृत्तिका, इष्टिका, पाषाण, सुधा, लोह, रजत, ताम्र, कांस्य, पित्तल, सुवर्ण एवं रत्न आदि सभी की परिगणना है। परन्तु साधारण जन-निवासों के लिए जब पाषाण वर्ज्य है (दे० शिलास्तम्भ शिलाकुड्य नरावासे न योजयेत्) तब रजत आदि बहुमूल्य द्रव्यों की योजना का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः यहाँ पर द्रव्य से दारु का ही अभिप्राय है जो जन-भवन का प्रमुख निर्माण-द्रव्य है।

भवन-निर्माण मे अथवा प्राचीन काल की आर्य-परम्परा मे दार्वाहरण एक अत्यन्त प्राचीन सस्था है। सूत्र-ग्रन्थो में इस सस्था पर बडे प्रकृष्ट प्रवचन मिलते हैं जैसे—वन से किस लग्न मे, किस दिशा से तथा किन-किन वृक्षों से निर्माणार्थ दारु-आहरण करना विहित है। इसी प्राचीन सस्था को समराङ्गण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्र मे वन-प्रवेश के नाम से सकीर्तित किया गया है। तदनुरूप **वन-प्रवेश** अध्याय मे वन से भवन-निर्माण-निमित्त दारु-आहरण की बडी ही वैज्ञानिक एव पारिभाषिक पद्धति प्रतिपादित की गई है। वन-प्रस्थान के लिए कौन-सा नक्षत्र, राशि आदि विहित हैं और किस लग्न मे वृक्षो को काटना-चीरना, फाडना और वन मे प्रवेश करना उचित है—इस सम्बन्ध मे पूर्ण प्रतिपादन तत्रैव द्रष्टव्य है। पुन॰ वन मे भवन के निर्माण के लिए किस अवस्था का वृक्ष और कौन-से वृक्ष प्रशस्त माने गये हैं—इन सब की परीक्षा पर विचार किया गया है। किन-किन स्थानो पर उगे हुए वृक्षो को वर्ज्य बताया गया है और बाल एव वृद्ध वृक्षो को भी क्यो वर्ज्य बताया गया है, शाल-वृक्ष की क्या अवस्था मानी गई है और किस अवस्था का वह वृक्ष गृह-कर्म मे प्रयोज्य है—ये सब विवरण प्राचीन काल के पारिभाषिक विज्ञान पर ओजस्वी प्रकाश डालते हैं। इसी प्रकार वृक्ष-प्रमाण-विज्ञान (जो द्रुम-छाया पर आधारित है और द्रुम-च्छाया सत्त्व-च्छाया पर आधारित है), वृक्ष-नक्षत्र-विज्ञान, वृक्ष-च्छेदन से पूर्व किस प्रकार की शान्ति के लिए स्वस्ति-वाचन एव बलिदान आदि की व्यवस्था है—इन सब पर बडे सुन्दर विवरण प्राप्त होते है। वृक्ष-च्छेदन-विधि के विवरणो को पढ कर यद्यपि आपातत कपोल-कल्पनाएँ सी प्रतीत होती है परन्तु यदि इस विषय का पुष्ट अध्ययन किया जाय तो वह बडा ही पारिभाषिक एव वैज्ञानिक सिद्ध होगा। निम्न प्रवचन विशेषरूप से पठनीय है (दे०—'वन-प्रदेश' ३२ से ३७½ तक अनुवाद)। अन्त मे वृक्ष-मण्डल पर बडे ही सार-गर्भित एव वैज्ञानिक विवरण प्राप्त होते हैं। मण्डल का वृक्ष की 'रिङ्ग' से तात्पर्य है जिनके नाना रङ्ग होते हैं जैसे मञ्जिष्ठाभ, कपिलाभ, पीताभ इत्यादि। किस रङ्ग मे कौन-सा जन्तु गर्भित है—ये सब पूर्ण विवरण इस अध्याय मे उपलब्ध होगे जो वही पर पठनीय है। विस्तार-भय से यहाँ विशेष चर्चा अनावश्यक है।

भवन-रचना—चय-विधि—

चयविधि से तात्पर्य चुनाई से है। पूर्व सूरियो ने (दे०—डा० आचार्य के ग्रन्थ) चय का अर्थ पीठ के रूप मे गलती से लिया है। चय अथवा चेय

भवनवासी भवनपति की आस्था के अनुकूल और उसके सामाजिक एव वैयक्तिक आचार-विचार के अनुकूल जो भूषाएँ प्रकल्प्य हैं उनके **अप्रयोज्य-प्रयोज्य** अध्याय मे विवरण दिये गये है। भूषाओ के पूर्व भूष्यो की परिगणना की गई है। राज-हर्म्य, वणि-वेश्म, सभा, देव-कुल, शयन, आसन, पात्र, भाजन एवं आभरण आदि सभी भूष्य हैं, परन्तु यहाँ पर भूष्य से सम्बन्ध भवन से है। अत. आवास-भवन मे कौन-कौन सी प्रतिमाएँ और प्रकृति के चित्रण, क्रीडाएँ अथवा जलादि-स्थलादि, वन, पुष्प, पादप, पशु, पक्षी आदि-आदि के चित्रो से इन भवनो को विभूषित करना चाहिए अथवा नही करना चाहिए—यह सब तत्रैव द्रष्टव्य है।

भवन-भूषा मे सर्व-प्रधान भूषा जो परम्परा, विश्वास एव आस्था के अनुकूल है वह है कुल-देवता। परन्तु वह एक हाथ के प्रमाण से अधिक नही बनानी चाहिए। दूसरी कोटि मे द्वारालङ्करण आते है जिनमे दो प्रतिहार वेत्र-दण्ड लिए हुए, खड्ग एव कोष आदि परिच्छेद को धारण किये हुए, रूपयौवन-सम्पन्न, विचित्राम्बर-विभूषित तो होने ही चाहिएँ, साथ-साथ बौनी, टेढी, धात्री विदूषको और कञ्चुकियो से अनुगत चित्र्य हैं। द्वार के दोनो ओर सुन्दरी प्रति-हारियो का चित्रण भी अभीष्ट है। कुल-देवता के साथ-साथ भवन की भूषा मे एक विशेष स्थान देवी अष्ट-मङ्गला का है। उसी प्रकार गजो के द्वारा स्नापित गज-लक्ष्मी भी परमोपादेय है। अन्य उपकरणो मे सवत्सा धेनु, पत्रलता, खेलते हुए कुमार, हँस, कारण्ड, चक्रादि पक्षि-विशेष, एव सुन्दरी ललनाएँ, सुन्दर उद्यान-भूमियाँ, वसन्तादि-ऋतु, दीर्घिकाएं, पान-भूमियाँ, पञ्जरस्थ शुक, चकोर एव सारिकाएँ भवन की भित्तियो पर प्रशस्त चित्रण के योग्य मानी गई हैं।

बहुत से चित्र जो इस अध्याय मे वर्णित किये गये है वे आवास-भवनो मे प्रयोज्य नही है। यह विवरण यहाँ पर अभीष्ट नही है। अत यह वर्णन ग्रन्थ-कलेवर में द्रष्टव्य है।

भवन-सज्जा—भवन-सज्जा का अर्थ आजकल की भाषा मे भवन के फर्नीचर से है। भवन के फर्नीचर मे प्राचीन काल मे प्रधान रूप मे शय्या, आसन, पादुका, पञ्जर, नीड, दोला, द्रोणी, दीप-दण्ड, व्यजन, दर्पण, मञ्जूषा तथा तुला विशेष रूप से व्यवहार्य थे। राज-भवनो मे सिंहासन तथा विनोदादि यन्त्र जैसे धारा-गृह, दोला-यन्त्र, सेवक-यन्त्र, आदि-आदि भी भवन-फर्नीचर के अङ्ग थे। इस अध्ययन मे चित्र एव यन्त्रादि शयनासनादि शिल्प नामक ग्रन्थ मे हम यन्त्र पर विशेष विस्तार से विचार करेंगे। यहाँ पर साधारण जनावासों

वर्णित किया गया है। इन बहिर्भूषणो मे दीप-दण्ड, व्यजन, दर्पण, त्रिविध मञ्जूषा—काष्ठ, पर्ण एवं वस्त्र, दोला (जिसको आजकल की भाषा मे पालकी कह सकते हैं), तुला (तराजू), पञ्जर तथा नीड जो मृगनाभि, विडाल, शुक, चाटक, चकोर, मराल, पारावत, नीलकण्ठ, कुञ्जरीय, खञ्जरीट, कुक्कुट, कुलाल, नकुल, तित्तिर, गोधा एव व्याघ्र आदि के लिए प्रयोग किये जाते थे। शिल्प-रत्न एव विश्वकर्मा वास्तुशास्त्र मे पोतिका, तैल-द्रोणी, आदि व्यवहार्य उपकरणो पर भी सुन्दर प्रकाश मिलते हैं जिनका यहाँ विस्तारभय से इङ्गित-मात्र ही अभीष्ट है।

भवन-दोष—

भारतीय भवन-निर्माण के स्थापत्य-दोष पर बडे ही विशद, विस्तृत, व्यापक, वैज्ञानिक एव पारिभाषिक विवरण मिलते है। भवन-दोषो की नाना कोटियाँ हैं। वहुत से दोष तो भवनाङ्गो की सुचारु, सुव्यवस्थित एव परि-निष्ठित योजना के अभाव मे आपतित होते हैं। द्वार-गुण-दोष नामक अध्याय मे यह सामग्री पठनीय है। भारतीय स्थापत्य मे बहुत से ऐसे भी सिद्धान्त विकसित हो गये है जिनका सम्वन्ध हिन्दुओ के रहस्यमय (मिस्टिक) अथवा धार्मिक विचारो से है। इनका सम्बन्ध भवनाङ्गो के भङ्ग और वेध से है। द्वार-वेध, स्तम्भ-वेध, तुला-वेध, कोण-वेध, कपाल-वेध आदि नाना वेध-वर्ग हैं और द्वार-गुण-दोष तथा द्वार-भङ्गफल-शान्तिक-विधि तथा गृह-दोष आदि अध्यायो मे भङ्गो और वेधो की कितनी विपुल सामग्री है, वह वही पर पठनीय है।

भवनाङ्गो के इन वेधाश्रित एव भङ्गाश्रित नाना दोषो के अतिरिक्त द्रव्य-सम्वन्धी, चेय-सम्वन्धी तथा शालादि, अलिन्दादि निवेश-सम्वन्धी आदि-आदि अनेक और भी दोष हैं जिनको पारिभाषिक सज्ञाएँ भी हैं जैसे—१. गृह-सघट्ट (ऐसा भवन जिसमे एक दीवार मे दो शालाएँ हो), २ वलित, चलित, भ्रान्त, तथा विसूत्र आदि (दे० समराङ्गण-सूत्रधार ४८ ११-१३), ३. खादक, विकोकिल, सच्छत्र, सकक्ष, सपरिक्रम, सावश्याय, हीनबाहु, प्रत्यक्षाय, भिन्नदेह, छिन्न-वास्तुक, संक्षिप्त, मृदङ्गाकृति, मृदुमध्य आदि। ये पारिभाषिक दोष हैं। इसी प्रकार भवन-निर्माण के सामान्य दोषो की निम्नलिखित तालिका भी द्रष्टव्य है—

१—उच्चच्छाद्य
२—छिद्र-गर्भ
३—भ्रमित
४—वमित-मुख

५–हीन-मध्य
६–नष्ट-सूत्र
७–शल्य-विद्ध
८–शिरो-गुरु
९–अष्टालिन्द
१०–विगमन्य
११–तुलानल
१२–अन्योन्य-द्रव्य-विद्ध
१३–कुपद-प्रविभाजित
१४–हीन-भित्तिक
१५–हीन-उत्तमाङ्ग
१६–विनष्ट-सूत्र
१७–स्तम्भ-भित्तिक
१८–भिन्न-शाल
१९–त्यक्त-कण्ठ
२०–निष्कन्द
२१–मान-वर्जित
२२–विकृत

अस्तु, समराङ्गणीय भवन-निवेश का यह अध्ययन, आशा है, आधुनिक पाठकों के मन मे भारतीय वास्तु-शास्त्र के प्रति आस्था अवश्यमेव उत्पन्न करेगा तथा यदि उनका प्रोत्साहन मिला तो सरकार भी अपनी Architectural Policy मे भारत के इस वैज्ञानिक एव पारिभापिक शास्त्र का राष्ट्रीय नियोजन मे उपयोग करेगी

इति दिक् ।

द्वितीय खण्ड

अनुवाद

प्रथम पटल
औपोद्घातिक

द्वितीय पटल
सामान्य (पारिभाषिक)

तृतीय पटल
पुर-निवेश

चतुर्थ पटल
भवन-निवेश

प्रथम पटल

(औपोद्घातिक)

१. वास्तु-शास्त्र-प्रतिष्ठा

वास्तु-त्रयी—

वास्तु-आधार—पृथ्वी

वास्तु-सरक्षक—पृथु

वास्तु-आचार्य—विश्वकर्मा

२. वास्तु-कला-प्रवर्तन

आद्यस्थपति—विश्वकर्मा एव उसके मानस-सुतो के द्वारा स्थपति-कोटियो (Architect-guilds) एव शिल्पि-वृन्दो का आविर्भाव

३. वास्तु-शास्त्र-विषय

वास्तु-शास्त्र मे वास्तुकला (Architecture), प्रतिमा-कला (Sculpture) तथा चित्रकला (Painting) तीनो का विज्ञान-क्षेत्र

४ वास्तु एवं सृष्टि

आयोजन (Planning) तथा सृष्टि (Creation)

५. भारतीय वास्तु-विज्ञान का विशाल दृष्टिकोण

समस्त पृथ्वी वास्तु का विषय—अतएव भूगोल का अनिवार्य ज्ञान अभिप्रेत।

६. भूतल पर प्रथम भवन की जन्मकथा

७. वर्णाश्रम-धर्म तथा वास्तु-विनियोग

सूत्राष्टकम्

सूत्राष्टकं दृष्टिनृहस्तमौञ्जं कार्पासकं स्यादवलम्बसञ्ज्ञम्।
काष्ठं च सृष्टयाख्यमतो विलेख्यमित्यष्टसूत्राणि वदन्ति तज्ज्ञाः॥

महासमा (पृथ्वी) का आगमन

पूरे कारणो (समवायि, असमवायि तथा निमित्त) के विना भी जिन्होने इस सम्पूर्ण विश्व का अविकल सृजन किया है, वालचन्द्र-कलिका से अङ्कित जूट-कोटि वाले वे[1] भुवनत्रय-सूत्रधार भगवान् (भूतनाथ शकर) तुम लोगो की रक्षा करे ॥१॥

सुख, धन, ऋद्धि (समृद्धि), सन्तान आदि सभी नरो को प्रिय हैं। इनकी सिद्धि के लिए शुभोपादेयता अनिवार्य है। जो शुभोपादान नही हैं, वे इनका विघात करने वाले होते है अर्थात् अशुभो से सुखादि सिद्ध नही होते हैं। अत· उन सभी उपादेयो की आवश्यकता है, जो शुभ-लक्षरण हैं ॥२-३॥

देश, पुर, निवास, सभा, वेश्म (भवन) तथा आसन आदि जो ऐसे ही उपादेय हैं, वे सभी श्रेयस्कर माने गये हैं। वास्तु-शास्त्र के विना इनका लक्षण (योग्यता) विनिर्णीत नही हो सकता, अत लोकानुग्रह की भावना से इस शास्त्र (वास्तु-शास्त्र) का व्याख्यान किया जाता है ॥४-५॥

पुरानी वात है। महाराज पृथु के भय से विह्वल चकित-नयना पृथ्वी जगत् के जनक पद्मासन (ब्रह्मा) के पास दौड़ आई। प्रणति से विनत निखिल देवो के ईश्वर पितामह को प्रणाम कर गद्गद वाणी से भूत-धात्री पृथ्वी ने निवेदन किया—भगवन्! महापराक्रमी एव तेजस्वी इस पृथु के द्वारा सताई हुई मैं आपकी शरण मे आई हूँ, कृपया मेरी रक्षा करे। पृथ्वी अपना दुखडा

---

१. शिल्प-ग्रन्थ की प्रस्तावना मे लोकत्रय-शिल्पी ईश्वर के सृष्टि-रचना-वैचित्र्य के उपोद्घात के द्वारा इस ग्रन्थ मे ग्रन्थकार ने मगल किया है। आस्तिक लेखकों के लिए सनातन काल से ग्रन्थारम्भ में मगल एक अनिवार्य परम्परा रही है।

लोक में किसी कार्य (रचना) के लिए त्रिविध कारण अथवा साधन समवायि, असमवायि तथा निमित्त—यथा—घटकार्य मे मृत्तिका (समवायि) चक्र (असमवायि) तथा कुलाल (निमित्त)—की कारणता की अपेक्षा होती है। यह कारण-कलाप कार्यमात्र के लिए साधारण है, परन्तु जगद्रूप-कार्य का ईश्वर ही उपादान तथा निमित्त है। यही रचना-वैचित्र्य है।

रो ही रही थी कि महाराज पृथु भी आ पहुँचे। पृथु ने अपनी घबराहट छोड पहले ब्रह्मा को प्रणाम किया, पुन अपनी स्निग्ध-घोष एव गम्भीर वाणी से हसवाहन ब्रह्मा के यान-हसो को मेघ-गर्जन की शका मे डालते हुए अपना निवेदन इस प्रकार प्रस्तुत किया—हे जगन्नाथ! आपके द्वारा ही तो मैं इस जगत् का अधिपति बनाया गया हूँ। और सभी भूतो (पृथ्वी आदि भूत एव स्थावर, जगम आदि) को आपने मेरे सरक्षण मे सौंपा है। उन (भूतो) मे, हे विश्वेश! बडी मुश्किल से जब यह वश मे आई, तो मैं इसके व्यस्त (ऊबड-खाबड) पाषाण-समूहो (पर्वतो आदि) को ज्यो-ही अपने धनुष के द्वारा समीकरण मे प्रयत्नशील हुआ, त्योही यह गौ-रूप धारण कर भाग खड़ी हुई। इसके दोहन (खनिज आदि पदार्थ-अन्वेषण) की इच्छा से मैं बहुत काल से इसका अनुगमन कर रहा हूँ। जहाँ कही यह जाती है, वहाँ मुझे ही देखती है। जब इसको कही त्राण (शरण) नही दिखाई दिया, तो बिना दुहाए यह आपके पास आ खडी हुई है ॥६-१४॥

मुझे (आपके नियोग से) इस भू पर वर्णोचित एव आश्रमोचित नाना-विध स्थान-विभागो का निवेश एव निर्माण करना है और यह दुरवगाह्य एव दुर्गम नाना पर्वत एव पर्वत-कुलो से व्याप्त है, अत इस पर स्थान-विभाग कैसे सम्पन्न होगा, इस शका से मेरा मन आकुल हो रहा है ॥१५-१६½॥

महाराज पृथु से इस प्रकार विज्ञप्त भगवान् पद्म-भू ब्रह्मा ने भूमि को अभय-दान देकर महाराज को समझाते हुए उनसे कहा—हे राजन्! यह पृथ्वी तुम्हारे द्वारा विधिपूर्वक पालन किये जाने पर ही उपाय-निष्पन्न धान्यादि शस्यो द्वारा तुम्हारी भोग्या बनेगी और तुम्हारा जो स्थानादि-विनिवेशन कार्य अभीष्ट है, उसे त्रिदशाचार्य सर्व-सिद्धि-प्रवर्त्तक, प्रभास वसु के पुत्र, बृहस्पति के भानजे, सम्पूर्ण विश्व मे महाप्राज्ञ ये विश्वकर्मा महाराज सम्पादन करेंगे ॥१६½-२०½॥

हे राजन्! उन्हो ने अर्थात् विश्वकर्मा ने ही देवराज इन्द्र की अमरावती का निर्माण किया था। राजाओ की अन्य मनोरम नगरियो की भी इन्होंने ही रचना की है। तुम्हारे द्वारा पर्वतो एव वृक्षो से आकीर्ण इस साक्षात् मूर्ति (पृथ्वी) को क्षेत्रीकृत (समीकृत) देखकर विश्वकर्मा जी अवश्य ही पुर, ग्राम तथा नगरों के सुन्दर सुन्दर निवेशों का सम्पादन करेंगे। इसलिए हे पुत्र! (पृथु!) लोक-हित की कामना लेकर तुम यहाँ से जाओ और अपना कार्य करो ॥२०½-२२॥

हे पृथ्वी! तू भी भय छोड और पृथु की प्रियकरी बन और विश्वकर्मा जी महाराज! आपको जब जब महाराज स्मरण करें, तो उनकी हित-कामना से आप सब यह समस्त नियोग (भूतल पर ग्रामादि-विन्यास) करेंगे ॥२३-२४½॥

यह कह कर प्रजापति अपने स्थान को पधारे और हर्ष से पृथु और पृथ्वी भी अपने-अपने स्थान पर आ गये। विश्वकर्मा भी अपने स्थान हिमगिरि पर, जहाँ पर चारो ओर सिद्ध लोग अपनी रमणियो के साथ सदा खेलते रहते हैं और विहार करते हैं, वहाँ लौट आये ॥२४½-२५½॥

इस अध्याय में ग्रन्थकार ने पौराणिक शैली मे न केवल वास्तु-शास्त्र का विषय, उसके प्रतिष्ठापक आचार्य एवं प्रवर्तक शिष्यो (शिल्पिकोटि-वृन्दो) पर ही प्रवचन किया है, वरन् वास्तु-शास्त्र की मूलमयी त्रयी—पृथ्वी, पृथु और विश्वकर्मा की कैसी सुन्दर अवतारणा की है

मानसार, मयमत आदि वास्तु-शास्त्रीय या शिल्प-शास्त्रीय ग्रन्थो मे वास्तु-शास्त्र के विषय (Scope) में धरा, हर्म्य, यान तथा पर्यङ्क का एक शृङ्खलाबद्ध संकीर्तन है। यहाँ समराङ्गण की दिशा से इस शास्त्र का विषय इनसे और अधिक बढ जाता है—अर्थात् देश, पुर, निवास, सभा, वेश्म तथा आसन।

विश्वकर्मा का पुत्र-संवाद

सिद्धो और देवो की वधुओ से भुक्त मणिमय मनोरम गुहा-गृहो वाले तथा चन्द्रमा की ज्योत्स्ना से मडित हिम-शिखर पर विस्तीर्ण आसन पर बैठे हुए सर्वज्ञ विश्वकर्मा के पास (उनके द्वारा) संस्मृत चारो मानस-सुत उपस्थित हुए। जय, विजय, सिद्धार्थ तथा अपराजित (विश्वकर्मा के चारो मानस-सुतो) ने आकर विश्वकर्मा को बद्धाञ्जलि शिर से प्रणाम किया ॥१-३॥

विश्वकर्मा ने अपने पुत्रो को सबोधित कर कहा—बच्चो ! यह तुम्हे विदित ही है कि पुराकाल मे ब्रह्मा ने इस विश्व की सृष्टि के पूर्व वास्तु की सृष्टि की[1]। तो धर्म, कर्म और श्रेष्ठता की प्राप्ति के लिए एव लोक-रक्षण के लिए व्यवस्था करके लोकपालो की कल्पना की (अर्थात् बिना सुनियोजित समाज के देश मे शुभ कार्य नही हो सकते, और समाज एव देश का सुनियोजन राजा अथवा राज्य के संरक्षण के बिना नही हो सकता)। मैं भी विश्वनाथ कमल-भू ब्रह्मा जी के द्वारा लोको के सन्निवासार्थ आदिष्ट किया गया हूँ। मैंने अपनी बुद्धि से अभी तक (तीनो लोको मे) सुरो, असुरो एव नागो के मनोहर नगर, उद्यान तथा सभा-स्थान आदि की स्थापना की। अब मैं भूतल पर जाकर वेन के पुत्र महाराज पृथु की प्रिय-चिकीर्षा से, हे पुत्रो ! वहाँ पर नगर, ग्राम, खेट आदि (बस्तियो) को अलग-अलग बनाऊँगा ॥४-८॥

---

१ ब्रह्मा ने पहले वास्तु-ब्रह्मा की रचना की—यह अर्थ असंगत है। वास्तु का अर्थ यहाँ पर प्लानिंग से है। 'वस्तु' से 'वास्तु' बना है। अनियोजित वस्तु जब सुनियोजित वस्तु मे परिणत हो जाती है तो वह वास्तु अर्थात् कला के नाम से पुकारा जाता है।

ब्रह्मा ने केवल मानसी सृष्टि की। ब्रह्मा इससे अधिक कर ही क्या सकते थे। इच्छामात्र से सकल जगत् प्रादुर्भूत हो गया। परन्तु जगत् का वास्तविक रूप—स्थानादि-विनिवेशन तो एक कारीगर की चीज है—वह विश्वकर्मा को सौंपा गया। विश्व एक मूर्ताकार है तथा वास्तु मानसी सृष्टि। यही "वास्तु ब्रह्मा ससर्जादौ विश्वमप्यखिलं तथा" का मर्म है।

विश्वस्रष्टा ब्रह्मा के द्वारा आदिष्ट एव अर्पित मेरे इस सम्पूर्ण कार्य मे तुम लोग भी सहायता करोगे, इसीलिये आप लोगो को यहाँ मैंने स्मरण किया है। जिस प्रकार से भुवन-भास्कर कमलिनी-वल्लभ सूर्य की, अन्धकारापनयन मे मरीचियाँ सहायता करती हैं, उसी प्रकार तुम लोग भी मेरी सहायता करो ॥९-१०॥

महाराज पृथु के निवासार्थ, चित्र-विचित्र नगरो, ग्रामो और खेटो से अति मनोहर, उनकी राजधानी का निर्माण मैं स्वय करूँगा। और आप लोगो के लिए यह मेरा आदेश है कि एक-एक करके चारो दिशाओ मे जाकर उन-उन आवश्यक जन-निवासो के अलग-अलग निवेश प्रस्तुत करो। साथ ही साथ मार्गों, समुद्रो, पर्वतो और सरिताओ के वीच-वीच अन्तरावकाश पर राजाओ के भय-शमनार्थ दुर्गों की स्थापना करो। इसके अतिरिक्त वर्णोचित, प्रकृत्युचित से तत्तदुचित सस्थान एव चिह्नपुरःसर प्रतिग्राम, प्रतिनगर तथा प्रतिपत्तन मे वर्णाश्रम-सस्थान-विभाग[1] (अर्थात् ब्राह्मणादि वर्णों के अनुकूल घर) सम्पादन करो ॥११-१४॥

इस प्रकार से उन अपने पुत्रो से सारवती एव प्रकट वाणी से अपना नियोग वताकर और अपने सुयोग्य पुत्रो पर इस गौरवशाली महाभार के समर्पण से सन्तुष्ट-हृदय होकर प्रभास-पुत्र नीतिज्ञ (विश्वकर्मा जी) चुपचाप चले गये ॥१५॥

---

१. प्राचीन काल मे ग्रामों एव नगरों की वसति-योजना में वर्णाश्रम के अतिरिक्त व्यवसाय का भी ध्यान रखा जाता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन वर्णों तथा यतियों आदि आश्रमियो के स्थान-विभाग की उचित व्यवस्था के नियम तो थे ही, साथ-ही-साथ फल वेचनेवाले, घी वेचनेवाले, स्वर्णकार, सुराकार, रथकार, राज-कर्मचारी, स्थपति आदि के घरो की कहाँ व्यवस्था हो—यह भी एक सुनियोजित व्यवस्था प्रायः सभी शिल्प-ग्रन्थो मे प्रतिपादित है। आगे 'पुर-निवेश' मे हम इसके सविस्तर वर्णन पढेंगे।

प्रश्न—वास्तु-शास्त्र-विषय-वर्ग

इनके बाद उन चारो मानस-सुतो मे जय नामक पुत्र अपने पिता विश्व-कर्मा के उस वाक्य (अर्थात् स्थानादि-निवेशन-नियोग) को सुनकर हाथ जोड कर स्निग्ध एव गम्भीर वाणी से बोला—हे प्रभो ! आप जैसे ज्ञान-सागर यदि हम जैसे अज्ञानी लोगो को सहायता के लिए वरण कर रहे हैं, तो यह हमारे लिए वास्तव मे सौभाग्य की बात है, और हमारी बडी इज्जत की बात है। इस-लिए इस समय हम लोगो के और प्रजाओ के हित मे हे प्रभो ! आप ऐसे अप्र-मेय प्रभावशाली सब कुछ बता सकते हो (अर्थात् हमारे प्रश्नो का उत्तर दे सकते हो, अथवा इस विषय मे हमारी जिज्ञासा का शमन कर सकते हो) ॥१-३॥

पुरानी बात है, जब समस्त जगत् एकार्णवी-अवस्था (अर्थात् सर्वत्र जल ही जल था) मे विद्यमान था और पूर्ण प्रलय उपस्थित था, तब (पृथ्व्यादि) महाभूत, अमरपुरी और नक्षत्र-चक्र का उद्भव कैसे हुआ ? ॥४॥

इस पृथ्वी का आकार क्या है ? आधार क्या है ? प्रमाण क्या बताते हैं ? इसका विस्तार कितना है ? इसकी परिधि कितनी और इसका क्षेत्रफल कितना है ? कितनी ऊँचाई, चौडाई और लम्बाई से इस पृथ्वी पर कौन-कौन कुल-पर्वत हैं ? कितने वर्ष (देश) विख्यात हैं ? कितने द्वीप, नदियाँ और सागर हैं ? ॥५-६॥

भू के ऊपर (अर्थात् अन्तरिक्ष मे) सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, ऋक्ष आदि की अपनी-अपनी अलग-अलग गतियाँ कैसी हैं ? और इनका पारस्परिक अन्तर कितना है ? अन्तरिक्ष मे इस ज्योतिश्चक्र का आधार क्या है ? और कौन इस चक्र को घुमाता है ? इस विश्व मे महाभूत किस प्रकार से नीचे और ऊपर अपनी स्थिति को धारण किये हुए हैं ? ॥७-८॥

युगधर्म की व्यवस्थाओ के द्वारा आदि मे कौन-कौन लोकवृत्तियाँ अथवा लोकाचार थे, तदनन्तर कौन पहिला राजा हुआ ? कौन पहिला ग्रह था और कौन पहिला वर्ण था ? ॥९॥

पृथ्वी पर कितने देश, कितने प्रकार की भूमियाँ अलग-अलग निरूपित

हुईं ? और कहाँ किस प्रकार से जनपदाश्रय (जनपद-सम्बन्धी) सन्निवेश किया गया ? ॥१०॥

शब्द, स्पर्श, गन्ध, वर्ण और रस आदि के अभिव्यक्ति-चिह्नो से कौन-कौन-सी पुरोचित भूमियाँ प्रशस्त अथवा अप्रशस्त बताई गईं ? ॥११॥

किस विधान से राजधानी नगर का निवेश करना चाहिये और इसके सुन्दर निवेश से क्या फल, एव उसके दुष्ट-निवेश से क्या कुपरिणाम होते हैं ? ॥१२॥

कितने प्रकार के दुर्ग होते हैं ? तथा दुर्ग-कर्म का क्रम क्या है ? राजधानी नगर का कौनसा सस्थान अनिन्दित है और कौनसा निन्दित ? पुनः कहाँ पर (अर्थात् राजधानी के निवेश मे) प्रमाणपुर.सर कौनसी अनुक्रम-विधि बताई गई है और कैसा उसका प्राकार, गोपुर, अट्टालक, परिखा तथा वप्र आदि का कर्म विहित है ? और किस प्रकार से वहाँ प्रधान नगर-द्वार, प्रतोली और अट्टालक आदि के द्वारा एव रथ्या, चत्वर एव मार्गों के द्वारा नगर का विभाजन विहित है ? भूमि के प्रमाण और उसके संस्थान तथा क्षेत्रीय महा-मार्गों (दिक्पथ) के द्वारा उनके सीमा-विभाग से नगर, ग्राम और खेट के निवेश पृथक्-पृथक् कैसे बताये गये हैं ? ॥१३-१६॥

पुर के अभ्यन्तर पहले किन-किन द्रव्यो और उनके भिन्न-भिन्न अवयव-क्रमो से किस स्थान पर कैसे इन्द्र-ध्वज का निवेश करना चाहिये और निविष्ट उस इन्द्र-ध्वज का प्रतिवर्ष फिर किस प्रकार से राजाओ और प्रजाओ के हित के लिए महोत्सव करना चाहिए ? ॥१७-१८॥

(नगर-निवेश मे) किन-किन गृहो मे और किन-किन दिशाओ मे तथा भीतर और बाहर के भिन्न-भिन्न भागो पर कौन-कौन से देवो की स्थापना करनी चाहिए ? ॥१९॥

उन देवो के यान (वाहन), परिवार, वर्ण, रूप, विभूषण, वस्त्र, वय, वेष, आयुध एवं ध्वज आदि किन-किन उपलक्षण-चिह्नो से देव-प्रतिमाओ का शिल्प-शास्त्र मे विधान है ? ॥२०॥

देवो, राजाओ और द्विजातियो के—प्रमाण, मिति (मान) सस्थान, संख्यान, उच्छ्रय आदि उपलक्षणो से—अपने-अपने प्रासाद कैसे होने चाहिएँ ? नगर मे प्राकार और परिखा से गुप्त गोपुर कहाँ होना चाहिए ? और कहाँ पर क्रीडा-गृह तथा जल-वेश्म[1] होने चाहिएँ, और कहाँ पर महानस (रसोई) होनी चाहिए ? ॥२१-२२॥

---

१. क्रीडा-गृह की विशेषता यह है कि वहाँ पर युग्म-मिथुन अवश्य हों।

राजवेश्म की निवेश-व्यवस्था में—मान, उन्मान, क्रिया, आयाम, द्रव्य, आकृति की रचना में किस-किस भाग में और कहाँ-कहाँ पर कोष्ठागार, आयुध-स्थान, भाण्डागार, व्यायाम-गृह, नृत्त-गृह, संगीत-गृह, स्नान-गृह, धारा-गृह, शय्या-गृह, आपान-गृह, प्रेक्षा वेश्म, दर्पण-गृह, क्रीडा-वेश्म, दोला-गृह, अरिष्ट-गृह, अन्त पुर, अशोक-वनिकाएँ, लता-मण्डप-वेश्म, विटक[1], भ्रम, निर्यूह[2], कक्षा-(प्रकोष्ठ), नदमन, (चतु शाल) आदि, वापियाँ, दारु-गिरि, चित्र-विचित्र पुष्प-वीथियाँ, अनेक-विध उद्यान आदि-आदि ये स्थान कहाँ-कहाँ विनिवेश्य हैं ? ॥२३-२७॥

विशाल राज-हर्म्य के भिन्न-भिन्न भाग पर पुरोहित, सेनापति, ब्राह्मण, दैवज्ञ तथा मन्त्रियों के भवन होने चाहिएँ ? ॥२८॥

नगर की किन-किन दिशाओं में तथा उसके किन-किन भागों और पद-भागों पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, कृषिजीवी, तुलाजीवी, शिल्पजीवी, कला-जीवी, पण्योपजीवी तथा व्याधादिहिंसाश्रित पुरुषों के भवन निवेश्य हैं ? कितने प्रकार के वेश्मों में निवेश विहित हैं ? और उनमें प्रवेशों और जल-क्रमों के द्वारा कौन निवेश प्रशस्त माने गये हैं ? प्रथम स्थान कितने प्रकार का और कौन-कौन प्रथम द्रव्य और उन सब का हेतु क्या है और कैसा अनुक्रम ? द्रव्यों के साथ कौन-कौन द्रव्य परस्पर योग रखते हैं ? और कौन-कौन में योग नहीं रखते हैं ? किन किन में कौन मनुष्य वहाँ पर वसें ? ॥२९-३३॥

इष्टका-कर्म (ईंटों के बनाने की कारीगरी) कैसी विहित है ? और कितने प्रकार की भूमि बताई गई है (जिनसे इष्टकाएँ निर्मेय हैं) और उनका अग्नि, जल और पवन से किस प्रकार परिकर्म-क्रम (शोधन, परीक्षण आदि) विहित है ? ॥३४॥

चातुर्वर्ण्य (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) भवन-निर्माण तथा इन्द्र-ध्वज की रचना एवं राजाओं के महल, देवमन्दिरों एवं देव-प्रतिमाओं के निर्माण में कौनसे प्रशस्त और कौनसे गर्हित वृक्ष बताये गये हैं ? उनके छेदन-जन्य स्राव से उत्पन्न तथा उनके शब्द तथा दिक्पात (अर्थात् किस दिशा में गिरे) तथा उनके गर्भ (मध्य) में रहनेवाले जीव-जन्तु आदि शकुनों अथवा निमित्तों से कर्ता (स्थपति) तथा कारक (भवनपति यजमान) के शुभ अशुभ कैसे माने जाते हैं ? शास्त्रवेदों ने उन परीक्षित वृक्षों का प्रमाण कैसे माना जाता है, उनको वन से लाकर पहिले उनकी स्थापना कैसे होती है ? और किन स्थान

---

१. २ ये भवनाङ्ग एवं भवन-भूषा में व्याख्यात हैं। वास्तु-कोष में विशेष द्रष्टव्य हैं।

पर कहाँ पर विहित है ? ।।३५-३७।।

सामान्य रूप से अखिल वर्णों एव जातियो के अनुरूप कौन-कौनसी लक्षण-पुरस्सर भूमियाँ तथा उनकी कौन-कौनसी जातियाँ सकीर्तित है ? ।।३८।।

शल्योद्धार-विधि (भूमि-शोधन) कैसी होती है ? भूमि-कर्म कैसा होता है ? दिग्रह (दिशा-ज्ञान), सूत्रण तथा अधिवासन कैसा होता है ? मूल-पाद अर्थात् केन्द्रीय स्तम्भ का प्रमाण क्या है ? शिलान्यास की विधि कैसी है ? और शाला तथा अलिन्द आदि विभाजनो से भवन का विभाग किस प्रकार से किया जाता है ? दीवालो के मान क्या है ? पीठो की ऊँचाइयाँ क्या हैं ? और किस प्रकार से वर्णानुरूप (ब्राह्मणो, क्षत्रियो, वैश्यो एवं शूद्रो के पृथक्-पृथक्) विकल्प हैं (अर्थात् घटाव और बढाव किये जाते हैं) ? द्वार के स्तम्भो और आसनो (पट्टिकाओ) के साथ घर के सभी स्तम्भो मे कैसे सभी प्रमाण बताये गये हैं ? इसी प्रकार कठ-विनिर्गमो के साथ नागवीथी[1] और उपधानो[2] के प्रमाण कैसे बताये गए हैं ? अथच जयन्ती[3], सग्रह[4] तथा तुला[5] के कार्यों के और वास्तु के और फलको के कैसे-कैसे प्रमाण परिकीर्तित हैं ? अपने मान से सब वर्णों के घरो के तलो की ऊँचाई कैसी होती है ? और गवाक्ष, कपोताली, वेदिका तथा जालक[6] की क्रियाएँ कितनी होती हैं और कौन-कौन-सी हैं ? ।।३९-४४।।

स्थूणा (खूंटा), निसृष्टिका, उत्सूका, मृगाली तथा उपतुला एव शिरो-वशो (प्राणिसहित) के कौन-कौन प्रमाण प्रकीर्तित किये गये है ? ।।४५।।

छाद्योदय (पाटने के ढग) कितने है ? और गोल पाटन का क्रम क्या है ? तिकोनी खडवृत्त लुपाओ (मेहराब) की क्रियाएँ कैसी होती हैं ? और इन मेहराबो की सीमा, अलिन्द और शिखर का आधार क्या है ? इसी प्रकार प्रासाद-शिखरो की कितनी विकल्पनाएँ है ? इसी प्रकार प्रासाद, भवन आदि मे अन्य जो ज्ञातव्य है उनके द्रव्य, काष्ठ और कला सम्वन्धी कैसे प्रमाण विहित हैं ? ।।४६-४८।।

उत्तम, मध्यम और अधम चतुःशाल भवनो मे शाला और अलिन्द के क्या प्रमाण हैं ? तथा मूषाओ (मूषाकार झरोखो) के द्वारा काष्ठ-कल्पना कैसी होती है ? ।।४९।।

१, २, ३, ४, ५. ये सब स्तम्भाङ्ग एवं स्तम्भ-चित्रण की पारिभाषिक संज्ञाएँ हैं—दे० वास्तु-कोष।

६. जालक गवाक्ष (झरोखा या खिड़की) का एक विशेष भूष्य-प्रकार।

इसी प्रकार एकशाल, द्विशाल, त्रिशाल तथा चतुःशाल और इनके संयोग से पञ्चशालादि दशशालान्त किस प्रकार से और कितने भवन-भेद कल्पित होते हैं ॥५०॥

पदों के षोडश (१६ पद-वास्तु), चतुःषष्टि (६४ पद-वास्तु), एकाशीति (८१ पद-वास्तु) तथा शत (१०० पद-वास्तु) के कैसे सविभाग होते हैं ? और किस प्रकार से इन पदों पर वास्तु-देवों की स्थिति बताई गई है ? ॥५१॥

प्रथम नौ-पद-वास्तु, तथा अन्तिम सहस्र-पद-वास्तु, किस प्रकार से बताया गया है ? और किन किन अंग प्रत्यंग भागों पर कहाँ कहाँ पर वास्तु-देव इन वास्तु-पदों पर व्यवस्थित बताये गये हैं ? अथच वास्तु-पुरुष के वक्ष, शिर, चक्षु, कुक्षि, हृदय, मूर्धा एवं मर्मों पर किन-किन द्रव्यों के सन्निवेश से किसकी कैसी पीड़ा बताई गई है ? ॥५२-५४½॥

वास्तु के आरम्भ, गृह-प्रवेश तथा यात्राओं में एवं स्थापनाओं में दूत, स्वप्न आदि निमित्तों के द्वारा किस प्रकार से शुभ और अशुभ का ज्ञान होता है ? ॥५४½-५५½॥

राज-हर्म्य आदि में दारु-क्रियाओं (लकडी की कारीगरी), चित्रों और लेप्य-क्रियाओं के साथ-साथ योज्यायोज्य-व्यवस्था (अर्थात् कौन कौन से चित्र योज्य हैं और कौन-कौन से अयोज्य हैं) कैसी विहित है ? ॥५५½-५६½॥

हस्त का लक्षण क्या है और मान की संज्ञाएँ कितनी होती हैं ? हव्य में अग्नि का चिह्न क्या है और निर्युक्त-लक्षण क्या है ? अथच वर्णानुक्रम से बलिकर्म कैसा विहित है ? और किस विधि से भवन में प्रवेश करना चाहिए ? इसी प्रकार पतित, स्फुटित, जीर्ण, प्लुष्ट (जले हुए), वज्र तथा अशनि से क्षत एवं निमग्न, भग्न, निभिन्न तथा प्रशीर्ण भवनों एवं अन्य भेदों में क्या फल बताया गया है ? और क्या प्रायश्चित्त की विधि बताई गई है ? इसी प्रकार लकड़ी में मधु के लगने से और वल्मीक से खोखली हो जाने पर क्या फल है और प्रायश्चित्त का कैसा विधान है ? ५६½—६०½॥

हे प्रभु ! इस प्रकार के अनेकविध भवन-सम्बन्धी विधान तथा भवनेतर सम्भार हम लोगों पर अपनी महाकरुणा से आर्द्रित-चित्त-वृत्ति आप क्रमशः समस्त प्रमेय का व्याख्यान करें। यह हम लोगों की प्रार्थना है ॥६१॥

महदादिसर्ग (सृष्टि-वर्णन)

अपने पुत्र जय के इन वचनो को सुनकर विश्वकर्मा महाराज गरजते हुए मेघ की ध्वनि के सदृश गम्भीर वाणी से बोले—शाबाश बेटे! तुमने अपनी अति विशुद्ध प्रज्ञा से जो ये प्रश्न पूछे हैं वे वास्तव मे वास्तु-विद्यारूपी कमलाकर के भास्कर सदृश हैं अर्थात् जिस प्रकार सूर्य के उदय होने से कमल खिल जाते हैं उसी प्रकार वास्तु-शास्त्र का विषय तुम्हारे प्रश्नो से अपने आप खिल गया है। इसलिए तुम इन प्रश्नो के समूहो को अपने हृदय मे रखकर मुझसे इनका उत्तर सुनो जो पितामह ब्रह्मा ने हमको बताया है ॥१-३॥

यह विश्व पहले **'युगान्ताग्निप्लुष्टावस्था'** मे था अर्थात् भूतल पर महा ऊष्मा थी। आधुनिक भू-गर्भ शास्त्री भी यही कहते हैं कि 'Earth was a burning ball' पुन. सवर्तक आदि मेघो के द्वारा घोर वृष्टि किये जाने पर यह भूतल **एकार्णवी-अवस्था** मे (अर्थात् जलमयी सृष्टि मे—देखिये मनु० 'अप एव ससर्जादौ') परिणत हो गया अर्थात् शनै. शनैः पृथ्वी बुझी (Earth cooled down)।

पुन· समस्त विश्व जब तमसाच्छन्न था तो शेष-शय्या पर समस्त जगत् को अपने उदरगत करके भगवान् विष्णु सलिल मे सो गये—(**क्षीराब्धिशयन**-यह सृष्टि का तीसरा उपक्रम है जिसको **गर्भावस्था** कह सकते है)। अब विष्णु की नाभि से कमल उत्पन्न हुआ और इस कमल से सर्वज्ञानाश्रय श्रीमान् चतुरानन सुरेश्वर (ब्रह्मा) का जन्म हुआ (यह सृष्टि का चौथा उपक्रम हुआ जब प्राणि-सृष्टि प्रारम्भ हुई) ॥४-६॥

उस महाप्रभु ब्रह्मा ने जब कदाचित् प्रजा-सृष्टि के प्रति अपना ध्यान दिया, तो इस विश्व के कारणरूप सर्वप्रथम 'महान्' की सृष्टि की। महत् से पुनः तीन प्रकार के अहंकार की सृष्टि हुई, जिसके सात्विक विकार से मन, राजस से इन्द्रिया और तामस से तन्मात्राएँ उत्पन्न हुई। पुनः उन तन्मात्राओ से अपने-अपने गुणो से युक्त व्योमाकाशादिधरान्त क्रमशः पाँच भूतो का आविर्भाव हुआ। अब इनका अधरोत्तर भाव (कौन नीचे कौन ऊपर) ठीक तरह से बताया जाता है। पहिले पृथ्वी उसके नीचे जल आदि और जल से नीचे अग्नि

और उसके नीचे वायु और वायु के नीचे अवकाश देनेवाला आकाश। यह आकाश जिसमे भूतादि स्थित हैं, वह महत् से परिवारित हैं और महत् व्यक्त मे प्रवेश करता है पुन व्यक्त अव्यक्त मे प्रवेश करता है। इस प्रकार से यह 'व्यक्त' ही ग्राह्य और ग्राहक भाव से भूतो का उत्पादक कहा गया है। वास्तव मे आधार और आधार्य भाव दोनो यथार्थ हैं क्योकि इन्ही मे स्थिति और लय निहित है ॥७-१३½॥

इस प्रकार से इन सगुण महाभूतो की सृष्टि करके तदनन्तर महाप्रभु ब्रह्मा ने भौतिक सर्ग के प्रति अपना पूरा ध्यान दिया। और सुरो, असुरो, गन्धर्वो, यक्षो, राक्षसो, पन्नगो, नागो, मुनियो और अप्सराओ को 'मन' से उत्पन्न किया। पुन इन महाप्रभु ने अपनी दोनो आँखो से गगन मे भ्रमण करने-योग्य सूर्य एव चन्द्रमा को उत्पन्न किया। इसके गात्रो से नक्षत्र-चक्र उत्पन्न हुआ। पुन पाँचो इन्द्रियो से ताराग्रह-पचक की सृष्टि की गई। इन ग्रहो का 'ग्रहत्व' इन्द्रिय-ग्रहण मे बताया गया है। पुन सुरेन्द्र के चाप-चिह्नो से चिह्नित, विद्युन्मण्डल से शोभित और भयकर अशनि-धारी मेघो की उत्पत्ति 'केशो' से हुई। उनकी इच्छामात्र से सम्पूर्ण विश्व को आपूरित करता हुआ तीनो लोको को पवित्र करने वाले तिरछे चलने वाले प्रचण्ड समीरण का आविर्भाव हुआ। तदनन्तर इस प्रचण्ड समीरण से उडाया हुआ और ऊपर सूर्य की किरणो से तपाया हुआ और वायु से सुखाया हुआ यह जल (विश्व की एकार्णवी अवस्था का जल) घनता को प्राप्त हो गया। उसके ऊपर और समुद्र के नीचे कुण्डलित-शरीर भगवान् अनन्त शेषनाग, विष्णु की शय्या बनकर इस अखिल पृथ्वी को धारण करते हैं। जिन-जिन प्रदेशो मे सूर्य की किरणो से जल नही तपा और न पवनो से सूखा, वहाँ-वहाँ वह जल सागर के रूप मे परिणत हो गया। प्रचण्ड समीरणो के द्वारा विक्षिप्त महाम्भोधि-वीचिसघात (बडी-बडी जलतरगो के समूह) जहाँ-जहाँ स्थिरता को प्राप्त हुए वहाँ-वहाँ वे पर्वतो मे परिणत हो गये। इन पर्वतों के द्वारा यह पृथ्वी चर्म के समान निश्चलता के लिए वितत हो गई। जहाँ पर पर्वत थे, उन उन स्थानों पर मानों कीलों के समान, पर्वतो से यह पृथ्वी आचित हो गई। पर्वतो के निष्यदो (झरनो) से वृद्धिगत भिन्न-भिन्न प्रदेशो को भिन्न-भिन्न भागो में बाँटने वाली नदियाँ उत्पन्न हुई। पुन. सागर की कान्ता के समान निम्नानुसारिणी ये नदियाँ मेदिनी के अन्त से जलधि-पर्यन्त सब ओर बहने लगी ॥१३½-२४॥

जहाँ-जहाँ पानी था, वहाँ-वहाँ चित्ररूपी द्वीप बन गये। इस प्रकार से नदी, समुद्र और द्वीपो वाली यह पृथ्वी भूतो को धारण करती हुई सब पर्वतो के

द्वारा विभक्त होकर सम्पूर्ण रूप से व्यक्त हुई ॥२६-२७½॥

पुन: जगत्कर्ता ब्रह्मा ने दुष्कृत-कर्मा मनुजो के अपने-अपने कर्मफल के भोगने के लिए पृथ्वी के नीचे रौरव आदि नरको का स्थान बनाया ॥२७½-२८½॥

अथ च उस महाप्रभु ब्रह्मा ने जरायुज, अडज, उद्भिज्ज, स्वेदज इन चार विभागो से इस चराचर भूत-ग्राम की चार प्रकार से सृष्टि की। इनमे जरायुज दो प्रकार के हैं—मनुष्य तथा पशु। पुन. इनके सात ग्राम्य तथा सात आरण्य भेद बताये गये हैं। सात ग्रामवासी है—मनुष्य, गौ, अश्व, छाग, मेष, वेगसर तथा खर। और अरण्य-गोचर जीव हैं—सिंह, गज, उष्ट्र, महिष, शरभ, गवय तथा कपि ॥२८½-३२½॥

इन ग्राम्यो मे धर्माधर्मविवेकित्व-गुण के कारण पुरुष सर्वश्रेष्ठ है। अथ च अरण्यचारियो मे अपने शौर्य तथा बल आदि से सिंह सर्वश्रेष्ठ है। ॥३२½-३३½॥

अंडज चार प्रकार के हैं—सुपर्ण, भुजग, कीट और पिपीलिकाएँ।

स्वेदज—क्लेद (पसीना) तथा केश से उत्पन्न कृमियूकादि जन्तु।

उद्भिज्ज—पाँच प्रकार के हैं, जो स्थावर हैं—वृक्ष, वल्ली, गुल्म, वश और तृण-जातियाँ। इन उद्भिज्जो के तीन विशेष गुण हैं—छन्नान्तःकरणत्व (अर्थात् इनका अन्तःकरण सवेदना-शक्ति से तिरोहित रहता है), स्वस्थान-त्यागिता (अर्थात् जहाँ पर उत्पन्न होते हैं वही खडे रहते हैं) तथा छिन्न-प्ररोहिता (अर्थात् काटने पर फिर उग आते हैं) ॥३३½-३७½॥

चतुर्विशति-पर्विका यह भूत-सज्ञा की गायत्री है। इस पुण्य-गायत्री को जो जानता है वह स्वर्ग का भागी होता है ॥३७½-३८½॥

भुवन, भू, जल, अग्नि, आकाश जिसमे प्रमुख हैं, ऐसे इस भव (ससार) की व्याख्या मैंने तुमको बताई। अब, हे पुत्र ! पृथ्वी के परिमाण आदि पर जो मैं प्रवचन दे रहा हूँ, उसको सुनो ॥३८½-३९½॥

भुवन-कोश

(भूगोल-वर्णन)

अब इसके बाद, हे पुत्र ! सम्पूर्ण इस पृथ्वी के विष्कम्भ, परिधि, बाहुल्य का क्रम वर्णन करता हूँ ॥१॥

इनका (भूमि का) विष्कम्भ दस करोड उन्नीस लाख योजन बताया गया है। इसकी परिधि बत्तीस करोड साठ लाख अस्सी हजार (योजन) मानी जाती है, अर्थात् विष्कम्भ से ३$\frac{1}{7}$ गुनी परिधि होती है। दो लाख बीस हजार योजन इसका बाहुल्य (क्षेत्रफल) माना गया है। चारो जल आदि (जल, अग्नि, वायु आदि) का भूतादि (आकाश) तथा महत्—इन सब के उत्तरोत्तर पृथिवी से सौ गुना—अर्थात् पृथिवी से जल सौ गुना, जल से अग्नि सौ गुना, अग्नि से वायु सौ गुना, वायु से आकाश सौ गुना माना गया है। जलादिको से स्थित यह पृथिवी चक्र के समान वृत्तशालिनी (गोल) है। जिस प्रकार से एक पात्र पर दूसरे पात्र शोभा देते हैं वैसे ही अन्य लोक भी इसी क्रम से स्थित हैं। इन पृथ्वी आदि के प्रमाण, हे वत्स ! तुमको मैंने बता दिये ॥२-७॥

अब इसके बाद द्वीपादिको के पाथोधि-निवेश (किस द्वीप में कौन-कौन से समुद्र, पर्वत आदि हैं) का वर्णन किया जाता है ॥८॥

जम्बूद्वीप

सातो द्वीपो तथा सातो समुद्रो के मध्य मे सौ हजार योजन के विस्तार मे गोलाकार जम्बूद्वीप है। इस द्वीप मे हिमाद्रि, हेमकूट, निषध, नील, श्वेत, शृङ्गी ये ६ कुल-पर्वत अर्थात् कुलाचल महापर्वत पर्वत-श्रेणियाँ है। तुषारा-च्छादित-मेखल हिमालय के उत्तर मे लगाकर पूर्व और पश्चिम तक फैले हुए समुद्र पर्यन्त इन पर्वतो का विस्तार है। नील और निषध नामक दो पर्वतो के बीच जम्बूद्वीप की नाभि मे विराजमान पुण्यजनाकीर्ण (पुण्यजन-यक्षों से सेवित) गोलाकार श्रीमान् मेरु नाम का महापर्वत है। मेरु के उत्तर-दक्षिण की ओर फैले हुए प्राग्भाग पर माल्यवान् नाम का पर्वत है। सिद्धो की नारियों से सेवित नील और निषध तक फैला हुआ सुमेरु से पश्चिम में गन्धर्वकुलसकुल

माल्यवान् पर्वत के समान विस्तृत गन्धमादन नाम का पर्वत है। इन दोनो पर्वतो के अन्तरावकाश पर हिमवान् और शृङ्गवान् नामक पर्वत हैं और दोनो की ऊँचाई ढाई-ढाई हजार योजन है। इन दोनो के अन्तरावकाश पर फैले हुए श्वेत और हेमकूट पर्वत है जिनकी ऊँचाई पाँच-पाँच सौ योजन है। निषधाचल, नीलाद्रि, माल्यवान् तथा गन्धमादन इन चारो की ऊँचाई एक-एक हजार योजन है। ये आठो पर्वतराज दो हजार योजन के विस्तार मे फैले हुए हैं, तथा इनके नीचे का फैलाव उनकी ऊँचाई के आधे मे माना गया है, और ये सब मेरु से जुडे हुए है। इस पर्वतराज मेरु की ऊँचाई तो चौरासी हजार योजन है, नीचे का फैलाव सोलह हजार योजन तथा ऊपर का विस्तार बत्तीस हजार योजन है ॥९-१९$\frac{1}{2}$॥

सुमेरु और निषध के बीच मे जम्बू-वृक्ष खड़ा है जिसके योग से इस द्वीप की 'जम्बू-द्वीप' सज्ञा हुई—ऐसा श्रुति कहती है अथवा सुना जाता है। (अर्थात् यह पेड देखा नही गया है) ॥१९$\frac{1}{2}$-२०$\frac{1}{2}$॥

जम्बूद्वीप के पर्वत

हिमवान् पर्वत—तुषार-शिलाओ से आच्छादित शिखरो से मडित है। और यहाँ पर बडे-बडे पिशाच, यक्ष, राक्षस निवास करते हैं ॥२०$\frac{1}{2}$-२१$\frac{1}{2}$॥

हेमकूट पर्वत— यह पर्वत अपने स्वर्णिम शिखरो के कारण प्रसिद्ध है। यहाँ पर सर्वत्र सदैव चारण तथा गुह्यक (देवयोनि-विशेष) विचरण करते। हैं ॥२१$\frac{1}{2}$-२२$\frac{1}{2}$॥

निषधाचल—तरुण सूर्य के प्रभा-मडल के सदृश दीप्त है। इस पर्वत पर सुखपूर्वक शेष, वासुकि तथा तक्षक निवास करते है ॥२२$\frac{1}{2}$-२३$\frac{1}{2}$॥

मेरु पर्वत—स्वर्ण-कमल की कर्णिका के आकार का है, तथा इसकी कन्दराएँ मणिमयी मानी गई हैं। इस पर्वत पर तैंतीसो देव अपनी अप्सराओ के साथ निवास करते हैं ॥२३$\frac{1}{2}$-२४$\frac{1}{2}$॥

नील महीधर—यह पर्वत अपने वैडूर्यमय शिखरो के लिए प्रसिद्ध है। यहाँ पर तपःपरायण ब्रह्मर्षि रहते हैं ॥२४$\frac{1}{2}$-२५$\frac{1}{2}$॥

श्वेत पर्वत—के अभ्रलिह स्वर्णिम शिखरो की कीर्ति है। वहाँ पर अपने बाहुबल पर गर्व करने वाले देव-द्रोहियो का निवास है॥२५$\frac{1}{2}$-२६$\frac{1}{2}$॥

शृङ्गवान् पर्वत—की विशेषता महानीलमयी बर्हिपिच्छ-छाया है अर्थात् यहाँ पर मयूरो का विशेष आधिक्य है। इसके शिखर ऊँचे-ऊँचे उठे हुए हैं। यह पितरो का आलय माना जाता है ॥२६$\frac{1}{2}$-२७$\frac{1}{2}$॥

जम्बूद्वीप के वर्ष (देश)

भारतवर्ष—हिमालय के दक्षिण से खारी समुद्र तक फैला हुआ धनुषाकार भारत नाम का इस द्वीप में पहला वर्ष विख्यात है ॥२७½-२८½॥

किम्पुरुष वर्ष—हिमालय और हेमकूट के मध्य में किम्पुरुष नाम का दूसरा वर्ष बताया गया है ॥२८½-२९½॥

हरिवर्ष—हेमकूट और निषधाचल के अन्तरावकाश पर तीसरा वर्ष हरिवर्ष स्थित है ॥२९½-३०½॥

इलावर्ष—निषधाचल, नीलाद्रि, माल्यवान्, गन्धमादन इन चारो पर्वतों के बीच चौथा वर्ष इलावर्ष है ॥३०½-३१½॥

रम्यकवर्ष—नीलाचल के उत्तर तथा श्वेताचल के दक्षिण मे अत्यर्थ रम्य रम्यक-नामक पांचवां वर्ष है ॥३१½-३२½॥

हैरण्यक वर्ष—श्वेताचल तथा शृङ्गाचल इन दो पर्वतो के बीच मे स्वर्णिम रश्मिजाल के सदृश मनोज्ञ छठा वर्ष हैरण्यक है ॥३२½-३३½॥

कुरुवर्ष—इसी शृङ्गाचल के उत्तर मे तथा खारी समुद्र के दक्षिण मे उत्तरी वर्ष कुरुवर्ष के नाम से पुकारा जाता है ॥३३½-३४½॥

भद्राश्व वर्ष—नीलाचल तथा निषधाचल के बीच मे तथा माल्यवान् के प्राग्भाग पर पूर्वी समुद्र तक फैला हुआ आठवां वर्ष भद्राश्ववर्ष के नाम से विश्रुत है ॥३४½-३५½॥

केतुमाल—गन्धमादन पर्वत के पश्चिम तथा पश्चिम-समुद्र के पूर्व नवां वर्ष केतुमाल के नाम से पुकारा गया है ॥३५½-३६½॥

हे वत्स ! मैंने तुम्हारे लिए इन नव वर्षो का प्रवचन किया। अब इनका प्रमाण समझो ॥३६½-३७½॥

चारों दिशाओं को मिलाकर ३४ हजार योजन के प्रमाण से चौकोर इलावृत्त या इलावर्ष का प्रमाण समझना चाहिए ॥३७½-३८½॥

इस इलावृत्त के उत्तर और दक्षिण से लेकर पूर्व और पश्चिम तक जाने वाले दोनों समान वर्षो का प्रमाण ३१ हजार योजन समझना चाहिये। शेष जो उनसे अपेक्षाकृत छ छोटे वर्ष हैं तथा कुछ पूर्व तथा पश्चिम को छूते हैं। उनका प्रत्येक का विस्तार नौ हजार योजन समझना चाहिए ॥३८½-४०½॥

किम्पुरुष नामक वर्ष मे नारी और नर प्लक्षभोजी[1] होते हैं। ये लोग अयुत (१० हजार) वर्ष जीते हैं और इनका रंग विशुद्ध स्वर्ण के समान

---

१ प्लक्ष को नाया में पाकड़ कहते हैं।

चमकीला होता है। हरिवर्ष मे इक्षुरस का पान करने वाले नर-नारी रहते हैं और उनका रग चाँदी के समान गौर होता है। उनकी आयु अयुत सहित एक हज़ार (११ हजार) वर्ष होती है। इलावृत्त (इलावर्ष) मे पद्मराग मणि की कान्ति वाले नर-नारी जम्बू फल के रस से अपना आहार सम्पादन करते हैं और वे सपादायुत (१२½ हज़ार वर्ष) जीवी होते हैं। मेरु तट से छन्न होने के कारण इस वर्ष मे सूर्य, चन्द्र और तारो की किरणें नही पाई जाती। यहाँ के नर-नारी अपने अग की कान्तियो से ही प्रकाशित होकर रहते हैं ॥४०½-४४½॥

भद्राश्व नामक वर्ष के नर तथा नारिया कैरव (कोकावली) के उदर की कान्ति के समान कान्ति वाले होते हैं तथा नीले आम्रफल के भोजी होते है। उनकी अवस्था १० हज़ार वर्ष की बताई गयी है ॥४४½-४५½॥

केतुमाल नामक वर्ष में लोग खिले हुए नील कमल के समान कान्ति वाले होते हैं। वे पनसभोजी[1] होते हैं। उनकी आयु भी १० हज़ार वर्ष की है ॥४५½-४६½॥

मनोरम रम्यक वर्ष में लोग धवल वर्ण के होते हैं और न्यग्रोध (बरगद) के फल को खाते हैं। इस वष मे प्राणियों की आयु हरिवर्ष के समान बताई गई है ॥४६½-४७½॥

हिरण्यक नामक वर्ष मे स्त्री-पुरुष श्याम-कान्ति होते हैं। वे लकुचाशी (लुकाट खानेवाले) होते हैं और सभी १० हज़ार वर्ष तक जीते है ॥४७½-४८½॥

कुरु नामक वर्ष मे नर-नारी मनचाही चीज़ें देने वाले वृक्षो के सहारे जीते हैं। उनका रग गौर होता है। उनकी आयु १२½ हज़ार वर्ष होती है ॥४८½-४९½॥

इन सभी वर्षों मे पुण्यकर्मा लोग ही रहते हैं। शोक, व्याधि, जरा, आतंक, शका से लोग यहाँ पर मुक्त रहकर सदा ही सुखी रहते हैं ॥४९½-५०½॥

ये सभी वर्ष कुसुमो के स्तबको से लदे हुए वनो से कीर्ण रहते हैं। उद्भिज्जादि (वृक्ष, लता, गुल्म, तृण आदि) से, नदियो से और उन ऊँचे-ऊँचे वृक्षो से ये सब शोभित रहते है। उठती हुई लहरो की मालाओ से शोभित खारी समुद्र से यह जम्बूद्वीप वाहर से परिक्षिप्त रहता है। हे वत्स! इस प्रकार से इस सम्पूर्ण जम्बूद्वीप का मैंने वखान किया ॥५०½-५२½॥

इस लवणाकर (खारी समुद्र) मे १२ पहाड़ अलग-अलग से स्थित हैं। चारो दिशाओ पर तीन-तीन पहाड़ हैं। लवणाकर की ऊँची-ऊँची लहरो से

---

१. पनस-खजूर (dates)

उनकी बड़ी-बड़ी शिलाएँ फटती रहती हैं। दिशानुरूप इन बारहो पर्वतो की स्थिति निम्न है—

दक्षिण—मैनाक, बलाहक तथा चक्र।

पश्चिम—नारद, वराह तथा सोमक।

उत्तर—द्रोण, कक तथा चन्द्र।

पूर्व—धूम्रक, दुन्दुभि तथा आर्द्रक।

ये लम्बाई मे एक हजार योजन और ऊँचाई मे उसके आधे (५०० योजन) हैं और उसके आधे समुद्र मे मग्न हैं। ये सब धराधर इस प्रकार से विस्तृत है। अभ्रलिह शिखरो वाले इन सभी पर्वतो पर देवगण विचरण करते हैं। ये सब ओषधियो से प्रकाशित रहते हैं तथा सुन्दर चित्र-विचित्र पादपो एव लताओ से दीप्त रहते हैं ॥५२½-५७½॥

अन्य द्वीपो का वर्णन

शाक द्वीप, कुश द्वीप, क्रौंच द्वीप, शाल्मली द्वीप, गोमेघ द्वीप, तथा पुष्कर द्वीप ये छ: द्वीप क्रमश. बाहर स्थित हैं। इन शाकादि द्वीपो को क्रमश: दुग्ध समुद्र, घृत समुद्र, दधि समुद्र, मद्य समुद्र, इक्षुरस समुद्र तथा मीठे जल वाले समुद्र घेरे हुए स्थित है। अपने द्वीप के समान इन समुद्रो का प्रमाण है अर्थात् जितना द्वीप उतना समुद्र। ये छहो द्वीप क्रमश जम्बूद्वीप के प्रमाण से दुगने प्रमाण वाले हैं और उनके समुद्र क्रमश. दुगुने होते है ॥५७½-६०॥

शाक द्वीप मे सात पर्वत हैं—उदय, जलधर, नारक, रैवत, श्याम, राजत और आम्बिकेयक। इनका विष्कम्भ चार हजार योजन का होता है, और उससे आधी (२,००० योजन) ऊँचाई और उसका आधा भूप्रदेश। इन पर देवर्षि निवास करते हैं। इन सभी द्वीपो के समान गोल पर्वतो के बाहर क्रमश. सात वर्ष हैं, जिनके नाम हैं—जलद, कुमार, सुकुमार, मणीचक, कुसुमोत्तर, मोदाकि तथा महाद्रुमयन ॥६१-६४॥

कुश द्वीप मे विद्रुम, हेम, द्युतिमान्, पुष्पवान्, कुशेशय, हरिद्माभृत तथा मन्दर ये सात कुलाचल बताये गये हैं। इन सब मे प्रत्येक का विष्कम्भ ८ हजार, उससे आधे से ऊँचाई (४,०००) और उसी प्रकार आधे मे नीचे की मग्नता है। इन द्वीप के वर्षो के नाम हैं—उद्भिद्, वेणुवत्, सराल, लम्बन, धीमत्, प्रभाकृन, कपिल तथा पन्नग ॥६५-६७॥

क्रौञ्च द्वीप मे क्रौञ्च, अन्धकार, देव, गोविन्द, वामन, द्विविद तथा पुण्डरीक ये सात कुलाचल हैं। इनका विष्कम्भ दस हजार योजन, विष्कम्भ की

आधी ऊँचाई पाँच हज़ार योजन और उसकी आधी अधोगति ढाई हजार योजन है। इन कुलाचलो के बाहर इस द्वीप के सात वर्ष हैं—**कुसलवर्ष, अष्टवर्ष, परापत-वर्ष, मनोनुगवर्ष, मुनिवर्ष, अन्धकारवर्ष** और **दुन्दुभिवर्ष** ॥६८-७०॥

शाल्मली द्वीप मे तीन पर्वत हैं—रक्त, पीत तथा सित। इनका वैपुल्य (विष्कम्भ) ३२ हजार योजन कहा जाता है और वैपुल्य के आधे मे ऊँचाई और उसके आधे से भूमि-मग्नता। इस द्वीप के दो ही वर्ष हैं—**शान्तभय** तथा **वीतभय** ॥७१-७२॥

गोमेद द्वीप मे सुर और कुमुद नाम के दो पर्वत हैं। इन दोनो का विस्तार ६४ हज़ार योजन है। विस्तार के आधे से ऊँचाई और उसके आधे से अधोगति। इसके मध्य मे एक ही वर्ष कहा गया है, जिसका नाम **'धातकी-खण्ड'** हैं ॥७३-७४॥

पुष्कर द्वीप मे मानसोत्तर नाम का एक ही पर्वत है, जिसके बाहर एक ही वर्ष **महावीत** के नाम से स्मरण किया गया है। यह पर्वतराज १२८ हज़ार योजन के विस्तार से विस्तृत है और देवों, ऋषियो और सिद्धो से सेवित है। विस्तार के आधे से उसकी ऊँचाई और उसके आधे से अधोगति। इसी पर्वत पर देवेन्द्रो की नगरियो को मैंने, हे वत्स! बसाया है। वे (चारो) नगरियाँ निम्न प्रकार से उल्लेख्य हैं—

पूर्व मे इन्द्र की—**वस्वोकसारा**; दक्षिण मे यम की—**संयमनी**, पश्चिम वरुण की—**सुखा** और उत्तर मे कुबेर की—**विभा**।

धर्म-रक्षा के लिए तथा लोक-व्यवस्था के लिए इन चारो नगरियो मे चार अलग-अलग लोकपाल (इन्द्र, यम, वरुण तथा कुबेर) स्थित हैं ॥७५-७९॥

लोकालोकाचल

मीठे समुद्र से बाहर और उस समुद्र के विस्तार से भी दुगुना लोकालोकाचल का विस्तार बखाना गया है। इसकी ऊँचाई एक नियुत (१,००,०००) योजन है और उसकी आधी अधोगति है। प्रत्येक दिशा मे इस पर्वत का विस्तार पाँच कोश तथा नवलक्ष योजन है। उसी प्रकार आधे नियुत का मेरु-मध्य से उसका अन्तरावकाश है। चडांशु की किरणो से आधा कलेवर आभासित रहता है और आधा शरीर भूमि से ढका रहता है। पुनः उसके परतः पृथ्वी के आवरणभूत नीचे स्थित रहते है, और बाहर से भूमि के ऊपर भी स्थित रहते हैं। हे वत्स! इस प्रकार से मैंने तुम्हारे सामने पृथ्वी का अखिल सन्निवेश बताया है ॥८०-८४॥

सौर-मण्डल

अब मैं तुम्हें इसके बाद सूर्यादि की स्थिति और गति बताता हूँ ॥८५½॥

सूर्य, चन्द्र, धिष्ण्य (नक्षत्र), ज्ञ (बुध), सित (शुक्र), मंगल, शनैश्चर तथा बृहस्पति, सप्तर्षि और ध्रुव क्रमशः भूमि के ऊपर स्थित हैं। पहले चार (सूर्य, चन्द्र, धिष्ण्य, तथा ज्ञ) और तब दो शुक्र तथा मंगल भूमि के ऊपर सूर्यनन्दन शनैश्चर तक से लगाकर सौ-सौ हज़ार के छः अन्तर होते हैं। जो अन्य ग्रहान्तर बचे, वे भी क्रमशः चारों (शनि, बृहस्पति, सप्तर्षि और ध्रुव) ही दो-दो लाख योजन के प्रमाण से बताये गये हैं। भूमि और ध्रुव इन दोनों के मध्य में त्रैलोक्य का समुत्सेध १४ लाख योजन कीर्तित किया गया है। ध्रुव से ऊपर क्रमशः—महर्लोक १ करोड़, जनलोक २ करोड़, तपोलोक ४ करोड़ और सत्यलोक ८ करोड़ के अन्तर में स्थित हैं। और जो अंडकर्पर के नीचे और सत्यलोक के ऊपर स्थित है, उसका १ करोड़ पचास लाख योजन का अन्तरावकाश समझना चाहिए ॥८५½-९१½॥

इसके बाद इस विश्व का पद्मजन्म (ब्रह्मा) के द्वारा जो आवरण-योग बनाया गया है, वह भी मैं बताता हूँ। जिस प्रकार से नीचे तथा तिरछे उसी प्रकार से ऊपर भी क्रमशः—वह[1] में अब्द (मेघ), प्रवह में सूर्य, उद्वह में चन्द्र, संवह में नक्षत्र, आवह में ग्रह, परिवह में सप्तर्षि, परावह में ध्रुव स्थित हैं। इन सबके चारों ओर ये सातों वायु इनको घुमाया करते हैं। परन्तु इनके मध्य में सुमेरु पर्वत पर स्थित मेधीभूत ध्रुव स्थित रहता है अर्थात् नहीं घूमता है। इसी ध्रुव से बँधा हुआ समस्त यह ज्योतिश्चक्र घूमा करता है ॥९१½-९५½॥

रथियों में श्रेष्ठ सात घोड़ों के एक चक्र के रथ से ज्योतिष्पति सूर्य निरन्तर घूमता रहता है। वह केतुमाल-वर्ष पर उठता हुआ (उदय होता हुआ) कुरु-वर्ष में अस्त होता है। दिन के मध्य में भद्राश्व में अस्तगत होता हुआ भारतवर्ष में सूर्य एक निमेष में २४६ २/५ योजन, एक काष्ठा में ३,६९४ ४/९ योजन, एक कला में १,१०,८३३ १/३ योजन तथा एक मुहूर्त में ३३,२५,००० योजन की गति से चलता है। इस प्रकार से रात और दिन में नौ करोड़ सतानवे लाख पचास हज़ार योजन की सूर्य की गति है। पुष्कर द्वीप के मध्य से इस गति से चलते हुए सूर्य भगवान् आकाश में पुनः उदयाचल से अस्ताचल पर आश्रय

---

१. वह, प्रवह आदि वायु-भेदात्मक आवरण समझने चाहिये।
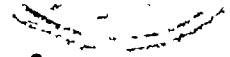
लेते हैं। इस प्रकार सूर्य की ठीक प्रकार से यह गति निरूपित की ॥९५½-१०३॥

अब चन्द्र, ग्रहो तथा नक्षत्रो की गति एव उनका भोग, सूर्य की गति एव भोग से विभाव्य है ॥१०४½॥

हे अनघ! तुम्हारे लिए अहोरात्र (दिन और रात) का हमने प्रमाण बताया और अब पक्षो (शुक्ल एव कृष्ण, मास के दो पक्षो), बारह मासो, छः ऋतुओ एव पूरे वर्ष के प्रमाण व्यवहार से कल्प्य है ॥१०४½-१०५½॥

इस प्रकार द्वीपो, पर्वतो एव समुद्रो का भू-वलय-वर्ती इस सन्निवेश का पूर्ण रूप से हमने बखान किया। दिन-नायक सूर्य की गति का भी कीर्तन किया, तथा विश्व-मान भी बता दिया।

अब इस वास्तु-शास्त्र मे युग-धर्म भी कीर्तनीय है, वह भी तुम्हे समझना चाहिये ॥१०६॥

सहदेवाधिकार

(भवन-जन्म-कथा)

अब जैसाकि प्रथम ही प्रतिपादित किया गया है, इस प्राणि-सृष्टि के अनन्तर यह पूर्णजनाकुला प्रजा देवो के साथ ही साथ रहती थी ॥१॥

देवो के समान पहले कृतयुग मे शोक, व्याधि, जरा, आतक आदि से रहित मनुष्य स्थिर यौवन वाले अर्थात् सदा जवान होते थे। वे पर्वतो के निकुजो मे, सरिताओ मे, सरोवरो मे और चित्र-विचित्र वनो मे देवो के साथ मिला करते थे। वे एक बार यो ही हँसी मे अमरो के साथ उडकर स्वर्ग मे पहुँच कर पूर्ण स्वातन्त्र्य मे सुरो के समान घूमने लगे। चित्र-विचित्र वस्त्र पहने हुए और नाना प्रकार के आभूषणो से सुशोभित सब देवता दिखाई देते थे और उन लोगो के, महलो के समान, कल्पद्रुम वृक्ष थे। चित्र-विचित्र आभूषण पहने हुए सुन्दर स्त्रियो के साथ उन विमानाकार कल्पद्रुमो मे वे लोग रहते और क्रीडा करते थे। क्षुधा, पिपासा और दु खो से रहित वे सब दस हजार वर्ष की अवस्था वाले हो गए। उनके शरीर रत्नो के समान झलकते हुए दिखलाई पडते थे। उन्होने कभी भूरस (ईख का रस) का पान कर लिया, तब से वे बहुत अधिक कामी हो गये और स्वेच्छापूर्वक आहार-विहार करने लगे। कभी स्वीकार, कभी विग्रह और कभी पार्थक्य मे वे बडे उच्छृङ्खल स्वातन्त्र्य का अनुभव करने लगे। वहाँ पर न तो सूर्य ही उग्रता से तपता था और न आँधी ही चलती थी। वहाँ की रात्रियो को पूर्ण चन्द्र सदैव शोभित करता रहता था और इसीलिए ये रातें सदैव कुहरे आदि से रहित रहती थीं तथा सदैव सुन्दर रहती थीं। भिन्न एव स्निग्ध अजन के समान काले, बिजली के सहित और ढोल के समान शब्द करने वाले कबरी गाय के केश के सदृश कान्ति वाले मेघो की छटा थी। मस्त कोकिल-वधू से काटे हुए आम के बौर एव फल वाले तथा सदैव पुष्प एवं फल का भोग उपस्थित करने वाले वहाँ वनालय थे। वहाँ पर जहाँ तक वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि) का सम्बन्ध था वहाँ पर ब्राह्मण ही एक वर्ण था। चारों वेदो मे वेद भी एक ही था। ऋतुओ मे कामदेव का सखा वसन्त ही एक ऋतु था। वहाँ सब लोग

रूप, शास्त्र, सुख,ऐश्वर्य से सुशोभित थे। सभी लोगो मे समानता थी, अतएव उनमे न कोई उत्तम था न मध्यम और न अधम। यहाँ पर खेट, नगर, पुर, क्षेत्र, खल आदि की कोई व्यवस्था न थी और न यहाँ पर दशो से, मशको से अथवा राक्षसो से कोई भय था। ग्रह-नक्षत्रो की भी यहाँ कोई परवाह नही करता था। इसके अतिरिक्त कल्पद्रुम से प्राप्त भोग एव ऐश्वर्य वालो का कोई मालिक भी नही था अर्थात् राजा और प्रजा की कोई बात नही थी। पूर्ण स्वराज्य एव साम्यवाद था ॥२-१५½॥

इस तरह से उस सुदूर प्राचीन काल मे इस भारतवर्ष मे देवो की श्री धारण किये हुए उन लोगो को रहते-रहते बहुत समय बीत गया। यद्यपि वे देवो के साथ रहते थे तथापि देवो के प्रभाव से अपरिचित रहे। सह-परिचय से अनादर एव अवज्ञा भी आ ही जाती है। अब इस तरह साथ-साथ रहने के प्रतिफल विधिवशात् उन लोगो की देवो के प्रति आदर-भावना कम होने लगी, और सब कुछ जानते हुए भी अब वे पूज्य देव उन लोगो के द्वारा अपूजित हुए ॥१५½-१७॥

अब देवो ने उस कल्पतरु को लेकर स्वर्ग में डाल दिया। इस पर उन मर्त्यों की स्वर्ग जाने की शक्ति और दिव्य भाव नष्ट हो गये ॥१८॥

अब वह परम सरस भूरस भूमि मे आकर बेकार हो गया। अब कल्पद्रुमो को तथा देवो के साथ उन उन क्रीडाओ को स्मरण करके खूब विलाप करने लगे और अपने अनर्थ को याद करने लगे ॥१९-२०½॥

तब उन लोगो के इस प्रकार विलाप करने पर प्राणो की रक्षा के लिए बहुतायत से पर्पटक नामक वृक्ष उत्पन्न हुआ और वे उसी भूरस (पर्पटक पाकड) से अपनी प्राण-रक्षा करने लगे और अपना वास कल्पद्रुमो के अभाव मे अन्य वृक्षो मे करने लगे ॥२०½-२२½॥

अब उसके बाद दुर्भाग्य से और समय के फेर से उनके देखते ही देखते पृथ्वी पर से पर्पटक भी विलीन हो गया। पर्पटक के नष्ट होने पर बिना जुताई वाले अर्थात् बिना हलादि-कर्षण-सभार के अपने-आप पैदा होने वाले, पृथ्वी पर सावाधान (शालि तंडुल) उत्पन्न हुए। इस प्रकार सुस्वादु व्यजन से—उस शाल्योदन (सावा के भात) से उन्होने अत्यन्त तृप्ति प्राप्त की ॥२२½-२५½॥

कही यह सावाधान भी नष्ट न हो जाय इसलिए पेडो के नीचे सावाधान के बडे-बडे ढेर लगाये और उसके खेत बनाये ॥२५½-२६½॥

अब मात्सर्य एवं ईर्ष्या से पुरस्सर उन लोगो मे लोभ ने आकर पैर जमाये और फिर धीरे-धीरे कामदेव ने आकर अपने पैर जमाये। द्वन्द्व-प्राप्ति

अर्थात् स्त्री एवं पुरुष दोनो के सहवास से उन उत्तम गति को धारण करने वालो का धैर्य भंग हो जाने से स्त्रियो मे शीघ्र ही रति पैदा हो गई ॥२६½-२८½॥

उनके बाद दारक्षेत्र-निमित्तक और विभिन्न क्लेशो की जड (द्वन्द्व-प्राप्ति) से उन लोगो के अलग-अलग जोडे हो गये ॥२८½-२६½॥

अब इसके उपरान्त अपनी मर्यादा का उल्लंघन करने वाले, आत्मा के प्रभाव का ह्रास करने वाले उन उच्छृङ्खल दुर्भोगियो का वह (भावाधान) भी लुप्त गया अर्थात् उनमे भूखी पैदा हो गयी और राजस प्रकृति के प्रकोप के कारण उनकी वह पुण्यश्लोकता भी चली गई। तुष-धान्य (भूसी वाले धान्य) के सेवन से उनमे मल-प्रवृत्ति अर्थात् पाखाना की हाजत होने लगी ॥२६½-३१½॥

अब उस तुष-धान्य के भी विलीन हो जाने पर और सचित धान्य के समाप्त हो जाने पर उनकी बडी दुर्गति हुई। चीर और वल्कल वस्त्र धारण करने वाले तथा कन्द, मूल, फल पर निर्वाह करने वाले उन लोगो के, समय के फेर से, एक ही वसन्त ऋतु के स्थान पर छः ऋतुएँ हो गई। अब उनका शरीर दोष, रोग एवं शोक से व्याप्त होने लगा और उनका मन भी काम, क्रोध ईर्ष्या व दैन्य और घृणा आदि से दूषित होने लगा। गर्मी, बरसात, जाडा आदि से प्रादुर्भूत महान् आधिदैविक दुःख उपस्थित हुआ। उसके साथ-साथ हिंस्र पशुओ के द्वारा प्रादुर्भूत आधिभौतिक दुःख भी उपस्थित हुआ ॥३१½-३४॥

इस प्रकार इन तीनो (आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक) दुःखो से पीडित वे अपने मैथुनादि की अभिगुप्ति (छिपाने) के लिए तथा शीतल नीहार, जाडे, पानी, वर्षा और आधी आदि से बचने के लिए वृक्षावास से अन्यत्र घर पत्थरो से वृक्षो को काट-छाट कर झोपडियो (कुट्टिम-गृहो) को बनाने लगे। कल्पद्रुम के आकार वाले महलो का स्मरण करके एक, दो, तीन, चार, सात तथा दस शाला वाले उसी प्रकार के घरों का निर्माण किया और उनकी प्राकार (परकोटे) तथा परिखाएँ धाम आदि से टकरार घर वालो की तरह सुख से रहने लगे ॥३५-३८॥

इस प्रकार शीत, वात, जल एवं ताप से बचाने वाले इन घरो मे वे रहने लगे और हर्ष एवं सफुल्ल मन दुःखो से छुटकारा पाकर बहुत काल तक इसी तरह रहते रहे ॥३६॥

वर्णाश्रम-प्रविभाग एवं वास्तु-विनियोग

इसके बाद अमर वृन्द के साथ पितामह ब्रह्मा जी राजा पृथु को लेकर मनुष्यो के दु खो का उन्मूलन करने के लिए आये ।।१।।

ब्रह्मा उन लोगो को सम्मुख करके बोले—यह राजा पृथु देवो के राजा इन्द्र के समान तुम्हारा राजा होगा। ये दुष्टो के लिए दंड का विधान करने वाले हैं और इनका प्रभाव लोकपालो (इन्द्रादि) के समान है ।।२।।

अपने प्रताप से शत्रुओ को दबाने वाले, सिंह के समान पराक्रमी तुम्हारे लोगो के आधिपत्य के लिए मैंने पृथु का राज्याभिषेक किया है ।।३।।

यह (राजा) सब सज्जन पुरुषो की रक्षा करने वाले हैं। दुष्टो का उन्मूलन करेंगे और वृत्ति (जीविका) के भय को हरने वाले है। इस प्रकार यह तुम्हारे राजा होंगे ।।४।।

मेरी आज्ञा से आप लोग इनके शासन मे रहे, और यह राजा तुम लोगो के लिए चारो वर्णों एवं चारो आश्रमो की धर्म से व्यवस्था करेगा ।।५।।

यह कहकर ब्रह्मा जी चले गए। अब पृथु राजा को पाकर वे लोग राजा पृथु से बोले—हे राजन् ! हम लोग बहुत दु खित हैं। हम लोगो को इस दु ख से बचाइये ।।६।।

हे पृथ्वीपति ! कल्पद्रुम और देवो ने हमे त्याग दिया है। द्वन्द्व के क्लेशो से हमारा चित्त उद्विग्न है। व्यसनो के महासागर मे हम लोग डूबे हुए हैं, अत हम लोगो की आप रक्षा करे ।।७।।

यह सुनने के बाद राजा पृथु ने उन लोगो को समझाया कि तुम लोग डरो नही, सुख से रहो। मैं तुम लोगो के दु खो को दूर करूँगा और सुखो के साधन उपस्थित करूँगा ।।८।।

तदनन्तर राजा पृथु ने चार वर्णों और चार आश्रमो का विभाग किया। उनमे से जो वेद पढते थे, अच्छे आचार वाले थे, सयमी विद्वान् एव

गुनन्ति थे, वे ब्राह्मण बनाये गये और उनके लिए यज्ञ करना और कराना, अध्ययन और अध्यापन तथा दान, आदान (स्वीकार) यह छ धर्म निश्चित हुए। इनमें से प्रथम तीन धर्म—अर्थात् यजन, अध्ययन एव दान तीनो वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यो मे समान थे ॥९-११½॥

जो लोग बडे वीर थे, बडे उत्साही थे, शरण्य थे, अर्थात् शरणागत-पालक थे, रक्षा की व्यवस्था करने के योग्य थे और जिनके शरीर मजबूत और लम्बे-चौडे थे वे क्षत्रिय कहलाये। पूर्वोक्त तीनो धर्मों के अतिरिक्त विक्रम, लोक-गरक्षा-विभाग एव अध्यवसाय ये भी शुभ फल देने वाले इनके धर्म नियत हुए ॥११½-१३½॥

स्वभाव मे ही जिन लोगो मे नैपुण्य पाया जाता था और धनार्जन के प्रति जिनका सहज अनुराग देखा जाता था और जो श्रद्धालु, कुशल, उदार एव दयालु थे उनको वैश्य बनाया। चिकित्सा, खेती, वाणिज्य, स्थापत्य, पशु पोषण यह वैश्य के धर्म कहे गये और उसी प्रकार उनका कर्म भी तैजस हुआ ॥१३½-१५½॥

अब वे लोग जिनका न बहुत आदर होता था और जो न अधिक पवित्र रहते थे और न अधिक धर्म-रत ही थे, ऐसे क्रूर स्वभाव वाले शूद्र कहलाये। उनकी आजीविका कारीगरी पर निर्भर थी, इसलिए कारीगरी, पशु-पोषण और तीनो वर्णों की सेवा करना उनका धर्म नियत हुआ ॥१५½-१७½॥

ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वाणप्रस्थ्य एव सन्यास ये चार आश्रम उस राजा ने अलग-अलग विभाजित किये ॥१७½-१८½॥

गुरु की सेवा करना, भिक्षा से उदर-पूर्ति करना, व्रतो का पालन करना, हवनादि एव स्वाध्याय और अभिषेक यह ब्रह्मचारी का धर्म निश्चित हुआ ॥१८½-१९½॥

अग्नि, अतिथि-देवो की पूजा, अपनी वृत्ति से जीविका-निर्वाह, सयम और असमान गोत्रो से विवाह, ऋतुगामिता, दूसरे की स्त्रियो मे परागमुखता, दूसरो के प्रति दयाशीलता, बुरे कार्यो मे सदैव अलग रहना यह गृहस्थो का धर्म बताया गया ॥१९½-२१½॥

देवता एवं अतिथि का पूजन तथा सत्कार, ब्रह्मचर्य, वन मे निवास, वल्कल एव मृगचर्म तथा जटा और चीर को धारण करना, भूमि पर सोना, निराहार व्रतो एव नियमो मे शरीर को सुखाना, अकृष्ट-पच्य (अर्थात् बिना

जोती-बोई चीज़ो) कन्द-मूलादि से आहार करना यह बनवासी वाणप्रस्थो का धर्म कहलाया ॥२१½-२३½॥

वैराग्य, इन्द्रियो पर विजय, चिन्ता-त्याग, शान्ति, दारिद्रय एवं अनारम्भ (व्यर्थ के कार्य) यह सन्यासियो का धर्म निश्चित हुआ ॥२३½-२४½॥

क्षमा, गुरु मे अधीनता, पवित्रता, स्वाध्याय मे नियम-पालन, व्यवहारो मे सत्यता यह शिष्य-धर्म प्रतिपादित किया गया ॥२४½-२५½॥

वाणी, मन और शरीर से शुद्ध रहना, पति की सेवा करना, क्षमा, पति से पूजित व्यक्तियो का आदर करना और सदैव शुद्ध रहना, ऐसा स्त्रियो का धर्म प्रतिपादित किया गया ॥२५½-२६½॥

इस प्रकार वर्णो एव आश्रमो का ठीक-ठीक विभाग करके पुन. वर्णो और वर्णो से उत्पन्न अन्य वर्णों का विभाग करके भिन्न-भिन्न धर्मो की राजा पृथु ने स्थापना की । और इनके कर्म की वृत्तियो को भी अलग-अलग प्रतिपादित करके बतलाया कि तुम लोग जो अपने धर्म मे स्थिर रहोगे तो दोनो लोको मे सुख पाओगे। इसके विपरीत जो लोग इस मर्यादा का उल्लघन करके विपरीताचरण करेंगे, उनका मैं यम के समान क्रुद्ध होकर नियन्त्रण करूँगा। इसके अतिरिक्त अपनी-अपनी आजीविका का उपार्जन करने के लिए और अपने जीवन-यापन करने के लिए अपने-अपने कर्मों मे तुम लोगो के लगे रहने पर मैं तुम लोगो के लिए खेटक, ग्राम, पुर, और वेश्म (घर) की रचना करूँगा। उन लोगो से यह कहकर तदनन्तर अपने धनुष की कोटि से विशाल पराक्रमी राजा पृथु ने विषमा पृथ्वी का साधन किया। उससे दु.खित होकर वह गो हो गई ॥२६½-३१॥

और फिर राजा पृथु ने ब्रह्मा के आदेश से ससार के कल्याण के लिए ठीक तरह से सस्यो का दोहन किया। पर्वतो एव सरिताओ के अन्तरावकाशो तथा बराबर स्थानो पर उसने पुर, नगर आदि के निर्माण के लिए विभाग किये ॥३२-३३½॥

इस प्रकार राजा पृथु के द्वारा सीराग्रकृष्टा (सीर=हल के अग्रभाग से जोती हुई) यह पृथ्वी वर्षागम पर धान्यादि के वपन से ससस्या (सधान्य) बनी ॥३३½-३४½॥

हे वत्स ! इस प्रकार मैंने तुमसे प्रथम राजा के आविर्भाव का वृत्तान्त बताया। साथ ही साथ आश्रम-भेद (ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वाणप्रस्थ्य तथा सन्यास

इन चारों आश्रमों का भेद) एवं वर्ण ब्राह्मणादि चातुर्वर्ण्य का भेद बताया और उनके अलग-अलग धर्मों का व्याख्यान किया। कृषि-व्यतिकर (काश्त-कारी) भी बता दी। अब पूर्णरूप से[1] देश-विभाग एव भूमि-विभाग को सुनो ॥३४½-३५½॥

---

१ देश-विभाग एव भूमि-विभाग आगामी अध्याय के बाद द्रष्टव्य होंगे। देखो समराङ्गण-सूत्रधार के अध्यायों का पुनर्गठन।

विशेष

वैसे तो अन्य शिल्प-ग्रन्थों, जैसे मानसार, मयमत, शिल्प-रत्न आदि, मे वास्तु का अर्थ तथा वास्तु-कला का क्षेत्र—भवन, प्रासाद, राजहर्म्य, प्रतिमा तथा पुर तक ही सीमित है परन्तु इस ग्रन्थ के इन औपोद्घातिक अध्यायों मे वास्तु-कला का क्षेत्र पुर से आगे बढकर जनपद एवं देश अथवा सम्पूर्ण मही तक फैल गया है। महासभा पृथ्वी तथा पृथु की अवतारणा सम्पूर्ण पृथ्वी के निवेशोपक्रम, वसति-योग्यता, वास-स्थान जनपद-निवेश एव सृष्टि-विभाग तथा भूगोलादि वर्णन विश्व-योजना की ओर सकेत करते हैं। इस प्रकार भारतीय वास्तु-कला का विषय साधारण अथवा विशिष्ट भवनों एवं उन भवनों एव प्रासादों के निवेश-स्थान, ग्रामों, खेटकों, पत्तनों, पुट-भेदनों, एवं पुरों तक ही सीमित न रहकर पुर-समूह जनपद एव जनपद-समूह राष्ट्र या देश तथा राष्ट्र-समूह भूमण्डल तक विस्तृत हो गया है तो तार्किक एवं वैज्ञानिक दृष्टि से ठीक ही है।

अन्तर्देशीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय योजना आगे बढती हुई महासभा-योजना की महा-योजना की ओर तो सकेत करती ही है साथ ही साथ हम यह भी जानते हैं कि महासभा अर्थात् पृथ्वी, भूलोक इस वृहद् विश्व का एक अति लघु भाग है। सौर-मण्डल में पृथ्वी के परिमाण से हम परिचित हैं। भू-वासियों का जीवन दूसरे ग्रहों से अनिवार्य रूप मे प्रभावित है। अत अन्तर्देशीय अन्योन्या-श्रय की भांति अन्तर्ग्रहीय अन्योन्याश्रय भी बोद्धव्य है। अत इन औपोद्घातिक अध्यायों का मर्म स्पष्ट है और वे भारतीय वास्तु-शास्त्र के व्यापक दृष्टिकोण को किस प्रकार मे पोषित करते हैं, यह भी स्पष्ट है।

द्वितीय पटल

सामान्य (पारिभाषिक)

१. वास्तु-कर्ता एवं वास्तु-कर्म
   (स्थपति एव स्थापत्य)

२. वास्तु-परीक्षा
   (भूमि-परीक्षा एव देश-चयन)

३. वास्तु-मान
   (हस्त-लक्षण)

४. वास्तु-आरम्भ
   (अ) आयादि-विचार
   (ब) इन्द्रध्वज-स्थापन

५ वास्तुपद-विन्यास

६. वास्तु-पद-देवता-बलि

७. वास्तु-संस्थान

८. शिला-न्यास

९. कीलक-सूत्र-पात

वास्तु-पुरुष
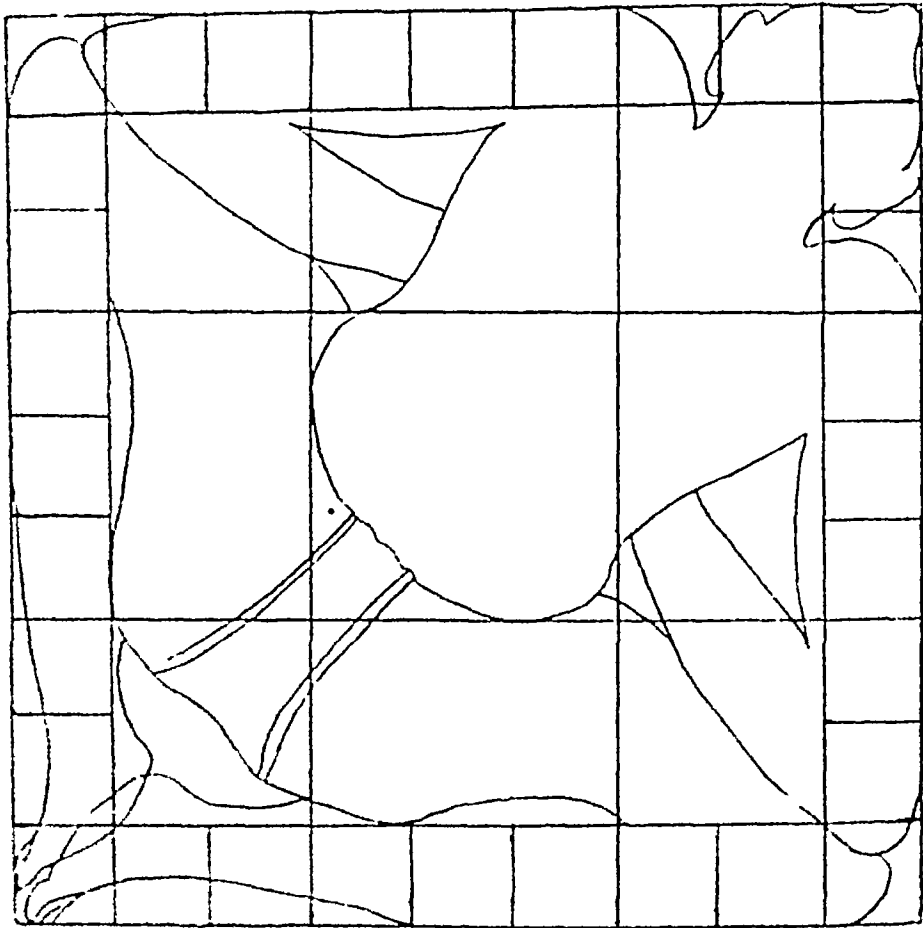
स्थपति-लक्षण
(चतुर्धा स्थापत्य)

अब क्रमप्राप्त स्थापत्य का मैं वर्णन करता हूँ जिसके जानने से स्थपतियो के गुण-दोषो का ज्ञान होता है। यह स्थापत्य चार प्रकार का होता है **शास्त्र, कर्म, प्रज्ञा तथा क्रियान्वितशील अर्थात् आचरण**। इस प्रकार लक्ष्य (उदाहरण) तथा लक्षण अर्थात् शास्त्र मे निष्ठा रखने वाला नर ही स्थपति होता है ॥१-२॥

उस शास्त्रज्ञ स्थपति को **सामुद्र** (सामुद्रिक शास्त्र), **गणित, ज्योतिष, छन्दस्, शिरा-ज्ञान, शिल्प** तथा **यन्त्र-कर्म-विधि** वास्तु-शास्त्र के इन अङ्गो को जानना चाहिए और उस बुद्धिमान् स्थपति को शास्त्र के अनुसार लक्षणो को समझकर कार्य करना चाहिए ॥३-४॥

प्रसिद्ध शास्त्र-सिद्धान्तो से अपने वास्तु-ज्ञान का उसे प्रसाधन करना चाहिए, वास्तु-पद-विन्यास मे सुनिश्चित शिरावशो सहित मर्मवेधो के द्वारा वास्तु के अग-प्रत्यग को शास्त्रानुसार जानना चाहिए ॥५-६½॥

जो व्यक्ति शास्त्र को न जानकर कार्य-सचालक स्थपति का ढोग बाँधता है, उस राजहिंसक कुस्थपति को राजा स्वय, मृत्यु के समान, उसे मारे क्योकि ऐसा स्थपति मिथ्या-ज्ञान के कारण अहकारी है, और जिसने शास्त्र मे परिश्रम भी नही किया है वह ससार मे लोगो की अकारण मृत्यु के समान विचरण करता है और जो स्थपति केवल शास्त्र को जानता है और कर्म में अपरिनिष्ठित अर्थात् अदक्ष है, वह क्रियाकाल मे युद्ध को देखकर डरपोक के समान मोह को प्राप्त होता है। इसके विपरीत जो केवल कर्म को ही जानता है और शास्त्र के अर्थ को नही जानता, वह दूसरे के द्वारा मार्ग-विवश अन्धे के समान ले जाया जाता है ॥६½-१०½॥

वास्तव मे वही स्थपति कर्मवित् एव कर्मदक्ष होता है जो निम्नलिखित वास्तु, शिल्प एव चित्र के कर्मों को ठीक तरह से जानता है—

(क) वास्तु-विधान का पूरा ज्ञान तथा उसके रेखा-चित्रो आदि मे वास्तु-विधि अर्थात् विनिवेश्याविनिवेश्य स्थानो के मान (प्रमाण), उन्मान (विशिष्ट मान) के साथ-साथ वास्तु-क्षेत्र से सम्बन्धित अखिल कर्मों के कौशल की अनिवार्य योग्यता।

(ख) चौदह लुमा-लेख—लुमा, वितान (डोम) की सहचरी है वह शिल्प-कला मे आती है। प्रासाद-वास्तु मे वितान-रचना एव लुमा-विन्यास प्राचीन

भारतीय स्थपतियों का विशद वास्तु-वैदग्ध्य माना जाता था। इसी प्रकार चतुर्विध गण्डिकाच्छेद का विज्ञान भी परम निष्णात स्थपतियों की कला है। सुमा प्रस्तर-कला (प्लास्टर) में आती है तथा गण्डिका का सम्बन्ध पाषाण-कला में है। दोनों ही पुष्पाकृतियों में निर्मेय एवं छेद्य हैं। सुमा-रचना एवं गण्डिकाच्छेद के समान सप्तविध वृत्तच्छेद भी शिल्पकला के पुष्ट परिपाक में परिकल्पित है। गोल-गोल पुष्पों की कारीगरी कतिपय मध्यकालीन राजभवनों में आज भी दर्शनीय है। प्राचीन वास्तु-कला इतनी अलंकृत थी कि उसमें शिल्प एवं चित्र दोनों ही अनिवार्य सहचर थे। इस प्रकार सन्धिकर्म, सन्धान-कर्म आदि रेखाकर्म आदि के सुश्लिष्ट विशुद्ध वास्तु-कृत्य को जानने वाला ही सच्चा कारीगर समझा जाता था ॥१०½-१२॥

शास्त्र तथा कर्म दोनों में समर्थ अर्थात् दक्ष होता हुआ भी बिना नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा के स्थपति मदहीन हाथी के समान है। जो स्थपति प्रत्युत्पन्नमति कार्यवाहक होता है, वह अपने प्रज्ञा-ज्ञान से कर्म-काल में मोह को प्राप्त नहीं होता है। अप्रज्ञेय, दुरालोक, गूढार्थ, बहुविस्तर इस वास्तु-सागर का सतरण प्रज्ञारूपी जहाज पर चढकर प्रज्ञावान् स्थपति ही सम्पादित कर सकता है ॥१३-१५॥

ज्ञानी, वाग्मी और कर्मनिष्ठ एवं कर्म-कुशल होने पर भी स्थपति श्रेष्ठ नहीं कहा जाता, यदि वह शील (आचार) अर्थात् ईमानदारी से रहित है। रोष से, द्वेष से, लोभ से, मोह से और राग से अपनी दुःशीलता के कारण वह अचिन्त्य हो जाता है। शीलयुक्त स्थपति लोक में पूजित होता है, शीलवान् स्थपति सज्जनों के द्वारा भी समर्थित होता है तथा शीलवान् स्थपति ही सब कर्मों के योग्य है। ऐसे शीलशाली स्थपति का दर्शन प्रिय-दर्शन कहा गया है। इस-लिए शील की प्राप्ति एवं निष्ठा में स्थपति को पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये। शील से ही कर्मों की सिद्धि होती है और वे ही कर्म कल्याणदायक होते हैं जो शीलवान् स्थपतियों के द्वारा सिद्ध होते हैं ॥१६-१९॥

स्थपति के द्वारा निम्नलिखित आठ कर्मों का ज्ञान-सम्पादन परमावश्यक है—आलेख्य (चित्रकारी), लेप्यजात अर्थात् लेप-कर्म, दारुकर्म, काष्ठ-कला (पच्चीकारी), चय (चुनाई), पत्थर, पारा और धातु (सोना आदि) की कारीगरी और शिल्प-धर्म इन गुणों से युक्त स्थपति ही पूजित होता है। इन आठ अंगों से युक्त चार प्रकार के स्थापत्य (शास्त्र, कर्म, प्रज्ञा तथा शील) को जो विशुद्ध बुद्धि वाला स्थपति जानता है, वह शिल्पियों के समाज में पूजित होता है, उत्कृष्ट प्रतिष्ठा प्राप्त करता है और चिरायु होता है ॥२०-२२॥

अष्टाङ्ग-लक्षण
(अष्टाङ्ग-स्थापत्य)

वास्तु-तत्व की सिद्धि के लिए चार प्रकार का स्थापत्य (शास्त्र, कर्म, प्रज्ञा, तथा शील) बताया गया है। उसी का अब आठ अङ्गो से युक्त अर्थात् अष्टाङ्ग स्थापत्य का वर्णन किया जाता है। उन अगो मे पहला अग वास्तु-पुरुष की विकल्पना बतायी गई है। पुरनिवेश, द्वार-कर्म, रथ्या-विभाग, प्राकार-निवेश, अट्टालक-निवेश, प्रतोली-विनिवेश और विभाग-स्थान (अन्य नगर-विभाग) दूसरा अग समझना चाहिए और तीसरा अग प्रासाद-निर्माण और चौथा अग ध्वजोच्छ्रिति (इन्द्र-ध्वज की ऊँचाई) है। पाँचवाँ अग राजा का वेश्म तथा स्थानान्तर-विभक्ति अर्थात् राजधानी नगर मे राजोचित अन्य भवनो का निवेश कहाँ-कहाँ करना चाहिए। चारो वर्णों के अनुरूप तथा पेशेवरो के लिए घर कैसे और कहाँ बनाने चाहियें अर्थात् भवन-निवेश यह छठा अग है और सातवाँ अग यजमान की शाला का मान, यज्ञ-वेदी-प्रमाण और कोटि-होम-विधि बताया गया है। आठवाँ अग है—राज-शिविर-निवेश (छावनी) और दुर्ग-कर्म। जो स्थपति इन आठो अगो को जानता है वह श्रेष्ठ कहलाता है और वह यश और मान को प्राप्त करता है, तथा राजाओ के द्वारा पूजित होता है ॥१-७॥*

---

* यह भाषानुवाद है। निम्न तालिका से **अष्टाङ्ग-स्थापत्य** का सरलीकरण अपेक्षित है—

अष्टाङ्ग-स्थापत्य

१ **वास्तु-पुरुष विकल्पना** से तात्पर्य साइट-प्लानिग है अर्थात् यह नगर-निवेश, भवन-निवेश या प्रासाद-निवेश की प्रथम इकाई है। वास्तु-पद-विन्यास आजकल की भाषा मे साइट-प्लानिग या भवन का रेखाचित्र कहा जा सकता है। भारतीय स्थापत्य मे यह अत्यन्त प्राचीन परम्परा है और यह वास्तु-कला का मौलिक सिद्धान्त है जिसके द्वारा भवन के दिङ्सामुख्य आदि पर पूर्ण प्रकाश पडता है। इसकी सविस्तर चर्चा आगे के अध्याय मे की जावेगी।

२. **पुर-विनिवेश तथा द्वार-कर्म**—प्राचीन काल के नगर-निवेश अर्थात्

टाउन-प्लानिंग में सबसे पहले रक्षा, यातायात एवं स्थानादि-विभाग के लिए चारों दिशाओं एवं चारों उपदिशाओं में महाद्वारों एवं पक्षद्वारों का विधान परमावश्यक था। गोपुर-द्वार, प्रतोली, (पौरि) आदि आज भी प्राचीन स्मारकों में प्राप्त होते हैं।

द्वार-कर्म नगर के चारों ओर प्राकार-वलय पर आश्रित था अतः प्राकार-रचना, परिखा-खनन, वप्र-निर्माण, अट्टालक-विनिवेश आदि नगर-निवेश के प्रमुख अंग हैं। साथ ही साथ नगर की साइट-प्लानिंग नगर के मार्गों (राजमार्ग, रथमार्ग, यानमार्ग, घण्टामार्ग आदि नानावर्गीय प्रधान मार्गों) तथा प्रतोली (गली) आदि उपमार्गों पर आश्रित थी।

३. प्रासाद-निर्माण से तात्पर्य देव-मन्दिर-निर्माण है। समराङ्गण-सूत्रधार—वास्तु-शास्त्र में प्रासाद शब्द पारिभाषिक है जो केवल देव-मन्दिरों के लिए प्रयोज्य है। राज-प्रासादों के लिए राजवेश्म का प्रयोग किया गया है। मन्दिर-निर्माण भारतीय वास्तुकला की मूर्धन्य विभूति है। इस ग्रन्थ के दूसरे भाग में प्रासाद शब्द एवं उससे सम्बन्धित नाना अन्य विषयों जैसे उत्पत्ति, प्रतिकृति, आकार, सस्तव, अंग, प्रत्यङ्ग, भूषा, शिखर, रचना, शैली, देववृन्द, मण्डप, गोपुर, प्राकार आदि पर प्रकाश डाला जायेगा।

४ ध्वजोच्छ्रिति अर्थात् शक्रध्वजोत्थान (देखिए आगे का अध्याय)—यहाँ पर इतना ही सूच्य है कि प्राचीन स्थपतियों की परम्परा में इन्द्र उनका इष्टदेव माना जाता था अतः वे लोग इन्द्र-महोत्सव करते थे। इस महोत्सव में वे एक विमानाकार रथ बनाकर जुलूस निकालते थे।

५ नृपति-वेश्म अर्थात् राजवेश्म। राज-वेश्म की रचना भी प्रासाद (देव-मन्दिर) की रचना के समान भारतीय स्थापत्य का प्रमुख अंग है। राज-निवेश एक नगर-निवेश के समान निवेश था जिसमें राजोचित नाना हर्म्यों, भवनों, सौधों के साथ ५, ६, ७ कक्षाएँ, मण्डप, क्रीडास्थान, पड़ाव, दूतावास, अन्य राजाओं के उपयुक्त स्थानों के साथ-साथ बाजार, सड़कें और चित्र-शालाएँ आदि भी निवेश्य होती थीं।

६ चातुर्वर्ण्य-विभाग से तात्पर्य ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों एवं शूद्रों के अतिरिक्त अन्य व्यवसाय-जीवियों के घर कहाँ-कहाँ निवेश्य हैं—यह भी एक प्रमुख विषय था। इसे आजकल की भाषा में Folk-planning कह सकते हैं। इस अंग का समुद्घाटन ही इस भाग का विषय है। अतः प्राचीन काल में Civil Architecture (Secular or Domestic Architecture) विकसित नहीं था—यह आक्षेप निराधार सिद्ध होगा। जन-भवनों को शाल-भवनों में

जो व्यक्ति अशास्त्रज्ञ (मूर्ख), अकर्मज्ञ (क्रिया-कौशल-विहीन) स्थपति से काम करवाता है उसका वास्तु सिद्ध नही होता और सिद्ध होने पर भी वह सुखावह नही होता ॥८॥

इसलिए राजा का वही स्थपति हो सकता है जो कर्म और शास्त्र दोनो को जानता है तथा जो स्थापत्य के इन आठ अगो को समझता है ॥९॥

वास्तुशास्त्र के जो आठ अग हैं उनमे ५ अगो का इसी भाग मे प्रतिपादन होगा। प्रासादिक अग का सविस्तर वर्णन आगे करेगे ॥१०॥

अब उस सातवें अग का वर्णन करता हूँ जिसका यज्ञो मे प्रयोग किया जाता है। पहले पुर-निवेश सम्पन्न कर लें फिर वहाँ पर देव-मन्दिरो के निर्माण करने के बाद दक्षिण-पूर्व दिशा मे यज्ञ के लिए अपेक्षित पृथ्वी का माप कर लेना चाहिए। वहाँ पर चारो ओर चौकोर एक स्थान का निवेश करना चाहिए। अठारह हस्त के विस्तार के प्रमाण से उसका आयाम बनाना चाहिए। पूर्वद्वार का निर्माण आदित्य के पद मे विद्वानो को करना चाहिए उसके पश्चिम भाग में यजमान की कुटी बनानी चाहिए। उसका विस्तार १६ (सोलह) हाथ के आयाम का कहा गया है और उसकी पूर्वाभिमुखता प्रशस्त मानी गई है। यजमान की कुटी के द्वार पर जो देवता कीर्तित की गई है, उससे प्रारम्भ कर पूर्व से प्राग्वश का प्रकल्पन करे। उसकी स्थापना वेदी के मध्य भाग मे करनी चाहिए। अब प्रकल्पन के उपरान्त वेदि-रचना मे प्रक्रम-निवेश आवश्यक है। पूर्व-पश्चिम से ३६ प्रक्रम विद्वानो के द्वारा बताये गये हैं। कुटी-भाग मे ३१, बीच मे १८, शिरस्थान मे २४ प्रक्रम प्रकल्पित किये जाते हैं। पुरुष का शिर उस प्राग्वश मे तो प्रतिष्ठित ही किया गया है, इसलिए सब यज्ञो मे पूर्वोत्तर-विनिवेश प्रशस्त समझना चाहिए ॥११-१८॥

दूसरी वेदी ऐसी बनावे, जिसमे शकट जाती है। जो उत्तर वेदी बनाये वह उत्तर की तरफ हो। द्विहस्त आयाम-विस्तार वाला यहाँ पर यज्ञार्थ-होम-स्थान स्थापित करे। यजमान का सस्थान प्राग्दक्षिण मे कहा गया है। सदैव कटिपर्यन्त अथवा नाभिमात्र उसे बनाना चाहिए, उससे अधिक बनाने पर रूप मे विन्यास किया जाता था। इनके निर्माण मे सहज-प्राप्य वन्य-सामग्री (विशेषतः दारुमय) का उपयोग किया जाता था अतः वह अचिरान्नाशोन्मुख होने के कारण स्मारको मे बहुत कम पाई जाती है। किसी भी प्राचीन नगर-निवेश मे जहाँ-तहाँ कोई मकान नही बना सकता था। सब के अपने-अपने पद संरक्षित थे। यही वर्णानुरूप तथा व्यवसायानुरूप निवेश-व्यवस्था है।

अस्तु ! अन्य अंगो का विशदीकरण अपेक्षित नही।

दुर्भिक्ष अथवा अनावृष्टि होती है। यह यज्ञ-क्रिया कही गई है, अब कोटि-होम कहेंगे ॥१६-२२½॥

पुर के अभ्यन्तर भाग मे तथा अग्नि के पद मे (पुर मे) सदैव कोटि-होम करना चाहिए, तथा नित्य अथवा नैमित्तिक लक्ष-होम करना चाहिए ॥२२½-२३॥

अब भूमिवश कदाचित् यदि स्थान न प्राप्त हो, तो सब तरह ब्रह्मा के स्थान से होम के स्थान का निवेशन करे। ईशान दिशा का अवलम्बन करके वेदज्ञ ब्राह्मणो के द्वारा यह कार्य करवाना चाहिए। ऐसे ब्राह्मण पुरश्चरण के तत्वज्ञानी तथा षट्कर्म-निरत होने चाहिएँ। ऐसे नित्य शान्ति-परायण ब्राह्मणो के द्वारा राजा विजयी होता है। न तो वहाँ पर उपसर्ग उत्पन्न होते हैं और न लक्ष्मी उस पुर को छोडती है। अनावृष्टि का भय नही रहता। सदा सुभिक्ष रहता है। सब अगो से यह याज्ञिक अग प्रशस्त कहा गया है। स्थपति को तत्वज्ञ ब्राह्मणो के साथ यह सब समझ लेना चाहिये। यज्ञ-भूमि को ८१ पद (एकाशीति-पदवास्तु) मे ही नापना चाहिए ॥२४-२८॥

अब आठवे अग शिविर का निवेश कहता हूँ। जब राजा अपने स्थान से यात्राभिमुख हो तब तत्ववेत्ता स्थपति को शिविर के निवेश की परीक्षा करनी चाहिए और राजा को अर्थशास्त्र के जानने वाले विद्वान् अथवा स्वय स्थपति के द्वारा उसका प्रकल्पन करवाना चाहिए ॥२६-३०॥

शिविर चौकोर होवे और कही पर वृत्त (गोल), वृत्तायत अथवा चतुरश्रायत अथवा कही पर विषम भी हो सकता है। भूमि-भाग-वश दोनो तरफ महारथ्याओं से उसे युक्त करना चाहिए। शिविर के यत्नपूर्वक चार दरवाजे बनाने चाहिएँ ॥३१-३२॥

पुर-रथ्या-प्रमाण से सेना की रथ्या (सेना के जाने की सडक) आधी होती है। शिविर स्थापना की आकृति के सम्बन्ध मे यह प्रतिपादित किया गया है कि राजा के निवास का स्थान मित्र-पद पर अथवा पृथ्वीधर पर करना चाहिए, अथवा अर्यमा के पद पर या वैवस्वत के पद पर कहा गया है। मन्त्रियो का निवेश राजवेश्म के पश्चिम भाग मे, पुरोहित का उत्तर मे, बलाध्यक्ष अर्थात् सेनापति का पूर्व मे, तथा अन्तःपुर और भाडागार दक्षिण मे हो ॥३३-३५॥

राजा के गृह-प्रवेश करने पर दक्षिण की ओर घोडो का न्यास करना चाहिए और बाएँ हाथ हाथियो का न्यास करना चाहिए। इस प्रकार सैन्य का निवेश बताया गया है ॥३६॥

उस राज-वेश्म के बाहर परिखा बनानी चाहिए। उसका प्रमाण तीन, चार अथवा पाँच हाथो का कहा गया है। शिविर का विभाजन विद्वानो के द्वारा ६४ पद-वास्तु से कहा गया है। इस प्रकार के शिविर का निवेश बताया गया। अब दुर्ग-कर्म बताया जाता है ।।३७-३८।।

विजयार्थी राजा के लिए ६ प्रकार के दुर्ग कहे गए हैं—**जल-दुर्ग, पक-दुर्ग, वन-दुर्ग, ईरिण-दुर्ग, पर्वतीय** तथा **महा-दुर्ग**। इस प्रकार छ दुर्गों की प्रकल्पना राजाओ को करानी चाहिए। सब दुर्गों मे पर्वतीय दुर्ग प्रशस्त कहा गया है ।।३९-४०।।

दुर्ग का स्थान-विभाग १६ पद-वास्तु से बताया गया है। मध्य मे ब्रह्मा का असबाध स्थान कहा गया है। ब्रह्म-स्थान से लेकर राज-हर्म्य को ५ हाथ के प्रमाण से बनाना चाहिए। उप-रथ्याएँ तीन हाथ और बाकी सडके दो हाथ की कही गई है। समीप ही चारो ओर सब दुर्ग-रथ्याओ का विभाग कहा गया है। रथ्या के प्रमाण से ही द्वार बनाना चाहिए। परन्तु वह बहुत ऊँचा न हो, जिससे कि शत्रु की सेना उसमे प्रवेश कर सके। उसे सदैव सुरक्षित होना चाहिए ।।४१-४४½।।

दुर्ग-नायक के घर का स्थान ब्रह्म-स्थान के चारो ओर होवे, वैवस्वत, अर्यमन्, मैत्र अथवा पृथ्वीधर वास्तु-पदो के इन किसी देव-पदो पर दुर्गेश्वर का स्थान विनिवेश्य है। जैसा पुर मे पहले कहा गया है उसी प्रकार दुर्ग मे भी स्थान कहा गया है ।।४४½-४५।।

दुर्ग मे वीरो की स्थापना परमावश्यक है। ये वीर शुभ, निर्दोष, राजा के प्रिय, धनुर्वेद-विधि को जानने वाले, अस्त्र चलाने वाले और शास्त्र-पारगत होने चाहिये। इनके अतिरिक्त बहुत-सी सुन्दरी वीरागनाओ को भी दुर्ग मे स्थापित करवाना चाहिए। अन्त पुर बनवाना चाहिए। कोशागार का निर्माण भी कराना चाहिए और कुमारो को यहाँ पर निवास कराना चाहिए ।।४६-४७।।

इस प्रकार से दुर्ग-विधान का सक्षेप हमने बता दिया। वास्तु-शास्त्र का यह अष्टाङ्ग-सार हमने सक्षेप से स्पष्ट बता दिया, जिसके जानने से शिल्पी वास्तु-विद्या-समुद्र को बिना प्रयास पार कर लेता है ।।४८।।

भूमि-परीक्षा

देश-भेद—अब सक्षेप मे तुम्हारे लिए देश और देश की भूमिया एव उनकी सख्या और उनके विभाग कहता हूँ। इसलिए तुम सावधान होकर सुनो ॥१॥

जागल, अनूप, साधारण इन तीन भेदो से देश-भेद कहलाता है। अब त्रिविधात्मक इस देश का यथावत् लक्षण बतलाता हूँ ॥२॥

जागल—जिस देश मे पानी दूर हो, जो ईरिण-प्राय हो अर्थात् जहाँ पर रेत बहुतायत मे पाई जाती हो, जहाँ छोटे-छोटे काटेदार पेड हो, जहाँ पर वायु शुष्क, गर्म और तेज चलती हो, इसके अतिरिक्त जिसकी मिट्टी काली हो उसे जागल देश कहते हैं ॥३॥

अनूप—इसके विपरीत जिस देश मे पानी नजदीक हो, जो देश स्निग्ध हो, निम्न हो, शीतल हो और जहाँ पर मछलिया, मास, नदिया, सुन्दर-सुन्दर चिकने-चिकने ऊँचे-ऊँचे पेड बहुत सख्या मे पाये जाते हो, वह अनूप देश कहलाता है ॥४॥

साधारण—जिस देश मे ऊपर कहे गए दोनो देशो के लक्षण मिलते हो और जो न अधिक ठडा हो और न अधिक गर्म, उसको देश-विशारदो ने साधारण देश माना है ॥५॥

जागल आदि तीनो देशो मे अपने-अपने लक्षणो से युक्त सोलह भूमिया निम्न प्रविभाग से जाननी चाहिएँ। वे हैं—१ बालिश-स्वामिनी, २ भोग्या, ३ शीता-गोचर-रक्षिणी, ४ अपाश्रयवती, ५ कान्ता, ६ खनिमती, ७ आत्म-धारिणी, ८ वणिक्-प्रसाधिता, ९ द्रव्य-वती, १० अमित्र-घातिनी, ११. आश्रेणी-पुरुषा, १२ शक्य-सामन्ता, १३ देव-मातृका, १४. धान्य-शालिनी, १५ हस्तिवनोपेता और १६ सुरक्षा। इस प्रकार से ये सोलह भूमि की सज्ञाएँ बताई गई हैं। अब इनके अलग-अलग लक्षण कहता हूँ ॥६-९॥

जो भूमि बालिश राजा के द्वारा भी शासित की जा सकती है और जहा पर सत्पुरुष रहते हैं उसको बालिश-स्वामिनी भूमि कहते हैं ॥१०॥

जहा पर सुन्दर शान्ति वाले पुरुष भाग अर्थात् अपनी पैदावार का

भाग भोगादिक कर अधिकतया देते है उसको **भोग्या** भूमि कहते है ।।११।।

जिस पृथ्वी पर पर्वत के मध्य मे अथवा बाहर नदिया और नद पाये जाते हैं और जिसकी सीमा और क्षेत्रादि विभक्त हैं उसको **सीता-गोचर-रक्षिणी** पृथिवी कहते है ।।१२।।

जिस भूमि की सरिताओ, उसके पर्वतो और वनो मे मनुष्य बडे भय से प्रवेश करता है और जो मनुष्यो के आश्रय के उपयुक्त न हो उसे **अपाश्रयवती** कहते है ।।१३।।

जहा पर पर्वत, सरिताओ और कुञ्जो से भूमि रमणीक प्रतीत होती हो, जहा पर मनुष्य रहने के लिए लालायित रहते हो, उसको **कान्ता** भूमि कहते हैं ।।१४।।

जिस पृथ्वी पर सोना, चांदी आदि धातुएँ सदैव पैदा होती हो, और जहा नमक खूब पाया जाता हो, उसे **खनिमती** पृथ्वी कहते है ।।१५।।

जो भूमि दड-कोष तथा आसन अर्थात् राजा के दर्बार मे आसन आदि से (अर्थात् जहाँ के लोग दड के भय से धन और नौकरी के लोभादि से भी वश्य न हो) वशीकृत न किये जा सके और जहाँ पर आदमियो का निवास न्यून मात्रा मे पाया जाता है, उस भूमि को **आत्म-धारिणी** कहते हैं ।।१६।।

जहाँ पर बाजार मे बेचने-खरीदने योग्य वस्तुएँ निरन्तर प्रसिद्ध हो और वैश्यो से जो प्रसाधित एव अलकृत हो उसको **वणिक्-प्रसाधिता** भूमि कहते है ।।१७।।

जो भूमि शाक, अश्वकर्ण (वृक्ष-विशेष), खदिर (खैर), श्रीपर्णी (वृक्ष-विशेष), स्यन्दन (वृक्ष-विशेष), आसन, बास, वेत्र, शर आदि वृक्षो से युक्त हो उसको **द्रव्यवती** भूमि कहते हैं ।।१८।।

जहा पर जनपद (देश) ठीक प्रकार से विभक्त है और विक्रम को छोडे हुए है, अर्थात् परस्पर लडाई-झगडा नही करते और जहा पर मित्र लोग परस्पर मेल रखते है उसको **अमित्र-घातिनी** पृथ्वी कहते हैं ।।१९।।

जिस भूमि पर किले मे बन्द क्षुद्र कैदी न हो और जो विनीत पुरुषो के द्वारा परिपूरित हो, उस पृथ्वी को **आश्रेणी-पुरुषा** कहते है ।।२०।।

जहा पर सामन्त अर्थात् माँडलिक राजा मन्त्र एव उत्साहादि से पराङ्मुख रहते हैं उस प्रकार की भूमि को **शक्य-सामन्ता** कहते है ।।२१।।

जहा पर मेघादि की प्रतीक्षा न कर नदी आदि के जलों से लोग अपनी खेती करके निर्वाह करते हैं, उस भूमि को **देव-मातृका** कहते हैं ।।२२।।

जहा पर बोये गए बीज बिना प्रयास के ही अधिक पैदा होते हैं तथा जहा पर जुते हुए खेत कभी बाढ आदि से नष्ट नहीं होते हैं, उस कृष्टानुपहृत-क्षेत्र-भूमि को धान्या भूमि कहते हैं ॥२३॥

जिन भूमि के पर्यन्त पर्वतो मे हाथियो के वन पाये जाते हैं और जो राजा की सैन्य-वर्धनक्षम हो उसको हस्तिवनोपेता पृथ्वी कहते हैं ॥२४॥

जो भूमि नित्य विषम होने के कारण शत्रुओ के द्वारा काबू मे न की जा सके और जो विषम पहाडो और नदियो के द्वारा रक्षित हो उसको सुरक्षा भूमि कहते है ॥२५॥

इस प्रकार से भूमि के क्रमश सोलह प्रकार मैंने बताये । अब जनपदादि की भूमियो के सम्मिश्रित लक्षणो वाली अन्य भूमियो के विषय मे कहता हूँ ॥२६॥

जनपदो, खेटो (खेडो), ग्रामो, नगरो के बसाने योग्य जो प्रशस्त भूमियां वास्तु-शास्त्र मे बतायी गयी हैं उनका वर्णन करता हूँ। जो भूमियां धातुओ के स्पन्दन से शोभित कुजो, गुल्मो, वृक्षो, लताओ आदि से ढके हुए और बडी-बडी शिलाओ वाले पर्वतो से चारो तरफ से घिरी हो, तीर्थों के अवतार नहाने योग्य सुन्दर मीठे जल वाली नदिया जहा अधिक पायी जाती हो, और जिन नदियो के किनारे चित्र-विचित्र पेडो से शोभित हो, जिन भूमियो के वनो मे कोकिलाओ के मधुर आलाप हो रहे हो, जहा पर मधुमत्त भौंरे गुजार कर रहे हो और चित्र-विचित्र फल-पुष्पो से जो सुशोभित हो, जिस देश मे पानी का आधिक्य हो, भरे पूरे तालाब, देवखात, आदि जलागार हो, जिनमे कमलो पर भौंरो की श्रेणी गुजार करती हुई शोभा दे रही हो, जो बराबर सुगन्धयुक्त, सुन्दर, शीतल एव अभगुर तथा अक्षत सीमा वाले धान्य को उत्पादन करने वाले खेतो से हरी हुई हो, ऐसे गोचरो अर्थात् चरागाहो से शोभित हो, जिनकी क्षेत्र-सीमाएं विभक्त हैं और जहा बहुतायत से घास और ईंधन पाये जाते हैं, और बिना काटे वाले वृक्ष और सुडौल पत्थर एव वल्मीक भी हो, छोटे-छोटे सुन्दर स्थावर-जन्य-समुद्रो के अन्तरावकाश मे प्राप्त मीठे और शीतल जल वाली जलधाराएं जहा प्रशस्त मानी गई हो, जो भूमियां दुष्टो के द्वारा सताई नही जा सकती और जहा पर अनेक घर बनाये गये है, जहाँ पर भय और व्याकुलता का नाम नहीं है और जहा पर मन खूब रमता है—ऐसी उपरोक्त गुणवाली भूमि पर यथास्थान जनपद, खेटक, ग्राम, पुरादि का विनिवेश करना चाहिये ॥२७-३५॥

अब दुर्ग-निवेशोचित भूमियो का वर्णन करता हूँ। दुर्ग के लायक चार प्रकार की प्रशस्त भूमिया कही गई हैं—पर्वत, वन, जल, तथा प्राकार। इनमे से **गिरि-दुर्गावनि** अर्थात् पहाड मे किले के लायक भूमि वह होती है जो दुरारोहता के कारण भीतर से छेनी से काट-काटकर समतल बनाई जाती है। जहा तक **मूल-दुर्गावनि** अर्थात् जंगल मे बनाने लायक किले के उपयुक्त पृथ्वी का प्रश्न है, वह इस प्रकार के जगल मे होनी चाहिये जहा का रास्ता बडा ही गूढ हो और जहाँ पर काँटे वाले पेड़ हो और जलाशय पाये जाते हो। अब **जल-दुर्ग** के उपयुक्त पृथ्वी के विषय मे यह कहना है कि स्वादु जल वाले द्वीपो मे जहाँ पर अगाध जल भरा हो, जल के बाहर रमणीक प्रान्त-भूमियाँ दिखाई पडती हो—वैसी भूमि जलदुर्ग के लिये प्रशस्त होती है। शेष प्राकार-परिखोपेत दुर्ग स्पष्ट है ॥३६-३९॥

अब पुर-निर्माण के उपयुक्त सुन्दर भूमियो का वर्णन किया जाता है। स्निग्ध, सारवाली, शुद्ध, दक्षिण मे जलाशयो से युक्त, बहुत पानी वाली, घने वृक्षो से ढकी हुई और पूर्व की ओर जिनका प्लव हो, दूब, औषधिया, मूंज, कुरुन्द, कुश और वल्कल घिरे आदिको की वहुतायत हो, स्वादु और स्वच्छ पानी के जहाँ जलाशय हो, वास्तु, यज्ञो, देवमन्दिरो, बगीचो, आदि की सामग्री जहाँ पाई जाती हो अथवा शिल्प, यज्ञ, देवमन्दिर, आराम, उद्यान आदि से जो सम्भृत हो, तडाग और वापियो के स्थान से सुशोभित हो, जहाँ पर वाहन सुख-पूर्वक चल सकते हो और मिथुनो के लिये जहाँ पर रतिप्रद स्थान पाये जाते हो ऐसी भूमियो पर नगर, पुर, ग्राम आदि का निवेश अभीष्ट है। ॥४०-४३॥

ब्राह्मणादि अखिल वर्णों के लिए जो मही प्रशस्त मानी गई है अब उसका वर्णन करते हैं। जो कुकुम, अगरु, कपूर, इलायची, चन्दन आदि वृक्षो से मिश्रित रूप मे अथवा अलग-अलग सुगन्धित हो, जो कमल (कल्हार), रक्त-कमल, मालती, चम्पक, नील-कमल आदि स्थल अथवा जल मे पैदा होने वाले पुष्पो से सुगन्धित हो, जो गो-मूत्र, गोमय, (गोबर), दूध, दही, शहद, आज्य, (यज्ञ-सामग्री) आदि पदार्थों की गन्ध धारण करने वाली हो; जो मदिरा, माघ्वीक (एक प्रकार की अगूरी सुरा), गजमद, एव आसवो के समान गन्ध वाली हो तथा शालि-धान्य के पीसने से जो गन्ध निकलती है उस गन्ध के समान अथवा धान के सुगन्धो से सुगन्धित जो भूमियाँ हैं, उन पर ब्राह्मणादि सभी वर्णों के लिए ग्रामादि-निवेश इष्ट होता है ॥४४-४७॥

वर्णानुरूप—सफेद, लाल, पीली, काली पृथ्वी क्रम से विप्रादि वर्णों के लिये अथवा सभी के लिये हितकारक कही गई है ॥४८॥

स्वादानुरूप—मीठी, कसैली, तीखी, कडवी, क्रमश ब्राह्मण जातियो के लिए भूमि प्रशस्त मानी गई है। अर्थात् मधुरा ब्राह्मणो के लिए, कषाया क्षत्रियो के लिये, नितिक्ता वैश्यो के लिये एव, कटुका शूद्रो के लिये विहित है। अथवा मीठी ही सब वर्णों के लिये प्रशस्त मानी गई है ॥४६॥

स्पर्शानुकूल—जो पृथ्वी ग्रीष्म के आगमन पर ठडी मालूम पडे और जाडा आने पर गर्म मालूम पडे और वर्षा मे गर्म और ठडी दोनो मालूम पडे, उसको (आचार्यों ने) प्रशस्त भूमि कहा है ॥५०॥

शब्दानुरूप—जो पृथ्वी मृदग, वल्लकी (वीणा, सितार), वेणु, दुन्दुभि की ध्वनि के समान ध्वनि देती है और जिनकी हाथी, घोडे, समुद्र की ध्वनि के समान ध्वनि होती है वे शुभ भूमियाँ कही गई हैं ॥५१॥

अब उन अप्रशस्त अर्थात् अधम भूमियो का लक्षण बताते हैं जो पुर आदि के सन्निवेश के लिए परित्याज्य हैं। जो भूमि भस्म, अगार, कपाल एव हड्डियो, तुष, बाल, विष, पत्थर, चूहो के बिल, बाबियो एव पत्थरो आदि से भरी हुई हो वे त्याज्य है। रूक्ष (सूखी), नीची उपजाऊ, नीची, फटी-फटी, ऊसर उल्टी जल बहाने वाली, कम वर्षा वाली, ऊची-नीची, कडवे काटे-दार, निस्सार, सूखे, बिना फल वाले पेडो से युक्त तथा हिंसक पक्षियो से आकीर्ण (व्याप्त), कीडे मकोडे वाली ऐसी भूमियाँ गर्हित बताई गयी हैं। ऐसी भूमियो पर सुकृत (पुण्य), भोज्यान्न, भक्ष्याग्र, पेयादि उसी क्षण तूर्य आदि बाजो की आवाज के साथ नष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार की भूमियो को **अधम-भूमि** कहा जाता है ॥५२-५६॥

जिस भूमि पर सरिताए पूर्व की ओर बहती हो, उस भूमि को भी पुर आदि के लिए त्याग देना चाहिए, क्योकि वहा पर अवसर वे समय पाकर फिर लौट आती हैं ॥५७॥

पक्षियो की चर्बी, खून, मज्जा, पुरीष, मूत्र, मल, कोश के समान गन्ध वाली और तेल एव शव के समान गन्ध वाली पृथ्वी को त्याग देना चाहिए ॥५८॥

इसके अतिरिक्त जो पृथ्वी सदैव धूम्र-वर्ण अथवा मिश्र-वर्ण या विवर्ण अथवा रूक्ष-वर्ण हो वह भी ठीक नही है और न वह कल्याण देने वाली होती है ॥५६॥

जो पृथ्वी कडवी, कसैली अथवा नमकीन अथवा स्वेदन (पसीने वाली) होती है, उसको लोक-कल्याण को नष्ट करने वाली समझ कर पुरादि-सन्निवेश मे त्याग देना चाहिए ॥६०॥

जो पृथ्वी सदैव रूखे, तीखे, स्पर्श वाली और सदैव गर्म अथवा ठडी हो इस प्रकार की अकल्याण, स्पर्श से रहित पृथ्वी को त्याग देना चाहिए ॥६१॥

स्यार, ऊट, कुत्ता, एव गदहा की आवाज के सदृश आवाज वाली और जो निर्झर के स्वर के समाम ध्वनि वाली अथवा जो स्वय टूटे वर्तन के समान ध्वनि वाली हो, वह पृथ्वी भी कल्याण-कारिणी नही कही गई है ॥६२॥

इस प्रकार से गन्ध आदि के ज्ञान से भूमि के शुभ अथवा अशुभ का कथन किया गया है ॥६३-६३½॥

अब हल-कर्षण के द्वारा भूमि से निकली हुई चीजो से शुभाशुभ परीक्षा करनी चाहिये। हल से जोतने पर यदि लकडी निकले, तो अग्नि से उत्पन्न भय समझना चाहिए। यदि ईंट निकले तो धनागम समझना चाहिए। यदि ककड निकले, तो कल्याण। हड्डिया निकलें तो कुल का नाश, सर्प निकले तो चौरभय समझना चाहिए। इस प्रकार से जो भूमि अनूषर हो अर्थात् उपजाऊ हो, बहुतृणा हो और जो स्निग्ध हो तथा जिसका झुकाव उत्तर-पूर्व अथवा चारो ओर हो, जिसका उदर दर्पण के समान हो, वह भूमि प्रशस्त मानी गई है ॥६३½-६६½॥

मृत्तिका-परीक्षा—अब भूमि-चयन के नाना प्रकार बताने के उपरान्त भूमि-परीक्षा के प्रकारो का निर्देश किया जाता है। शुभ दिन पर उपवास रख कर, स्नान कर, पवित्र होकर, सफेद माला एव वस्त्र पहन कर ब्राह्मणो से स्वस्तिवाचन करवा कर और वास्तु-देवो की पूजा कर उस भूमि के मध्य भाग मे एक हाथ के प्रमाण मे गड्ढा खोदना चाहिए और फिर इस मिट्टी को निकाल कर इसी मिट्टी से उसी गड्ढे को भर देना चाहिए यदि वह मिट्टी गड्ढे के भरने से अधिक रह जाए तो भूमि को उत्तम समझना चाहिए और यदि बराबर हो तो मध्यम समझना चाहिए और गड्ढे से कम हो तो वह अधम-भूमि कहलाती है और मनुष्यो के लिए प्रशस्त नही कही गई है ॥६६½-६९½॥

भूमि की मृत्तिका-परीक्षा की दूसरी प्रक्रिया बताते है—

गड्ढे को खोदने पर उस मिट्टी के अन्दर यदि मणि, शख, प्रवाल आदि दिखलायी पडें, तो उस पृथ्वी को अत्यन्त प्रशस्त समझना चाहिए। वह भी पृथ्वी प्रशस्त कही जाती है जिसके खोदने पर मिट्टी मे अणुमात्र भी भूसी, बाल, ककड, अगार, भस्म, हड्डिया नही दिखलाई पडती ॥६९½-७१½॥

मृत्तिका-परीक्षा की **तीसरी प्रक्रिया** बताते हैं। खुदे हुए गड्ढे को पानी से भर कर सौ पग चलने चाहिएँ और लौट आने पर यदि उसमे उतना ही पानी रहे तो उस जमीन को सार्वकामिकी अर्थात् सब इच्छाओ को पूर्ण

करने वाली कहना चाहिए। यदि पानी कम हो जाए तो उसे मध्यम श्रेणी की भूमि कहते हैं और भी उससे कम हो जाए तो अधम होती है ॥७१½-७२॥

मृत्तिका-परीक्षा की चौथी प्रक्रिया सुनो। गड्ढे में ब्राह्मणादि वर्णानुरूप क्रमशः सफेद, लाल, पीली, काली मालायें यदि रक्खी जाएं और जिस वर्ण की माला न मुर्झाए उस वर्ण के लिए वह मिट्टी प्रशस्त मानी जाए ॥७३॥

मृत्तिका-परीक्षा की पांचवीं प्रक्रिया है—गड्ढे की उत्तरादि दिशाओं में दीपों को जलाकर रखना चाहिए। जिस दिशा का दीपक चिर समय तक जलता रहे, उस दिशा के वर्ण के लिए वह भूमि सुखप्रद मानी गई है ॥७४॥

इस प्रकार से पूर्ण लक्षणों से पुरोचित भूमियों का वर्णन किया गया। इसी प्रकार से खर्वट, ग्राम तथा खेट की भूमियां भी समझनी चाहिए और ब्राह्मणादि वर्णों के भवनों के लिए, राजाओं के शिविरों के लिए, तथा देवों के प्रसादों के लिए तथा यज्ञवाटों के लिए भी येही शुभद या अशुभद मानी गई है ॥७५-७६॥

इस प्रकार से नगरोचित नगरादि-निर्माण के लिए शुभ लक्षणों से युक्त इन शुभ भूमियों का मैंने प्रवचन किया। अब इनके बाद नाना प्रकार से परिकल्प्यमान हस्त (गज) के त्रिविध मान का वर्णन करता हूँ ॥७७॥

हस्त-लक्षण

मान-योजना

हस्त—अब उस तीन प्रकार के (अर्थात् ज्येष्ठ, मध्यम तथा कनिष्ठ) हस्त (गज) का निश्चित एव शास्त्रोक्त तथा ठीक-ठीक लक्षण कहते हैं—यह हस्त (गज) सम्पूर्ण वास्तु-कृत्यो एव कलाओ का हेतु तथा अखिल वास्तु-कर्मो का आधार माना गया है। मान, उन्मान एवं विभागादि के निर्णय का यही एक मात्र निवन्धन है। वास्तु-पद-अथवा क्षेत्र की परिधि उसके उदय एव विस्तार तथा दैर्घ्य का यही साधक होता है। इस गज के पूर्वोक्त ज्येष्ठ, मध्यम एव अधम तीन भेद होते हैं जिनको जानकर (शिल्पी) मोह नही करता अर्थात् वास्तु-निर्माण मे उसे सशय नही रहता ॥१-३॥

आठ रेणु का एक **बालाग्र**; आठ बालाग्र की एक **लिक्षा** और आठ लिक्षाओ की एक **यूका** होती है और आठ यूकाओ का एक **यवमध्य** कहलाता है। आठ, सात और छ यव-मध्यो से क्रमश ज्येष्ठ, मध्यम, एव कनिष्ठ **अंगुल** होते हैं। चौबीस अगुलो का एक हस्त (हाथ) बनता है ॥४-५॥

समझदार को वह हाथ आठ पर्वों से (इञ्चो से) युक्त बनाना चाहिए और हस्त का आधा भाग चार पर्वों वाला होता है। शेष भाग अगुलो से विभक्त होता है। उसके आगे तीन पर्व की रेखाएँ पुष्पो से विभूषित होनी चाहिएँ। शेष (पाँच अगुल-रेखाओ) मे पुष्प नही बनाने चाहिएँ। इस हाथ के आधे मे मध्य से पाँचवें अंगुल को दो भागो मे बाँटना चाहिए। आठवें अंगुल को तीन भागो मे और १२वें अगुल को चार भागो मे बाटना चाहिए। हस्त के अंगुलो को अपने ही अगुलो के प्रमाण से बनाना चाहिए। हाथ (अर्थात् गज) की मोटाई एक, डेढ, या दो इच (अगुल) के परिमाण मे विहित है। इस प्रकार से अगुलो के भेद से हस्त का भेद बताया गया ॥६-१०½॥

अब उसके निर्माण की लकडियो का और उसके देवताओ का वर्णन करते हैं। खदिर, अजन, वश आदि की लकडी सुन्दर, चिकनी और पक्की हो तो उससे हस्त का निर्माण कल्याणकारी बताया गया है। गाठवाली, छोटी, निर्दग्ध

पुरानी, फटी हुई, कमज़ोर, कोटरादि से आक्रान्त लकडी हस्त के लिए इष्ट नहीं है ॥१०½-१२॥

तीनो प्रकार के ज्येष्ठ, मध्यम, कनिष्ठ, इस हस्त की पर्व-रेखाओ मे मध्य से लेकर क्रमश नौ देवताओ को अर्थात् मध्य मे ब्रह्मा, पुन बाएँ पर्व मे वह्नि, दक्षिण पर्व मे यम, पुन बाएँ मे विश्व-कर्मा, दक्षिण मे वरुण, फिर वाम मे वायु, दक्षिण मे धनद, और वाम मे रुद्र, तथा दक्षिण मे विष्णु इस प्रकार से क्रमिक गणना मे रुद्र, वायु, विश्वकर्मा, वह्नि, विधाता, काल, वरुण, कुबेर तथा विष्णु ये नौ पर्व देवता हैं ॥१३-१४॥

वास्तु द्रव्य—विभागो मे तथा विशेषकर यानो मे जब मान प्रारम्भ करे तो वहा देवताओ की कल्पना आवश्यक है, परन्तु देवता-पीडन वर्ज्य है। उनका द्रव्यो से वेध, अथवा द्रव्य-मध्य-निवेश अनुचित है। इस प्रकार से पीडित देव-स्थान मे प्रत्येक का यथोक्त फल आदिष्ट है। शिर पीडा, अग्नि से जलना, मृत्यु, स्थपति का वध, अतिसार, वायु-व्याधिया, अर्थ-हानि, राज-भय, मकान बनाने वाले तथा मकान बनवाने वाले दोनो की बडी कुल-पीडा, ये उपरोक्त दोष क्रमश ब्रह्मा आदि के निपीडन से आपतित होते हैं ॥१५-१८॥

अब हस्त-धारण-विधि बताते हैं। ब्रह्मा और अग्नि के मध्य मे यदि हस्त को धारण किया जाए तो कर्म मे सफलता और पुत्र-लाभ होगा। ब्रह्मा तथा यम के मध्य मे यदि हस्तसूत्र स्थापित किया जाए, तो कर्म ठीक भी होता है और स्थपति (राज) का भी अक्षय ऐश्वर्य बढता है। विश्वकर्मा और अग्नि के मध्य मे यदि हस्त-सूत्र की स्थापना की जाए तो गृहपति एव स्थपति दोनो ही दीर्घ आयु वाले होते हैं और शीघ्र नहीं मरते। यम और वरुण इनके मध्य म यदि मध्यम हस्तसूत्र की स्थापना करें और उसके स्थापन मे मध्य और अन्त भाग ठीक तरह से उतरें तो पुर की वृद्धि कही गई है। वायु और विश्वकर्मा इन दोनो के बीच मे यदि हस्त धारण हो तो सब कर्मो के अन्त शुभ होते हैं और वे सब कामनाओ के पूर्ण करने वाले होते है। कुबेर और वरुण के मध्य मे यदि मध्यम हस्त सूत्र की स्थापना की जाये, तो लोक मे न तो अनावृष्टि का भय रहता है, न देश-भग का ही भय रहता है। रुद्र और पवन के मध्य मे यदि सुन्दर हस्त की स्थापना की जाय, तो उस लक्ष्मीवान् आदमी की कार्यसिद्धि होती है, इसमे ज़रा भी संशय नहीं होता। विष्णु और कुबेर के मध्य मे यदि हस्त धारण किया जाय, तो ऐसा करने पर अनेक प्रकार के भोग आदमी को मिलते हैं ॥१९-२७½॥

ज्येष्ठादि इन हस्तों की अब सज्ञाएँ बताते हैं। वास्तव मे मेय वही है

जिससे कोई कृति बनती है। यवाष्टक-निष्पन्न आठ अगुलो से बनाया हुआ अच्छी तरह से फैला हुआ वह ज्येष्ठ हस्त विद्वानो के द्वारा **प्राशय** नाम से कहा जाता है। और जो हस्त सात यव-क्लृप्त अगुलो से बनाया गया हो वह हस्त-विशारद पडितो के द्वारा **'साधारण'** इस नाम से मध्यम हस्त कहा गया है। जिसकी मात्रा कम हो उसको **शय** नामक हस्त कहते है और इस कारण वह छः अगुल वाला हस्त **मात्राशय** कहलाता है ॥२७½-३१½॥

अब हस्त-प्रयोग पर प्रकाश डाला जाता है। खेट, ग्राम और पुर आदि मे प्रासाद, घर, परिखा, द्वार, गली, सभा आदि मे विभाग, आयाम, और विस्तार तथा इनके निकलने के मार्ग, इनकी सीमा, इनके क्षेत्र इनके अवकाश, वन, उपवन के भाग, देशान्तर-विभाग और मार्ग के योजन, क्रोश, गव्यूति आदि प्रमाण भी और खात-क्रकच-राशियां भी (खात, आरा आदि) प्राशय-नामक हस्त से नापने चाहिएँ ॥३१-३४॥

तलो की ऊचाइयाँ, मूल स्तम्भ, भूमि के नीचे जलोद्देश तथा दोला, जल-वेश्म एव शस्त्र आदि तथा पात-मान का निर्णय, पर्वतो मे काटकर बनाए गए घरो और सुरगादिको तथा वाटी मार्ग के मान साधारण सज्ञा वाले हस्त से नापने चाहिएँ ॥३५-३६½॥

कूपो और वापियो के, हाथी, घोडो और मनुष्यो के प्रमाण, गर्री, चर्खी, (गन्ना पेरने वाला यन्त्र) तथा हल—ये सब मात्राशय नामक हस्त से नापने चाहिएँ ॥३६½-३९॥

इस तरह से तीन भेद वाले हस्त का लक्षण कहा गया है। अब सामान्य मानो (परिमाणो) का सज्ञा-भेद कहते हैं। एक अगुल को **मात्रा** कहते हैं, दो अगुलो को **कला** कहते हैं, तीन अगुलो को **पर्व** कहते हैं, चार अगुलो को **मुष्टि** कहते हैं, पाच अगुलो का **तल** कहलाता है। **कर-पाद** छ अगुलो का होता है। सात अगुलो की **दिष्टि** कहलाती है। आठ अंगुलो की **तूणि** कहलाती है। नव से **प्रादेश** और दस अंगुलो का **शयताल** कहलाता है। ग्यारह अगुलो का **गोकर्ण** होता है। बारह अगुलो की **वितस्ति** और चौदह अगुलो का **पाद** कहलाता है तथा २१ अगुलो की **रत्नि** होती है। इसी प्रकार २४ की **अरत्नि** कहलाती है। ४२ अगुलो का **किष्कु**, ८२ अंगुलो का **व्याम** (पुरुष), ९६ अगुलो का **चाप** (नाड़ी-युग) तथा १०६ अगुलो का **दंड** कहलाता है। तीन धनुष का **नल्व**, एक हज़ार धनु का १ **क्रोश**, २ क्रोशो की एक **गव्यूति**, और चार गव्यूतियो का एक **योजन** मानवेदी मानते हैं ॥४०-४७½॥

अब संख्या-स्थानो का संकीर्तन करते हैं—एक (१), दश (१०), शत (१००), सहस्र (१०००), अयुत (१००००), नियुत (१०००००), प्रयुत (१००००००), अर्बुद (१०००००००), अन्यर्बुद (१००००००००), वृन्द (१०००००००००), खर्व (१००००००००००), निखर्व (१०००००००००००), शंकु (१००००००००००००), पद्म (१०००००००००००००), अम्बुराशि (१००००००००००००००), मध्य (१०००००००००००००००), अन्त्य (१००००००००००००००००), पर (१०००००००००००००००००), अपर (१००००००००००००००००००), तथा परार्ध (१००००००००००००००-०००००) ये संख्याए उत्तरोत्तर दश (दहाई) की वृद्धि से समझनी चाहिएँ। इस तरह ये वीस सख्याओ के स्थान कहे गये ॥४७½-४६½॥

अब काल-सख्या के प्रमाण वताते हैं। आख के निमेप को निमेष कहते हैं। १५ निमेप की काष्ठा होती है, ३० काष्ठा की कला कहलाती है, ३० कलाओ का एक मुहूर्त, ३० मुहूर्तो का एक अहर्निश, १५ अहोरात्रो का पक्ष कहलाता है, दो पक्षो का मास और दो मासो की ऋतु होती है, तीन ऋतुओ का अयन कहलाता है और दो अयनो का वर्ष कहलाता है। इस प्रकार कालज्ञ विद्वानो के द्वारा काल की दस सख्याए वताई गई हैं ॥४६½-५३½॥

इस प्रकार से हमने अखिल हस्तमान का प्रतिपादन किया। ठीक तरह से काल की सख्या भी वताई। अब अन्तःपुर, जनपद, देवमन्दिर आदि से नगर-विभाग का वर्णन करते हैं। [परन्तु पुर-निवेश के सविस्तर प्रतिपादन के पूर्व पहले प्राथमिक अन्य वास्तु-कृत्यो पर भी प्रकाश डालना उचित होगा, अत आयादि-निर्णय आदि प्राथमिक वास्तु-कृत्यो पर पहले प्रवचन हो जाना चाहिये। दे० समराङ्गन-सूत्रधार का पुनर्गठन—अनुवादक]

आयादि निर्णय

(वास्तु एवं ज्योतिष)

शुभाशुभ मास—अब सूत्रपात-विधि का क्रम कहूँगा अर्थात् भवनारम्भ के लिये शुभाशुभ विवेचन एव तदनुकूल वार, तिथि का निर्णय आवश्यक है। शुभ मास के शुक्ल पक्ष मे शुभ दिन मे इस सूत्रपात विधि का विधान बताया गया है। चैत्र मे भवनारम्भ से स्वामी शोकाकुल होता है, वैशाख में वह धन से युक्त होता है, ज्येष्ठ मे गृहस्वामी विपत्ति को प्राप्त होता है, आषाढ मे पशु नष्ट हो जाते हैं, श्रावण मे धन-वृद्धि होती है और भाद्रपद मे घर रहने को नही मिलता। आश्विन मास मे लडाई और कार्तिक मे नौकर नष्ट होते हैं, मार्गशीर्ष मे धन-प्राप्ति, पौष मे अभिलषित सम्पदाएँ प्राप्त होती है। माघ मे अग्निभय, और फाल्गुन में अनुत्तम श्री प्राप्त होती है ॥१-४॥

शुभाशुभ तिथियाँ—द्वितीया, पंचमी, सप्तमी, नवमी, एकादशी, त्रयोदशी—ये शुभ तिथियाँ कही गई हैं ॥५॥

भवनारम्भ की सूत्र-पात-विधि मे गृहस्वामी के चन्द्र एव नक्षत्रों के बल की अनुकूलता प्रशस्त कही गई है। इसी प्रकार प्रासाद-कर्म मे सूत्रपात की यही क्रिया बताई गई है। पुर-निवेश मे और भवन के प्रारम्भ मे, नीव डालने मे, द्वार, स्तम्भ की ऊँचाई आदि मे भी यही क्रिया विहित है ॥६-७॥

पश्चिम-मुख घर, शुक्ल-पक्ष, शुभ-लग्न और कन्या, तुला और वृश्चिक मे सूर्य स्थित होने से शुभ होता है। यदि ऐसा न करें तो वह घर शून्य होता है और उसमे स्वामी की वृद्धि नही होती। कुम्भ, मृग और धनु मे सूर्य की स्थिति होने पर दक्षिण-मुख भवन का निर्माण नही करना चाहिए, क्योंकि वह निष्फल होता है और राजा से दंड और वधादिक का कारण होता है। मीन, वृष, और मेष मे सूर्य के स्थित होने से प्रांगमुख भवन न करना चाहिए, क्योंकि वह धन को नाश करने वाला और कलि (झगड़ा), क्षुद्रो, नृप और चोरो के द्वारा पीड़ा पहुँचाने वाला होता है। मिथुन, सिंह तथा कर्क मे सूर्य के स्थित होने पर उत्तर-मुख भवन का निर्माण नही करना चाहिए क्योंकि वह दरिद्रता और परए-दासता देने वाला होता है ॥८-११½॥

आयादि-विचार—अब वेश्मों के आय, व्यय, अंश और ऋक्षों का वर्णन करता हूँ। गृह-स्वामी के प्रमाण-वश से ठीक तरह विचार कर नगर में अथवा पुरादि मे दंडों से मान-विधान कहा गया है। इसे दण्डाश्रित मान कहना चाहिये। उनके अलाभ मे ठीक तरह से आय की विशुद्धि के लिए हस्तो के द्वारा मान करना चाहिए। जहाँ पर क्षेत्र मे हस्तो के द्वारा मान किया जाता है, वहाँ पर हस्ताश्रित आय होता है। क्षेत्र के अलाभ मे तो वही पर वह अंगुलो से ग्राह्य होता है, अंगुलो के द्वारा नापे गए क्षेत्र मे वह अंगुलाश्रित मान कहा है। उसके अलाभ मे क्षेत्र के अनुसार पादो से अथवा यवो से मान करना चाहिए। स्वामी के हाथ से अथवा कर्म-हस्त से भवनो मे मान होता है। परन्तु देवताओं के मन्दिरो मे केवल कर्म-हस्त से मान किया जाता है। पृथुत्व से दैर्घ्य को मारे और उसके बाद आठ भागो से हरण करे, जो शेष रह जाय उसको आय समझना चाहिए। वही शास्त्रोक्त ध्वजादिक भी जानने चाहिएँ। इन ध्वजाओं मे निम्न-लिखित उपलक्षण कहे जाते है—ध्वज, धूम, सिंह, श्वा, वृष, खर, कुंजर तथा ध्वांक्ष। प्राची आदि दिशाओ मे प्रदक्षिण और परस्पर अभिमुख और स्वतन्त्रता-पूर्वक, स्वच्छन्दचारी वृद्धि-विधायक आय की ये संज्ञाएँ पूर्वाचार्यों के द्वारा समुद्दिष्ट की गयी हैं। वृष, सिंह और गजवाली ध्वजाएँ प्रासादो, पुरों एवं वेश्मो मे मंगल-कारी कही गई हैं। ध्वज मे अर्थलाभ, धूम मे सन्ताप, सिंह मे भोग, कुत्ते मे कलि, वृष मे धन और धान्य, खर मे स्त्री-दूषण, गज मे मंगल दिखाई देते है, ध्वांक्ष मे तो मरण निश्चित है, वृष के स्थान मे गज रखे और वृषभ और गज के स्थान मे सिंह रखे, वृष को दूसरे स्थान पर न रखे, तो ध्वज सर्वत्र प्रशस्त माना जाता है। सिंह विशेषकर ब्राह्मण का कल्याण-कर्ता है। क्षत्रिय के लिए गज प्रशस्त है। वृषभ वैश्य के लिए प्रशस्त है। शूद्र के लिए ध्वज ही एक प्रशस्त है। वह सदा अर्थप्रद होता है। इस प्रकार से भवनो के ये सब आय वर्णित किये गए हैं ॥११½-२८½॥

आसन अर्थात् राजासन मे सिंह को और आतपत्र अर्थात् राजछत्र मे, गज को, इसी प्रकार चामर और व्यजनादि राज-चिह्नो मे, शस्त्रो मे, रथों मे भवनो मे, सब मे सिंह अथवा गज को प्रदान करे। सारी (पक्षिविशेष), पीढ़ा, गज, पर्याण (काठी) मे गज या वृषभ को प्रदान करे। अर्थ के रखने वाले पात्रो मे, शयनो मे गज को प्रदान करे। इसी प्रकार यान मे और वाहन मे भी बुद्धिमान् को गज की योजना करनी चाहिए। प्रासाद, मूर्ति, लिंग, पीठ, मण्डप और वेदियो मे, कूपो मे और देवोपकरणो मे ध्वज देना चाहिए। गृह मे समान ही विवाह की वेदी और मंडप इन दोनो मे आय की व्यवस्था होती है। रसोई मे धूम को और जलाधार जलाशय मे, थाली या अन्य भोजन-पात्र मे, अन्न

रखने वाले कोष्ठागार मे भी वृष दे। घर मे और गृहोपकरणो मे भी वृष को दे। गजशाला मे वृष अथवा गज को दे। अश्वशालाओ मे, गोशालाओ मे, और गोकुलो मे वृप को दे। गजशालाओ मे, अश्वशालाओ मे और वृप-शालाओ मे यत्नपूर्वक सिंह का वर्जन करे। अधमों के लिये खर, ध्वाक्ष, घूम, और श्वान ये शुभ कहे गए हैं। अग्नि-जीवियो के लिए धूम प्रशस्त कहा गया है और सन्यासियो के लिए ध्वाक्ष हितकारी कहा गया है। स्वगणो, चाडालो के अपने घरो के लिए 'खर' शुभ कहा गया है। इसी प्रकार नटो, नर्तको तथा वेश्याओ के भवनो के लिये भी 'खर' शुभ कहा गया है। कुम्भकारो, धोबियो आदि के भवनो के लिए भी यही विधान है ॥२४½-३५½॥

व्यय-विचार—घरो आदि मे क्षेत्रफल को आठ भागो से गणना करे, तीन घन से शेष प्राप्त करे। अष्टहृत क्षेत्र या नक्षत्र मे व्यय होता है। **पिशाच, राक्षस** और **यक्ष** इन तीन नामो से व्यय माना गया है।

अशक-विचार—क्रमश सम, अधिक न्यून आय से क्षेत्रफल मे व्यय को क्षिप्तकर और गृहनाम और अक्षरो को भी क्षिप्त करके तीन से भाग का हरण करे और जो बाकी बचे वह **अशक** कहलाता है। जिस प्रकार चतुरग मन्त्र मुख्य है और लग्न मे नवाशक मुख्य है, उसी प्रकार से घरो मे प्रधानतया तीन अश मुख्य होते हैं। वे हैं—**इन्द्र, यम और राजा**। इन तीन नामो से अशक होते हैं। यथार्थ नाम फल देने वाले ये तीनो जानने चाहिएँ ॥३५½-४०½॥

तारा-विचार—स्वामी के नक्षत्र से गणना करे और जब तक भरणी का नक्षत्र न आजाए तब तक गणना करनी चाहिए। फिर उसमे नौ से भाग करने पर जो शेष हो उसे तारा कहा गया है। १ **जन्म** २ **सम्पत्** ३. **विपत्** ४. **क्षेम** ५ **पाप** ६. **साधक** ७. **नैधनी** ८. **मैत्री** और ९ **परम मैत्री**—ये सज्ञाएँ कही गई हैं। ये फल मे सब समान है। तीसरी, सातवी और पाचवी तारा स्वामी के गृह मे वर्जित कही गयी हैं। पहली, दूसरी, आठवी तारा को मध्यम तारा कहा गया है। अनिष्ट ऋक्ष मे भी और अष्टम चन्द्रमा मे भी चौथी, छठी और नवमी ताराएँ मनुष्यो का दुरित अर्थात् पाप ले जाते हैं। **सुर, राक्षस** और **मर्त्य** सज्ञा वाले ऋक्षो के तीन गण होते है। जो गण और ऋक्ष (नक्षत्र) स्वामी का होता है उसी गण और नक्षत्र का घर शुद्ध होता है। १. मृग २ अश्विनी ३. रेवती ४. स्वाती ५. मैत्र ६. पुष्य ७. पुनर्वसु ८. हस्त ९. श्रवण—ये नौ **देवगण** होते हैं। १. विशाखा २. कृत्तिका, ३. आश्लेषा ४ नैऋत ५. वारुण ६. मघा ७. चित्रा ८. ज्येष्ठा ९. धनिष्ठा—ये नौ **राक्षसगण** कहलाते हैं। १. आर्द्र २. भरणी और ३. रोहणी—ये तीन पहिले वाले नक्षत्र और छः बाद वाले मिलकर नव-गण **मानुषगण** समझने चाहिएँ ॥४०½-४८½॥

जिस घर के गण-साम्य, शुभ नक्षत्र और आय से व्यय कम तथा हित-कारी अंश होते हैं, वह घर शुभ फल देने वाला होता है ॥४८½-४९½॥

आय, व्यय, योनि, नक्षत्र, भवनाशक और गृहनाम ये घर के छः करण जानने चाहिएँ। तीन शुभ करणो से शुभ वेश्म, दो और एक से अशुभ और चारो करणो से अति शुभ घर होता है। घर समान आय और व्यय वाला नही होना चाहिए और न अ-व्यय होना चाहिए और न अधिक-व्यय होना चाहिए। द्वितीयांश, असमान-योनि और असमान-नक्षत्र वाला घर नही बनाना चाहिए और स्वामी के तुल्य अभिधान वाले घर को दूर ही से त्याग देना चाहिए। समान-सप्तक, एक-नक्षत्र, तीसरा-ग्यारहवा और चौथा तथा दशवा—ऐसे नक्षत्र मे घर बनवाना चाहिए ॥४९½-५४½॥

छः कोष्ठ वाला, तीन कोने वाला और साथ ही साथ दूसरा और बारहवाँ वाला इस प्रकार के भवन वर्ज्य हैं। षट्-कोष्टक गृह मे मृत्यु, दैन्य तथा वियोग प्राप्त होते हैं। त्रिकोण मे वसने वालो को दुःख और वैधव्य उत्पन्न होता है। द्विर्दादश मे वसने वालो को पुत्र, पौत्र, गुरु, बन्धु और धन आदि का नाश प्राप्त होता है ॥५४½-५५॥

आठ से हृत क्षेत्रफल के ख (०) नेत्र (२) शशि (१) (अर्थात् १२०) इनमे विभाजित होने पर जो शेष बचे उसमे जीवन और पाच से विभाजित करने पर मृत्यु बताई गयी है ॥५६॥

सभुज, षड्दारु-सहित, मुख-मडप से युक्त भवन के आयाम और पृथुत्व से मान करके विभाजन करे। जो वास्तु सब प्रकार से शोधित और ठीक तरह से नापा गया हो वह स्वामी के लिए धन्य है और स्थपति के लिए बडा कीर्ति-कारक होता है। स्त्रियो, पशुओ, मनुष्यो, कीर्ति, आयु, धन, धान्यो से प्रमोद एव महोत्सवो से अर्चित वास्तु वृद्धि को प्राप्त करता है ॥५७-५९॥

पताकादि षट् छन्द—मेरु, खड-मेरु, पताका, सूचिका, उद्दिष्ट और नष्ट ये छः छन्द कहे गए है ॥६०॥

मेरु—एक मे एक उत्तर कोष्ठो को अपनी इच्छा से विन्यसित करे। आदि से प्रारम्भ कर फिर बढता जाय, जब तक दोनो पार्श्वो का एक-सा सम्पादन हो जाय तब मेरु छन्द निष्पन्न होता है। मेरु की एक से अधिक सख्या होती है और शराव के समान उसकी आकृति होती है। प्रथम कोष्ठ का जो रूप होता है वही बगलो का रूप बन जाता है। उर्ध्वस्थित इन दोनो के मध्य मे पृथक् स्थापित रूप हो जाता है, पुन मनचाही क्रिया-कल्पनाओ की सख्या अन्त की पक्ति मे मिल जाती है ॥६१-६३॥

खण्डमेरु—उसी प्रकार एक पार्श्व से खडमेरु का विन्यास करे। उसके कोष्ठक प्रवृद्ध हो और अक दूसरी पक्ति मे छोर तक, पहलो मे शून्य रखे और दूसरे कोष्ठो मे भी पहले की तरह, फल भी वैसा ही ॥६४॥

दूसरा खण्डमेरु—अब दूसरे खण्डमेरु का वर्णन किया जाता है। वहाँ पर कोष्ठो की सख्या अपनी इच्छानुसार करे ॥६५½॥

पताका-छन्द—एक सख्या कम करके पुन. नीचे बाईं ओर झुके हुए एक जिनके आरम्भ मे है और एक ही जिनके अन्त मे है, इस प्रकार के अको की पहली पक्ति मे रखे। इसमे भी यही क्रिया करे, पुन तृतीय आदि कोष्ठको मे क्रमश. विकरण-योग से उत्पन्न अथवा ऊँचे और नीचे योग से उत्पन्न अन्य अको का न्यास करे। पुन विकरण-योग से उत्पन्न फल की एक कोष्ठ मे प्रकल्पना करे, अभीष्ट सख्या को एक से अधिक तिरछा लिखे। मध्य मे दुगुने-दुगुने अन्त. कोष्ठ-रूपादि का न्यास करे। उनमे से पीछे एक संख्या कम करे और आगे एक को दुगुना कर यदि परा सख्या का अतिक्रमण न हो तो **पताका-छन्द** कहा जाता है ॥६५½-७०॥

सूची-छन्द—उसको छोडकर पहली आदि इष्ट सख्याओ से अक-विन्यास वाली सख्याओ को अलिन्दो से प्रकल्पित कर एक-एक को इष्ट स्थानो मे लिखे। पुन. अन्त की छोडकर पहले-पहले वाली को दूसरी-दूसरी से मिलाए। पुन. अन्त से आरम्भ कर पीछे लौटे, जहाँ पर अलिन्द आदि में यह सख्या निकले, उसे **सूची** कहते हैं ॥७१-७४॥

उद्दिष्ट तथा नष्ट छन्द—उद्दिष्ट मे इष्ट सख्या को स्थापित करे, पुन. उसको बराबर विभाजित करे। रूप वाली सख्या लघु स्वरूप के दलन मे आधे सहित एक मे जब गुरु बन जाये और इष्ट पद की प्राप्ति हो जाये और सारे लघु हो जाये तब अलिन्द का उदय होता है, और फिर छन्द को समुद्दिष्ट करके अन्त लघु मे एक जोडा रखे, फिर दुगुना-दुगुना गुरुओ का विन्यास कर फिर इस क्रिया को उलट दे, लघु के स्थान मे एक गुरु रखे तो नष्ट मे आदि सख्या वाला घर कहलाता है। कोष्ठ मे एक-एक की वृद्धि से ऊपर की ओर पक्तियो को न्यास करे, जो इष्ट हो उनमे एकादि सख्या लिखे। इस रचना मे न केवल अलिन्दो का ही ज्ञान होता है बल्कि मूषा (झरोखो, खिडकियो) आदि स्थानो की सूचना भी मिलती है ॥७५-८०॥

इन्द्रध्वज-निरूपण

देवताओ की अभीष्ट-सिद्धि के लिए और राक्षसो के वध के लिए जिस प्रकार ब्रह्मा ने शक्र-ध्वज का उत्थान बताया है वह कहा जाता है ॥१॥

बृहस्पति ने भगवान् कमल-भू ब्रह्मा से पूछा कि किस प्रकार से इन्द्र के द्वारा देवद्रोही राक्षस जीते जा सकते है। ब्रह्मा ने उत्तर दिया कि तुम लोग मिलकर अखिल रत्नो की ध्वजा बनाओ और उसको आभिचारिक मन्त्रो से अभिमन्त्रित कर धारण करो। यन्त्र पर नौ पक्षियो से युक्त उसको ठीक तरह रखकर देवसेना के आगे ले जाते हुए तुम लोग शत्रुओ को जीतो ॥२-४॥

ब्रह्मा ने इस इन्द्रध्वज के तीन रूप दिये—एक सहस्रधार, दूसरा रिपुकुलान्तक तथा तीसरा दिव्यमय। इसी के लिए बलवर्धक इष्टि अर्थात् यज्ञ विहित है। और उन कर्म मे इन्द्र अखिल शत्रुओ पर विजय प्राप्त करता है ॥५-६॥

विजय की इच्छा रखने वाले उस इन्द्र ने शीघ्र ही चित्त से उस यन्त्र-स्थित ध्वजा का सृजन किया, जिससे शत्रुओ को मोह लिया। उसको देखकर आदित्य, वसुगण, इन्द्र, रुद्रगण, विश्वदेव और दोनो अश्विन और मरुत ने आभूषणो मे उसको आभूषित किया। इस तेजस्वी ध्वजा ने अपने वेग से देखते ही देखते शत्रु की सेनाओ का तेज, बल, शरीर, चेष्टा और पराक्रम हरण कर लिया। उस इन्द्र-ध्वज की पूजा कर देवेन्द्र इन्द्र ने बलवान् शत्रुओ को भी युद्ध मे अपने वज्र से तीन रात मे ही जीत लिया। तदनन्तर उससे प्रसन्न होकर उस इन्द्र ने विष्णु के नक्षत्र मे द्वादश तिथि मे त्रैलोक्य का राज्य प्राप्त कर उसका अभिषेक किया। सब लोगो की पूजा कर सब लोगो से स्वय पूजित हो ध्वजा की पूजा कर वृत्रासुर-निपूदन इन्द्र ने उसको स्तुतियो से तृप्त किया। उसके बाद उस ध्वजा को अपने पास देखकर इन्द्र उससे बोले—इन्द्र-ध्वज नाम से सब लोग तुम्हारी पूजा करेंगे तथा शास्त्रानुसार निमित्तो को देखकर राजा लोग भी तुम्हारी पूजा करेंगे ॥७-१४½॥

तब से, जब से इन्द्र को वर-प्रदान मिला, सब लक्षणो से युक्त यह इन्द्र-ध्वज राजाओ के द्वारा पूजित होती है। किला, मन्दिर, यज्ञवेदियाँ, विचित्र-स्थालिका-शाक और भक्ष्य एव पान आदि प्राय सभी पुण्य कर्म मे यह शक्र-

ध्वजोत्थान आवश्यक है। यदि दुर्धर्ष शत्रु पर विजय पाने की इच्छा है और यदि तेज, बल और यश प्राप्त करने की इच्छा है तो इस शक्रध्वज का निर्माण आवश्यक है। सेना मे अथवा पुर मे इन्द्र की प्रतिष्ठा कर विजय के लिए अथवा अभिप्रशमन के लिए जिस प्रकार का शक्रध्वज का उत्थान-विधान राजा लोग करेंगे, उसका पूर्ण रूप से प्रतिपादन किया जाता है ॥१४½-१६॥

वन से पूर्वोक्त विधि से (अर्थात् जिस प्रकार का दारु-आहरण—लकडी लाना आगे 'वन-प्रवेश' अध्याय मे बतायेंगे) लाये हुए द्रव्य को—पाद्य एव अर्घ्य आदि से पूजन कर गन्ध और मालाओ से अलकृत कर ब्राह्मणो की पूजा कर—पवित्र देश मे पूर्व अथवा उत्तर दिशा मे सावधान तथा प्रयत्नपूर्वक उतारे। कर्मप्रवीण स्थपति इसके बाद पुर के पूर्व अथवा उत्तर भाग मे कारीगरो के द्वारा प्रथम ध्वजा का फिर अन्य सब यन्त्रो का निर्माण करावे। ध्वज बत्तीस हस्तो के प्रमाण का श्रेष्ठ, अठाइस का मध्यम, और चौबीस का निकृष्ट कहा गया है। मूल का विस्तार ध्वजा के आयाम से हाथ-हाथ पर आधे अगुल का करना चाहिए और आगे का विष्कम्भज-मूल विस्तार के आधे से अथवा सब मे मूल विस्तार के आधे से ध्वजा के मूल के आठवें अश से कम कुष्य का विस्तार इष्ट कहा गया है, उस विस्तार के आधे से उसकी मोटाई और मोटाई की तिगुनी चौडाई विहित है। ध्वजा के विस्तार-बाहुल्य के साथ अघ्रि (चरण) के बाहुल्य से विस्तृत आधे आयाम से शुभावह पीठ बनाना चाहिए। ध्वज-कुष्य से भ्रम-पीठ (चक्की) तक जाने वाला वेध नापना चाहिए। कुष्य की कोटि से अधिक तथा कोटिद्वय से आयत दो गोल अक्ष (पहिये) बनाने चाहिएँ। भ्रम के विस्तार से विस्तृत और भ्रम की मोटाई से मोटे चरण बनाने चाहिएँ। उसी युक्ति से वेध मे इन्ही के विस्तार से दुगुनी ऊचाई मे ध्वजा के विस्तार के चार भाग के विस्तार से यहाँ पर पीठ बनाना चाहिए। मध्य मे दोनो प्रान्तो पर आश्रित मल्लप्रतिष्ठित उस पीठ के दोनो स्तम्भनीय द्वारो पर दृढ दक्षिणोत्तर की ओर प्रतिक्षोभ करने वाला पराङ्मुख मुद्दार्गल वेतु के व्यास के आधे से विस्तृत उसकी लम्बाई के आठ अश से उच्छ्रित विस्तार और आयाम मे बराबर इन्द्र का घर बनाना चाहिए। यन्त्र का मल्ल उसकी पीठिका, उसके दोनो स्तम्भ और स्तम्भ-विनिर्गत दोनो बाहु, शक्रमाता और कुमारियाँ ध्वज के विस्तार से विस्तृत बताई गई हैं। सबके नीचे के भाग मूल देश से अपने विस्तार से चौगुने अथवा पँचगुने अथवा सतगुने बनवाने चाहिएँ। कुमारियो की जो ऊँचाई त्रिगुणित छठा अश बताई गई है, इन्द्र-माता का मान तो सबो से अष्टमांश अधिक बताई गई है।

कुमारियो की उस ऊचाई के सात भागो मे वेध का अपना विस्तार बताया गया है, और निर्वेध चौकोर लकट सदा समाहित रहता है। इसके ऊँचे और नीचे सात अश पर रहने वाले सूचीमान के प्रमाण से दो अन्य निर्वेध सूचीवेधों का निर्माण करना चाहिए। कन्या के व्यास के तीन भाग से सूची का विस्तार होता है। एक पादक्रम उसका बाहुल्य बताया गया है और वह सुन्दर लकडी से बनाई जाती है। उसकी सहति बडी दृढ होती है। लकट का विस्तार कुमारी के व्यास से दुगुना होता है। इसी प्रकार इन दोनो अर्थात् सूची और लकट के बाह्यान्तर को जानकर यन्त्र की योजना करनी चाहिए। उन दोनो के नीचे उनके आधे से सूची के विस्तार से विस्तृत दो मृगालियां बनानी चाहिएँ। सूची और कन्या के सम्बन्ध के क्षेत्र का लेखन करना चाहिए। अग्नि सहित ध्वजा के मूल का आधार लकट मे विस्तार और आयाम बताया गया है। बाहु और अक्षवेध इन दोनो को अक्षो से दृढतापूर्वक ठीक तरह से योजित करना चाहिए। पाँचो कन्याओ की प्रकल्पना एक सदृश है। इस प्रकार से सभी यन्त्रो की आनुपूर्वी (अर्थात् क्रमश) रचना कर पुन उनकी स्थापना करनी चाहिए ॥१९-४१॥

शक्रध्वजोत्थान—आश्विन 'कुवार' के महीने मे शुक्ल-पक्ष प्रतिपदा मे स्थिर एव उदित सौम्य ग्रहो को देखकर पौर-जानपद अर्थात् पुरवासी लोग सब प्रकार के बाजो को बजाकर यन्त्रो एव यष्टि को कारखाने से उठाकर जल मे लायें। चित्र एव प्रतिमरो से आकीर्ण घृत से लिपी हुई उसी यष्टि को वहाँ पर स्थापित चूर्णो एव सब औषधो से स्वय स्नान करावे। मनुष्यो की कलकल-ध्वनि के साथ उसको जलाशय से उठाकर लकडी की हथिनियो के समुन्नत अग्रभाग मे स्थापित करे। फिर बग़ैर फटे हुए कपडो से अर्थात् अक्षत वस्त्रो से ढक कर मालाओ आदि से उसकी पूजा कर दिशाओ मे बलि फेंक कर ब्राह्मणो से स्वस्ति वाचन करावे। उनके बाद सब प्रजाओ से तीन दिन पूजा करा कर धनुर्धारी मनुष्यो से उस यष्टि को पाँच दिन तक गुप्त रखे। उस दिन सभी यन्त्रो की यष्टि की तरह स्नान करावे और वस्त्रो से आच्छादित करे और फिर इन्द्र-स्थान-देश मे उसे प्रवेश करावे। बराबर शुभ ध्वजस्थान मे यष्टि की आठवें अश की लम्बाई से ध्वजा को सूत्रित कर, उसके आधे से विस्तृत होने पर शुभ प्राची मे उसे स्थिर करे। तदनन्तर क्रमश ८१ विभागो से पदों पर विभाग कर सब देवताओं को यथाविधि विन्यस्त करे। पूर्व दिशा मे, मध्य मे, मैत्र-पद मे और मध्य भाग से मरुत् की दिशा मे पादकोण मे, निम्न प्रमाण से मरुत का निवेश करे। वायु के दोनो कोणो मे भृङ्ग और मुख्य

दोनो के पदो के मध्य भाग मे दोनो खम्भो का न्यास करे और उनकी पीठी पर मल्लो का निवेश करे। दोनो बाहो के प्रमाण से पीठिका को निकाल कर अलग-अलग दो ब्राह्म-पदो से आश्रित दो स्तम्भिनियो का रोपण करे। दोनो बाहुओ पर आश्रित दो दो प्रतिक्षोभो को यहाँ पर बाहर से मैत्र के दोनो बाहर के प्रान्त-पदो पर विनिवेशन करे। प्राची दिशा मे मल्ल के अग्रभाग से इन्द्र की ऊँची गति का ज्ञान कर भ्रमण से युक्त अभ दोनो भ्रम-पादो (चक्की के पहिये) की योजना करे। मल्ल से वरुण के पश्चिमदिग्भाग मे आश्रय लेने वाले पद पर भद्रा शक्रमाता का निम्न मान से निदेशन करे। पर्जन्य, अन्तरिक्ष जल, यक्ष्मा इन चारो के पदो का आश्रय करने वाले पदो पर क्रमशः नन्द, उपनन्द, जय और विजय नाम वाले इनका निवेश करे। इस प्रकार सब कुमारियो के अलग-अलग विन्यस्त होने पर बाहर से दृढता के लिए तीन-तीन प्रतिक्षोभो की योजना करनी चाहिए। सम्पूर्ण द्रव्यो को निक्षेप कर पद-देवताओ की भावना करे। इससे उस उस नाम की देवता और वह द्रव्य एव तद्गत पूजा प्राप्त होती है। पीठी एव पृष्ठ के समान दोनो कन्या-पार्श्वों पर लोहे की कीलो से बद्ध दो अनुसरो का विधान करना चाहिए। दोनो अनुसरो का आश्रय कर सग्रह से पीठी के ऊपर यन्त्र की निश्चलता के लिए लोहे की कीलो से उसे बाधे। इस प्रकार से शास्त्र के विधान से यन्त्र-कर्म के सम्पादन होने पर, इन्द्र-दिशा मे इन्द्र को अपने स्थान मे प्रवेश करावे। स्नान करा कर विधिपूर्वक वस्त्र से ढक कर और सुगन्धित चन्दन आदि से लेप कर और फूलो से पूजा कर, रोहिणी आदि नक्षत्रो मे तीनो मुहूर्तों मे तथा मैत्र मे इन्द्र का प्रवेश अभिनन्दित होता है। स्थपति अथवा पुरोहित-पवित्र होकर एवं स्नान कर समाहित-चित्त गन्ध एव मालाओ से ब्राह्मणो की पूजा कर उनको दक्षिणादि से तृप्त करे। तदनन्तर मगल-घोष-पुरस्सर वादित्र (गायन, नर्तन, वादन) निनाद से पुण्य-श्लोक जय-शब्दो से सब पुरवासी एकत्र होकर उसे उठावें। उन पुरवासियो को आभूषण धारण किये हुए, प्रसन्न मन, स्वस्थ, बलवान्, समर्थ एव प्रकृति से अभिमत होना चाहिये। सूत और मागध इसकी स्तुति करें। वन्दीजन वन्दना करें और गणिकाएँ भी सेवा करें। अपने स्थान से प्रवेश करते हुए इन्द्र के पीछे सेना, मन्त्रियो और पुरवासियो सहित राजा चले। यदि उठते हुए कल-कल शब्दो से प्रसन्नवदन लोग इन्द्र को उठाएँ, और ले चलें, तो राजा विजय प्राप्त करता है और प्रजाओ को आनन्द मिलता है, राष्ट्र मे सुख होता है, पुर मे हर्ष होता है और ईतियाँ नष्ट हो जाती हैं ॥४२-७१॥

शक्रध्वजोत्थान में फलाफल—बड़े कष्ट से उठाया गया गौरव से शय्या

को छोटना है तो राजा बडी विमनस्कना को प्राप्न होता है। पद-पद मे श्वास लेते हुए लडखडाते हुए दु खित एव दीन और वेमन यदि आदमी चलते हैं तो निश्चय ही देश-हानि होती है। यदि भूमि के एक देश मे ध्वजा गिर पडती है तो ठीक तरह से अन्न नही पैदा होता है और न राजा की कुशल ही है और न उसकी विजय होती है। इसके उठाने पर यदि पूरा का पूरा वह फट जाता है, भग हो जाता है अथवा गिर पडता है तो राजा का अवनि-च्छेद, सुत-नाश अथवा मृत्यु होती है। वस्त्रो, अलकारो अथवा मालाओ के हरण अथवा पतन से पौरो या उसी प्रकार के द्रव्य का विध्वस निश्चित होता है। उसके प्रवेश पर अथवा उठाने पर पुर निश्शब्द अथवा निष्प्रभ प्रतीत होता है तो उसका नाश होता है। इन्द्र को अपने स्थान मे लाकर शीघ्र ही सुखपूर्वक बिना विघ्न के पहले के समान प्रदक्षिण प्रागग्र अपने शयन मे न्यास कर देना चाहिए। वही पर शुभ नक्षत्र मे शय्या-स्थित इन्द्र का यथा-भाग विकल्पित भ्रम और कुप्य सयोग कर देवे। कुप्य मे सयुक्त होते हुए यदि ध्वजा भूमि मे गिर पडती है तो राजा का स्थान-भ्रश निश्चित होता है। कुप्य के योग मे यदि वामभाग पर इन्द्र परिवर्तित हो जाए तो स्थपति की मृत्यु होती है या दक्षिण-भाग मे भग उपस्थित हो जाये तो भी यही दारुण फल प्राप्त होता है। यदि उसकी यष्टि क्लेश से अपना वेध प्राप्त करे, तो प्रमादी राजा को बडा भारी व्यसन उपस्थित होता है। कुप्य मे योजित होता हुआ शक्रध्वज यदि विघटित हो जाय तो राजा की अन्य माडलिक राजाओ के साथ सन्धि नष्ट हो जाती है। यदि कुप्य मे योजना करते हुए स्फोटन अथवा भजन प्राप्त हो जाय तो उस भग से राजा के लिए व्याधि और उसके स्फोटन से स्त्री का वध उपस्थित होता है। बिना टूटे, बिना अस्तव्यस्त हुए (अथवा अग-विकल होते हुए), बिना विलम्ब यदि शक्रध्वज न्यास एव योग को प्राप्त होता है तो धन, नौकर, स्त्री, पुत्र, सामन्तो आदि अनुयायियो से युक्त, बिना आतक के बलवान अगो से पुष्ट, राजा वृद्धि को प्राप्त होता है। शय्या मे स्थित ही यत्नपूर्वक शक्रध्वज की रक्षा करते हुए उसके कुटनी आदि सम्पूर्ण अगो की योजना करे। ध्वज के आठ पिटको के नाम हैं—१ ऐन्द्र २ वलाक ३ यक्षेश ४ सर्प ५ आद ६ मयूर ७ इन्द्र और ८. सौर्य। इनको अपने-अपने प्रमाण से स्पष्ट स्वरूप मे युक्त बनाना चाहिए और उन्ही नाम की सन्धियो को वस्त्र से निर्मित कर इनको बीच मे रखना चाहिए। नीचे से ऊपर तक लम्बी, मजबूत, घनी और बटी रस्सियो से इस ध्वजा को लपेटे। ध्वजा की चौडाई की सवाई चौडाई और तीसरा भाग अधिक जोड कर शक्र-पिटक का विस्तार और उसके आधे मे

उसकी ऊचाई करे। वश-व्यवहित इस शक्र-पिटक मे आठ दिशाए बनाकर चारो दिक्पालो को उस पर क्रम से अपनी अपनी दिशा मे स्थापित करना चाहिए। शक्रध्वज के कुप्य से पंचमाश-गत पिटको के बना लेने पर बचे हुए आठ भागो मे भी क्रमश. बलाक आदि न्यास करे जो विस्तार से ऊचाई मे एक चरण कम हो। वे अपने-अपने वर्ण वाले हो, सुन्दर-सुन्दर हो और गोल हो। पिटको मे उत्पन्न होने वाले भंग, पात, विपर्यास आदि से क्रमश. पीडा, दु ख, मृत्यु कही गई है ॥ ७२–९५ ॥

रनिवास, अमात्य, राष्ट्र-चिन्ता, सेना, कीर्ति, पृथ्वी, भवन, राजा, राष्ट्राधीश, इन सब की ध्वजाओ के अनुरूप आठ आठ बटी हुई रज्जुओ को बनाना चाहिए और उनको ध्वजाओ मे लगाना चाहिए। कुटनी सहित शुभ इन्द्रध्वज का उत्थान यत्नपूर्वक अक्षय तिथि मे करना चाहिए। सूर्य, चन्द्र, ग्रहो, ताराओ से चिह्नित; वेणु, गुल्म और इन्द्र से शोभित, आठ कठ-गुणो से बद्ध, मगलकारी दड, सूत्र, आदर्श से युक्त, शस्य, पुष्प, फलादि से अलकृत, सुवस्त्र से सुसज्जित और सतत आठ रज्जुओ से बधी ध्वजा-पताका बनानी चाहिए और अच्छी तरह से उसे चित्र-चित्रित करना चाहिए। इस मे समस्त स्थावर जगम ससार के मनोहर-मनोहर चित्र लिखने चाहियें। इनमे पत्तन, पुर, नगर, ग्राम, गन्धर्व, देवता, आराम के चित्र विशेष उल्लेख्य हैं। इससे लोको के शुभ निमित्त सम्पन्न होते हैं तथा ध्वजा की शोभा बढती है ॥ ९६–१०२ ॥

ध्वजा के अग्र-भाग को डोरियो से बद्ध कर और भूतल पर सुविन्यस्त कर उसको अधोभाग-समाश्रित एव असमूढ-विन्यास करे। प्रमोद, कीर्तन, वादित्र (गायन, वादन, नर्तन), नटो और नर्तको के नाच-सहित ध्वजा के आगे उस पूर्ण रात्रि मे जागरण करना चाहिए ॥ १०३–१०४ ॥

इन्द्रध्वजोचित होम—तदनन्तर भगवान् भुवनभास्कर के उदय होने पर सयमी पुरोहित को मूल भाग के सम्मुख पूर्वोत्तर दिशा मे अग्नि का परिग्रह करना चाहिए। उसके बाद उस स्थान पर उल्लेख और अभ्युक्षण्य से लेपन कर उनको शुद्ध कर और कुशो को बिछाकर वहा पर अग्नि जलानी चाहिए। वहा पर घृत के पात्र, घृत, गन्ध, पुष्प, पलाश की समिधाए आदि द्रव्यो को एकत्रित करना चाहिए। अन्य यज्ञ-सभारो मे सोने के बने स्रुक तथा स्रुवा, इन्द्रभक्त तथा वलय भी—ये सब एकत्रित कर फिर अग्नि मे हवन करे। पुत्र, स्त्री, पशु, द्रव्य, सैन्य से युक्त राजा की विजय प्राप्त कराने वाले शान्तिविधान करने वाले मन्त्रो के द्वारा सुस्वन, सुन्दर एव ऊर्ध्वज्वालाओ वाला स्निग्ध और स्वय बढा हुआ कान्तिमान तथा सुगन्धित अग्नि होता के लिए

मगलकारी होता है। तपाए हुए सोने के सदृश लाक्षा की कान्ति वाला, पलाश के समान शोभावाला, प्रवाल, विद्रुम, अशोक, सुरगोप के समान दीप्तिवाला, ध्वजा, अकुश, गृहछत्र, यूप, प्राकार, तोरण आदि अन्य मागलिको के तुल्य कान्ति वाला अग्नि भी उसी प्रकार प्रशस्त कहा गया है। स्निग्ध, प्रदक्षिण-शिखा वाला, धूमरहित, विपुल अनल यदि बहुत देर तक दीप्यमान दिखाई पडता है, तो वह सुभिक्ष और क्षेम अर्थात् कल्याण का देने वाला कहा गया है। धूम्रवर्ण अथवा विवर्ण, परुष, पीला अथवा नीला, विच्छिन्न, भयकर शब्द करने वाला बाई ओर शिखा वाला, मन्द-दीप्ति वाला, विना द्युति वाला, खून, अथवा वसा की गन्ध करने वाला, स्फुलिगो को उडाने वाला, धूम से आवृत, फेन सहित अग्नि जयावह नही होता है। कुशो के सस्तर को अथवा अन्य होम के अगो को होम करते हुए यदि हूयमान अग्नि जला देता है तो उससे हानि निश्चित है। होम करते समय यदि पीठ हट जाए, तो भूमि के एक देश का विनाश होता है और उसके उपकर्पण से लाभ कहा गया है। सब तरफ से यदि वह अगाध है तो राजाओ की वृद्धि करता है और जिस दिशा मे उसकी ज्वालाएँ जाती हैं उन दिशाओ की विजय के लिए आदेश देता है। दुर्वर्ण, अशुचि, दुर्गन्धि, मक्खी अथवा चूहो से विडम्बित आज्य (हवनसामग्री) तथा जो (आज्य) भस्म मे हवन किया जाता है इनसे राज्य का विनाश उपस्थित होता है। कम अथवा अधिक प्रमाण वाली विदीर्ण और टूटी, घुन-लगी, तथा ऋणवृक्ष से लाई गई समिधाएँ धन का नाश करने वाली होती हैं। सगर्भ, सपुष्प, अग्रभागो से टूटी हुई, तृणो से युक्त कुश-समिधाएँ अर्थात् दुष्प्रलून कुश कोई न कोई उपद्रव करते हैं। दुष्ट, धूलिव्याप्त, कीडो से जर्जर, अपुष्ट ऐसे खराब बीज नाश करते हैं। दुर्गन्ध, मुर्झाई हुई मालाएँ जो न पीली हो, न सफेद और जो कीडो से खाई अथवा पान की गई हैं, वे न जय के लिए और न वृद्धि के लिए होती हैं। चूने वाले, उद्धत तथा टूटे-फूटे घृत के पात्र दुर्भिक्ष और रोग करने वाले कहे गये हैं। इन्द्र की बलि यदि अशुद्ध स्थान मे गिर जाए या मक्खियो, कीडो से दूषित हो जाए या उसमे बाल पडे हो तो भुखमरी से मृत्यु का दारुण परिणाम कहा गया है। उपर्युक्त घृतादि विरूप सामग्रियाँ क्रमश. राष्ट्र और पुर के लिए सर्वतोमय भय करने वाली होती हैं। गन्ध और मालाओ को अपनी अपनी दिशावाले देवो के लिए वितरण कर पुरोहित अथवा स्थपति प्रसन्नचित्त होकर बलि फेंके ॥१०५-१२७॥

स्वस्ति-वाचन—ध्वजा के नैर्ऋत्य दिग्भाग मे उपस्थित सच्चरित्र भूरि-गन्ध-मालाओ से अलकृत द्विज-मुख्यों को, षट्कर्म मे निरत वृद्धो को, वेद मे

पारगत सुहृदो को, मनप्रिय अविकलाग, शुद्ध शुभ्र वस्त्र पहने हुये दर्शनीय-प्राय गौरवर्ण, वलशाली, अमुड, अजटिल, अक्लीव, व्याधि आदि से अदुर्बल दीक्षितो को यथेष्ट दक्षिणा से अथवा १०८ रुपये की दक्षिणा से ही उनको नियुक्त कर प्रसन्न मन से उनसे अक्षत एव पुष्पो से स्वस्तिवाचन करावे। और फिर वे ब्राह्मण जल से भरे हुए स्वर्चित, आकृष्ट-मडल, सुदृढ, आठ घडो से शक्र को मूल मे स्नान करावें। विजय देने वाली स्तुतियो से उत्तम ब्राह्मणो के द्वारा स्तुति करने पर राजा अपने को महीपति और राज्य की घोषणा करे। राजा को अपने सब कैदियो अथवा बन्दियो को छुटकारा देना चाहिए और हिंसा को त्याग देना चाहिए और जनपद के दोषो को दस दिन तक माफ कर देना चाहिए ॥१२८-१३४॥

ध्वजोत्थान—अच्छे वस्त्र पहन कर, आभूषण धारण कर, स्नान कर, सदाचार का आचरण कर अपने बल-सहित पवित्र राजा ध्वजा को उठावें और उसकी प्रतिपालना करें। उपवास धारण किये हुए, पवित्र, स्नात, शान्त, विजितेन्द्रिय स्थपति हाथ जोड कर इस मन्त्र का उच्चारण करे—"ओ नमो भगवति वागुले सर्वविटप्रमर्दनि स्वाहा"। "हे देवेन्द्र! जिस प्रकार सुरो और असुरो के सग्राम पर तुम उठे थे, उसी प्रकार पूजित होकर राजा की जय के लिए उठिए।" इस प्रकार से स्तुति कर चुकने पर स्थपति उसकी प्रदक्षिणा करके देवराज के ध्वज-दड को उठावे। इसी प्रकार से खूब अलकृत, शुभ्र, स्वच्छ, माल्य, वस्त्र, विलेपनादि से युक्त पुरवासियो, नागरिको एव प्रयत्नशील परिजनो के द्वारा झल्ली, शख, नन्दी, घटा, डिंडिम (डुगडुगी), गोमुख आदि बाजे बजाने वाले और बडे ज़ोर का स्वर करने वाले अन्य हृष्ट पुरुषो के द्वारा, गायको, नटो, नर्तको, शोरगुल करते हुए हाथियो, रथो, घोडो आदि के द्वारा (इस प्रकार इन लोगो के द्वारा) शब्द और निनाद करते हुए दृढ रस्सी के द्वारा खीची हुई, श्रवण नक्षत्रो मे, ध्वजा को उठाना चाहिए। यत्न-पूर्वक ध्वजा को उठाते हुए उसके उठाने पर मनुष्यो, पक्षियो और वाहनो आदि के निमित्तो को देखना चाहिए। कुटनियो मे निहिताभोग, पताका और दर्पण के समान समुज्ज्वल, चित्रपटो से सजा-धजा, सूर्य-चन्द्र के गुणो से भूषित, मालाओ और अलकारो के बिना अस्त-व्यस्त हुए, छत्र एव मस्तक के बिना टूटे हुए, बिना कटे हुए, बिना किसी अग के स्खलन के, कुदिशा मे अभ्रष्ट, बराबर ऊर्ध्व-समाश्लिष्ट, अनक्षत, अद्भुत, अविलम्बित, अविभ्रान्त, सीधे रास्ते मे उठाया हुआ हो तो इस प्रकार के शक्रध्वज का उत्थान राजा के लिए विजय देने वाला कहा गया है और पुरवासियो के लिए क्षेम, आरोग्य और

सुभिक्ष करने वाला कहा गया है ॥१३५-१४७॥

ध्वजोत्थान-फलाफल—उठाने पर यदि शक्रध्वज पूर्व दिशा की ओर होता है तो वह मन्त्रिगणो, क्षत्रियो और राजाओ को वृद्धि देने वाला होता है। आग्नेयी दिशा मे शक्रध्वज के जाने पर अग्निजीवी वृद्धि को प्राप्त होते हैं और प्रारम्भ किये हुए उनके कार्य की बिना यत्न के सिद्धि हो जाती है। शक्रध्वज के दक्षिण दिशा मे आने पर वैश्य लोगो के लिये पूजा, धान्य, धन की ऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं। नैर्ऋत दिशा मे शक्रध्वज के आश्रित होने पर सभी आशाएँ पूर्ण होती हैं तथा सम्पदाएँ प्राप्त होती हैं और न गर्भ-व्यथा होती है और न वध, न बन्धन का भय ही होता है। पश्चिम दिशा मे आश्रित होने पर शूद्रो के लिए जय कहा गया है और क्षुधा, तृष्णा, अग्नि का भय नही रहता और इष्ट वृष्टि होती है। वायु की दिशा मे ध्वजा के आश्रित होने पर वृक्षो और धान्यो तथा फलो की वृद्धि कही गई है और उसके साथ-साथ चतुष्पदो (जानवरो) की भी वृद्धि कही गई है। रोग भी नाश हो जाता है। सौम्य दिशा मे ध्वज के आने पर चारो वर्णो की सम्पत्ति कही गई है। और खास-कर द्विजेन्द्रो की उन्नति कही गई है और यज्ञ सफल हो जाते है। ईशान की दिशा मे ध्वज के आश्रित होने पर राजा धर्मपरायण होता है, जनपद और पाखण्डियो दोनो की वृद्धि होती है। इन्द्र-ध्वज, रस्सिओ के खीचने से पूर्व, यदि कुछ खिसक जाता है तो विजय की इच्छा रखने वाले राजा की विजय-यात्रा सफल होती है। भ्रम को भेद कर यदि ध्वजा ज़मीन पर प्रतिष्ठित होती है तो पर्वतो और वनो से युक्त पृथिवी को वह राजा जीतता है। बिना अग-विप्लव के इन्द्रध्वज के दिशा-विसर्पण का यह फल कहा गया है। अब उसके विपरीत ध्वज के अग-विप्लव होने पर सब दोष कहे जाते हैं। यदि अलकृत होने से पूर्व इन्द्र-ध्वज योज्यमान होता है और रज्जुयन्त्र से थोडा-सा उठाया हुआ अथवा बीच मे स्थित फिर भूमि अथवा शय्या मे गिर पडता है तो राजा और रानियो अथवा कुमार को नष्ट करता है। उठाया हुआ अथवा आधा उठाया हुआ यदि क्षोभ अथवा प्रकम्पन को प्राप्त होता है अथवा दूसरे स्थान पर चल देता है अथवा किसी तरह से सचरण करता है, तो भूप विग्रह को प्राप्त करता है, अथवा अपने स्थान से भ्रष्ट होता है अथवा भय से जनपद चल देता है, इसमे सशय नही। आठो रस्सियो के खीचने पर यदि एक भी रस्सी टूट जाती है तो एक-एक अश से मन्त्री का मरण निश्चित है। मूल मे अथवा मध्य मे अथवा अग्र-भाग मे उठाने पर यदि टूट जाता है तो क्रम से पौरो, सेनापति अथवा राजा को मार डालता है। छत्र, सूर्य, वेणु, गुल्म, इन्द्रनारी, काठ की रस्सी अथवा इन्दु (ये सब ध्वजाङ्ग हैं)

यदि भूमि पर गिर पडते है, तो वे राजा का मरण सूचित करते है। इनके (ध्वजाङ्गो के) भग्न होने पर या गिर जाने पर या कम्पित होने पर वही दारुण परिणाम अर्थात् नृप-वध होता है। अथच विना भग्न भी यदि कम्पन प्राप्त होता है तो साधन (अर्थात् सेना) क्षय को प्राप्त होती है। आदर्श, वैजयन्ती, इन्द्र तथा तारकाओ (ध्वजाङ्गो) के गिरने पर क्रमश. सेनापति, पुरोहित, पुरोहित की स्त्री और राजा की आँख मारी जाती है। मालाओ, आभूपणो, यानों, शस्त्र-वस्त्र, फल एवं अशन के केतु से चित्त गिरने पर राजा की ये ही सब चीजे अर्थात् माल्य, भूषण आदि नाश को प्राप्त होते है। कूटो से शक्रपिटक अथवा शक्रवेश्म यदि टूट जाता है तो जिस दिशा मे यह होता है उसमे हानि जरूर होती है। यह पुराने विद्वानो ने वतलाया है। ध्वज की मृणाली, लकट, अक्ष और अर्गलाओ के भग होने पर क्रमशः वेश्या, राजा, श्रेष्ठि और रक्षको को पीडा उत्पन्न होती है। भ्रम, अक्ष और पादो के द्वारा मल्ल, शक्र-माता अथवा कुमारिकाएँ यदि भग्न हो जाती हैं तो ये क्रमश राजा के राष्ट्र को, उसकी प्रिया को अथवा पुत्रो को नष्ट करता है। निर्घात, अशनि अथवा उलका यदि ध्वजा पर गिर पडें, तो अनावृष्टि का भय और राजा की पराजय होती है। ध्वजा के उठाने पर यदि मक्खियाँ मधु-छत्र वनाती है तो छ महीने के अन्दर नगर पर शत्रुओ की चढाई कही गई है। मक्खियाँ अथवा पक्षी ध्वज के पास यदि भ्रमण करे अथवा वाहरी स्थान से प्रदक्षिणा करे तो मृत्यु कही गई है। गीध, वाज, कपोत यदि शक्रध्वज के मस्तक मे लीन होते है तो दुर्भिक्ष, विग्रह और राजा का विनाश होता है। यदि ध्वजा मे उलूक और कौवे विलीन दिखाई पडते हो तो क्रमशः राजा के मन्त्री, पुत्र और पुरोहित का नाश करते है। यदि ध्वजा पर मयूर अथवा हंस आश्रय लेता है तो समस्त लक्षणो से युक्त राजा का पुत्र होता है। चकवी, वलाका (वक-पक्ति) या हंसिनी आदि केतु पर लीन होती हैं तो राजा वडी ही सुन्दर भार्या को प्राप्त करता है। जलज पक्षियो से समाश्रित होने पर सुवृष्टि और फल के खाने वाले पक्षियो से समाश्रित होने पर सुभिक्ष और विष्टा खाने वाले पक्षियो से दुर्भिक्ष और मासाहारी खगो से डर पैदा होता है। ॥ १४८-१७९ ॥

ध्वज-चित्रपट—यदि चित्र-पट पर विचित्र आकृतियो से वाहन, आयुध और आभूपण से युक्त उत्तम, सुर, यक्ष और उरग चित्रित होते है और आठो दिशाएँ मूर्तिमती चित्रित होती हैं तथा नाचते हुए अप्सराओ के गण, ग्रहो के सहित तारिकाएँ, मेघ, वडी-वडी नदियाँ और सागर, कमलो से आच्छन्न वापियाँ, हंसो से युक्त तालाव, फल पुष्प से शोभित वन और उपवन, मदिर

और गोपुर और पुर, शयन एव आनन से युक्त अतिशुभ्र भवन, हृष्ट एव प्रसन्न राजा, बल और वाहन से शोभित नौकर, पुरवासी, जनपद-वासी क्रीडा करते हुए कुमार, प्रसन्न चारो वर्ण, नट, नर्तक और कारीगर, गौओ के समूहो, लताओ, गुल्मो, द्रुमो एव ओषधियो को धारण करने वाले पर्वत, उत्तम मृग एव पक्षी तथा अखिल मागलिक वस्तुएँ, चित्र विचित्र प्याऊ की जमीनें, फल के खाने वाले पक्षी आदि के यथास्थान चित्रण शुभ कहे गये हैं। देश और पुर मे क्षेम, आरोग्य और सुभिक्ष होता है और राज को विजय प्राप्त होती है ॥१८०-१८७॥

चित्रपट्टपातादि-फलाफल—इनके कुट्टन, पात, छेद, नाश, अपहरण अथवा दग्ध होने पर जिस योनि मे अथवा जिस दिशा मे यह होता है तो उनका असगल करता है। चित्रपट के पृथ्वी पर गिरने पर राजा का और जनपद का उपद्रव उपस्थित होता है। जब तक ध्वजा का उत्सव होता है, तब तक यदि सब अलकार सुशोभित रहते हैं, तो राजा बिना विप्लव आदि के सम्पूर्ण पृथ्वी को जय करता है। नटो और नर्तको के नाचने और पढने पर शुभ मे शुभ का समावेश करना चाहिए और अशुभ मे अशुभ का। मगल करने वाले गज और घोडे सम्प्रहृष्ट होते हैं और ऐसे सुवेश और चेष्टा और अलकारो से युक्त उन वर्गो मे शुभ का शीघ्र ही आदेश करना चाहिए। अमगल शब्द करने वाले, विकृत एव दीन चेष्टा वाले जो पुरुष अथवा स्त्री हो उनमे वैशस का निर्देश करना चाहिए। मेघो के समान बडे-बडे वाहनो वाले जो पुरुष अथवा स्त्री हो उनमे वैशस का निर्देश करना चाहिए। मेघो के समान बडे-बडे मद बहाने वाले अदीन और स्वतन्त्र हाथी राजा की जय के सूचक हैं। अपने दक्षिण खुरो से पृथ्वी खोदने वाले, हृष्ट-चित्त, हिनहिनाने वाले घोडे भी राजा की जय-सूचना करते हैं। यदि उस समय बिजली चमके, मेघ गरजे और वृष्टि होवे तो राजा की जय, सुभिक्ष और क्षेम जानना चाहिए ॥१८८-१९६॥

शक्रध्वज-पात—अब इसके बाद आधी रात के प्राप्त होने पर उत्सव के दसवें दिन रोहिणी नक्षत्र मे मुनि लोग प्रति वर्ष शक्रध्वज के पात का विधान करते हैं। इसके बाद भीड के चले जाने पर शक्रध्वज के प्रतिष्ठित हो जाने पर गन्ध, जल और पुष्पों से जलसिचन करना चाहिए। इस समय यदि लोग अशुद्ध वस्त्रो के टुकडो से, भस्म, केश, हड्डी, कीचड़ आदि से क्रीडा करते हैं तो दुर्भिक्ष हो जाता है। गिरते हुए शक्रध्वज पर विप्र लोग पूर्व से विलेपन करें। ऐसा करने पर सुभिक्ष, क्षेम, आरोग्य होता है अन्यथा इसके विपरीत करने पर उल्टा फल होता है ॥१९७-२००॥

अष्टाग-स्थापत्य मे ध्वजा—के सम्बन्ध मे जो कहा गया है उसका वर्णन

करता हूँ—पुर मे, ब्रह्मपुर से प्राची दिशा मे इन्द्र के स्थान का विधान करना चाहिए। उसका मात्राशय हस्त से प्रमाण करना कहा गया है। चौंसठ वास्तु-पद के समान चारो ओर उस स्थान को चौकोर करना चाहिए और उसका क्षेत्र ८१ पदो से विभाजित करना चाहिए। प्रमाण से क्षेत्र के आधे भाग से ध्वजा की लम्बाई करनी चाहिए। उसके बाद विद्वान् स्थपति के द्वारा हाथ हाथ पर एक-एक अगुल की वृद्धि करनी चाहिए। कही कही पर इन्द्रध्वज की आधी अगुल वृद्धि करनी चाहिए। यह वृद्धि तब तक करनी चाहिए जब तक अगुलो से छेद बराबर न हो जावे तब उसके बाद जो पहले प्रमाण था, उसकी फिर विनियोजना करनी चाहिए। केतु का प्रमाण ४० अगुलो के बराबर माना गया है उसकी साल मे दो अंगुलो की वृद्धि करनी चाहिए। ब्रह्म-स्थान मे कुशल स्थपति को ब्रह्मावर्त करना चाहिए और ब्रह्मा के बाद प्राची दिशा मे अर्यमा देवता का विधान है। वहा पर यन्त्र के दोनों पाद ऊँचाई मे छः पद वाले होने चाहिएँ, उसी के पश्चिम भाग मे मित्र-देवता का सन्निवेश कहा गया है। उसके बाद यन्त्र का वेध और नति कही गई है। पूर्व और पश्चिम मे नीचा हो यह यन्त्र की विधि कही गई है। यन्त्र के पश्चिम भाग मे वरुण देवता का निवास है। वरुण के पदान्त-वश मे दो कुमारियो का सन्निवेश कहा गया है। उनका चार हाथो के विस्तार और दश हस्त की ऊंचाई करनी चाहिए। रुद्र के स्थान मे तीसरी कुमारी को सुप्रतिष्ठित करना चाहिए। सोम-क्षेत्र मे चौथी कुमारी, आप-भाग मे पाचवी कुमारी, सूर्य के भाग मे छठी और यम के भाग मे सातवी कुमारी की प्रतिष्ठा का विधान है ॥२०१-२१२॥

वास्तु-त्रय-विभाग

एकाशीति-पद-वास्तु[1]—क्षेत्र के चौकोर बनाने पर उसका नौ-नौ हिस्सो मे (अर्थात् ९ से ९=८१) विभाग करना चाहिए। मध्य मे, नौ पदो मे, महा-द्युतिशाली ब्रह्मा की प्रतिष्ठा करनी चाहिए। उसके बाद पूर्व दिशा मे छ पदो मे अर्यमा का निवेश विहित है। आग्नेय कर्ण (पूर्व-दक्षिण) मे सवितृ और सावित्र इन दोनो देवो को दो-दो पदो पर प्रतिष्ठित करना चाहिए। ब्रह्मा से दक्षिण की ओर अर्थात् दक्षिण दिशा मे छ पदो से विवस्वान् का निवेश अभीष्ट है। पुन नैर्ऋत्य कर्ण (दक्षिण-पश्चिम) मे, जय तथा इन्द्र को, दो-दो पदो से (सवित्र और सावित्र के समान) प्रतिष्ठा देनी चाहिए। (इसी प्रकार) पश्चिम दिशा मे छ पदो से मित्र की स्थापना और पश्चिमोत्तर वायव्य कोण मे, दो-दो पदो से, यक्ष्मा और रुद्र इन दोनो की स्थापना प्रतिपादित है। अब आइए उत्तर दिशा मे। उसमे पूर्वोक्त रीति से छ पदो से निश्चल पृथ्वीधर शेषनाग की प्रतिष्ठा एव ईशानकोण मे दो-दो पदो से आप तथा आपवत्स की प्रतिष्ठा विहित है। इस प्रकार से अन्त सश्रित देवो का कथन हुआ, अब बाहर के देवो का कथन करता हूँ ॥१–६½॥

पूर्व से उत्तरादि तक उनका प्रदक्षिण स्थान समझना चाहिए—१ अग्नि, २ पर्जन्य, ३. जयन्त, ४ इन्द्र, ५ सूर्य, ६ सत्य, ७. भृश, ८. नभ, ९. अनिल, १० पूषन्, ११ वितथ, १२. गृहक्षत, १३ यम, १४. गन्धर्व, १५. भृङ्गराज, १६ मृग, १७ पितृगण, १८ दौवारिक, १९ सुग्रीव, २०. पुष्पदन्त, २१. जनेश्वर, २२ असुर, २३ शोष, २४. पापयक्ष्मा, २५. रोग, २६ नाग, २७ मुख्य, २८ भल्लाट, २९ सोम, ३० चरक और ३१ अदिति, तथा ३२. दैत्यमाता, ये पद-देवता कहे गये है ॥ ६½–१०॥

अग्नि, वायु, पितृगण तथा व्याधि इनके क्रमश बाहर की ओर चरकी, विदारी, पापराक्षसी और पूतना भी पद-देवता हैं। इनका केवल स्थान कहा गया है। इन्हें पद-भोग नहीं है ॥११-१२½॥

अब बाहर स्थित देवो का पद-भोग कहता हूँ। वहाँ पर आठ द्विपदाधीश

---

१. देखिये 'रेखा-चित्र स' पृष्ठ ९३ पर

कहे जाते हैं (अर्थात् उनका क्षेत्र वास्तु-क्षेत्र मे दो पदो का है)। वे हैं—१. जयन्त, २. भृश, ३. वितथ, ४. भृङ्ग, ५. सुग्रीव, ६. शोष, ७ मुख्य और ८. अदिति। इनसे बचे हुए जो बाहर देवता रह जाते हैं वे केवल एक-पदभोगी अर्थात् एक-एक पद के भोगी हैं। इस प्रकार से इक्यासी पद मे देवताओ का पदक्रम कहा गया है। वास्तु-त्रय मे **एकाशीतिपद** समाप्त हुआ ॥१२½-१४॥

शत-पद-वास्तु[1]—क्षेत्र के चौकोर बना देने पर, फिर उसके दस-दस भाग करने पर (अर्थात् १० से १०=१००) (वह शतपद वास्तु अर्थात् सौ पदो वाला वास्तु बनता है। अब यहाँ की) देवस्थिति का वर्णन करता हूँ ॥१५॥

शतपद-वास्तु के मध्य मे सोलह पदो मे पितामह ब्रह्मा का स्थान बताते हैं। और वही पर, उन्ही के पास आठ पद के पद का अर्यमा भोग करते हैं। अर्यमा की तरह विवस्वान्, मित्र, और शेष का भी विद्वानो के द्वारा यही भोग कहा गया है अर्थात् ये चारो देव ८-८ पद वाले देवता है। सवित्रादि आप-वत्सान्त जिन देवताओ का यहाँ पर उल्लेख नही किया गया है, उन देवों का इक्कासी पद वाले वास्तु के समान यहाँ पर भी एक-एक पद का भोग कहा गया है। १. अग्नि, २. अन्तरिक्ष, ३. पवन, ४. मृग, ५. क्षय, ६ पितर, ७. रोग, ८. अदिति—ये आठ देवता डेढ-डेढ पद के भोगी होते हैं। पर्जन्यादि अदिति-पर्यन्त, जो चौबीस देवताओ का कथन किया गया है वे दो-दो पद वाले होते हैं और बाकी पहले ही प्रसाधित हैं ॥१६-२०॥

चतुःषष्टि-पद-वास्तु[2]— क्षेत्र के चौकोर बना लेने पर और पहले की तरह आठ-आठ से विभाग करने पर (८ से ८=६४) ६४ पदो से चतुःषष्टि-पद नामक वास्तु-पद सम्पन्न होता है ॥२१॥

इसमे पितामह ब्रह्मा आभ्यन्तर अर्थात् मध्य मे चार पदो का भोग करते हैं और अर्यमा आदि जो देवता हैं वे यही पर मध्य मे स्थित होकर दो-दो पदो का उपभोग करते हैं। आठो कोणो पर स्थित बीच और बाहर जो आठ देवता स्थित है वे यहाँ पर आधे-आधे पदो का उपभोग करते है ॥२२-२३॥

१. पर्जन्य, २ भृश, ३. पूषन्, ४. भृङ्ग, ५. दौवारिक, ६. शोष, ७. नाग, ८. अदिति, ये डेढ पद का उपभोग करते हैं। बाहर के जयन्तादि तथा चरकान्त जो सोलह देवता कहे गये हैं उन सब मे दो-दो पद की स्थिति कही गई है ॥२४-२५॥

सिरानयनप्रकार—वह्नि-पद से ऊपर पितृ-पद के अन्त तक सिरानयन करना चाहिए। वाह्याशा निर्गता इस सिरा पर रोग को लाना चाहिए। फिर

---

१. २. देखिये 'रेखा-चित्र अ, ब' पृष्ठ ८३ तथा ८६ पर

द्विनामा जयन्त से भृङ्ग और भृङ्ग से सुग्रीव को लाना चाहिए और अदिति को वहाँ प्राप्त कर द्विनाम मे प्रवेश कराना चाहिए। सौर से याम्य पद लेकर वारुण पद मे पहुँचाना चाहिए। फिर उस पद को पूर्व मे ले जाना चाहिए और आदित्य को लाना चाहिए। भृश से वितथ को लाकर और इनके बाद वितथ से शोष को लाकर फिर शोष से मुख्य को लाकर, उस से भृश के पास ले जाना चाहिए। क्रमश जो विभाग सूचित हुए हैं, उनसे बुद्धिमान् स्थपति यज्ञो, देवो एव मनुष्यो के वास्तु का विभाजन करे ॥२४-३०॥

इन जितने भी देवो का वर्णन किया गया है, उन सबको आंख फैलाकर बडी ही प्रीति से अब्जपत्रायताक्ष कमल के समान नेत्र वाले ब्रह्मा जी देखते है ॥३१॥

नाड्यादि-सिरादि-विकल्प

षोडश-पद-वास्तु—अब षोडशास्पद लघु वास्तु का कथन किया जाता है। वह सोलह पदो का होता है। वहाँ के देवो को कहता हूँ। मध्य मे स्थित होकर मुख्य देव सुरोत्तम चतुरानन ब्रह्मा चार-चार (४ से ४=१६) विभक्त पद-वास्तु मे एक पद का उपभोग करते हैं। अर्यमा, विवस्वान्, मित्र और शेषनाग, ये चारो सुरोत्तम पद के आधे भाग के भोक्ता कहे गये हैं। जो सवितृ आदि आपवत्सान्त सूर्य के समान कान्ति वाले आठ देवता ब्रह्मा के कोणो मे है वे आधे-आधे पद से चार भागो के भोक्ता कहे गये हैं। क्रम से ईशानादि चारो कोनो मे जो आठो देवता स्थित हैं, वे विद्वानो के द्वारा आठ भागो के भोक्ता कहे गये हैं अर्थात् एक-एक देवता एक-एक पद वाले हैं। इसी प्रकार से पर्जन्य आदि अदिति पर्यन्त जो आठ और देवता हैं वे विद्वानो के द्वारा चार भागो के भोक्ता कहे गये है अर्थात् प्रत्येक देवता आधे-आधे भाग का भोक्ता है। जयन्त आदि चरकी पर्यन्त जो बाहर रहने वाले सोलह देवता हैं उनका भोग अर्ध-अर्ध पद का कहा गया है ॥१-७॥

सहस्र-पद-वास्तु—क्षेत्र के चौकोर बना देने पर तथा उसके तैतीस-तैतीस (३३ से ३३=१०८९) भाग करने पर चरकी आदि के लिए अन्त की ढाई पक्तियाँ छोड देनी चाहिएँ। बीच मे उसके बाद अर्धपदिका वीथिका छोड देनी चाहिये। फिर उसके बाद सत्ताईस-सत्ताईस (२७ से २७=७२९) भागो से वास्तु का विभाजन करना चाहिए। उनतीस पद से युक्त पदो का शतसप्तक अर्थात् सात सौ उनतीस यदि वहाँ होता है तो गर्भ मे इक्यासी पद का स्थान ब्रह्मा के लिए होता है। चाप प्रभृति आठ जो अलग-अलग देवता है वे अठारह पद वाले, अर्यमा आदि चारो चौवन पद वाले होते है। अदिति-पर्यन्त ईशादि जो बाहर के देवता हैं, उनके ११ पद के भोग होते है। देशो के सन्निवेश मे यह सहस्र-पद-वास्तु विहित है ॥८-१२॥

वृत्त-वास्तु—वृत्त-प्रासादो के लिए वृत्त-वास्तु कहा जाता है। एक चौसठ पद भाग वाला और दूसरा सौ पद वाला होता है ॥१३॥

चतुष्षष्टि-वृत्त-वास्तु—वृत्तविष्कम्भ को आठ-आठ (८ से ८=६४) भागो

से विभक्त करने पर चार भागो के बीच चार परिधियाँ करनी चाहिएँ। बीच का वृत्त दो भागो वाला कहा गया है। बाहर का वृत्त-वलय अट्ठाईस भाग वाला कहा गया है और उसके भीतर का वलय क्रम से आठ-आठ अशो मे छोड दिया जाता है। ऐसा कर लेने पर मध्य मे ब्रह्मा का पद चतुष्पद कहलाता है और इस प्रकार से चौसठ-पद वाला वृत्त-वास्तु उदाहृत किया गया है ॥१४-१६॥

शतपद-वृत्त-वास्तु—वृत्तविष्कम्भ के दस-दस भाग (१० से १०=१००) विभाजित कर लेने पर समभाग के अन्तर वाली पाँच परिधियाँ बनानी चाहिएँ, और बीच मे दो भाग वाला वृत्त होता है। उसका बाहरी वलय ३६ पदो का होता है। शेष विभाजन चौसठ पद वाले वास्तु की स्थिति से शतपद वाले वास्तु मे भी वैसा ही होता है। इन दोनो के देवताओ के पदो का सक्षेप चतुरश्र चौकोर वास्तु-पदो के समान होता है। इसी तरह और भी कार्यवश बुद्धिमान् स्थपति के द्वारा नाना अन्य वास्तुओ की योजना करनी चाहिए ॥१७-१६॥

त्र्यश्रादि-वास्तु-पद—त्रिकोण और छ कोण, अष्टकोण, सोलह कोण, वृत्तायत, अर्धचन्द्राकार वास्तु मे भी वृत्तवास्तु के समान पद-विभाजन करना चाहिए ॥२०॥

वास्तु-पुरुष—वास्तु-पुरुष एक ही है, उसे इन नाना प्रकारो से परिकल्पित किया गया है। सभी विभक्त सस्थानो मे वैसा ही लक्षण करना चाहिए। इस वास्तु-पुरुष के शरीर की कल्पना करनी चाहिए, जिसमे गुण और दोष दोनो होते हैं। इसके शरीर-कल्पन मे क्रमश पहले मुख, फिर सिर, फिर कान (दो) आँख, तालु, ओष्ठ, दाँत, छाती, कण्ठ, स्तन (दो), नाभि, लिङ्ग, अडकोष (दो), गुदा, बाहु (दो), प्रबाहु (दो), हाथ (दो), स्फिक्, ऊरु (दो) और जघा (दो) तथा दो पैर। इस तरह उसे पुरुष की तरह आकृति वाला वास्तु-पुरुष बनाना चाहिए। शिराएँ, वश तथा अनुवश, सन्धियाँ और अनुसन्धियाँ, मर्म तथा महावश वास्तु-शरीर मे लक्षित किये गये हैं। कान तक जो शिराएँ फैलती हैं वे नाडी कहलाती हैं, पद का सोलहवाँ भाग उसी प्रमाण मे लक्षित किया गया है। पूर्व तथा पश्चिम मे, उत्तर और दक्षिण मे मध्य मे दो-दो महावशो का प्रमाण-पद का पचम भाग कहा गया है। इसमे जो वश कहे गये हैं वे मुख्यत फैली हुई रेखाएँ हैं और जो टेढी आकार वाली रेखाएँ हैं उनको अनुवश कहा गया है। इनके सम्पातो को मर्म कहा जाता है। जो पद के मध्य मे हैं उनको उपमर्म कहा जाता है और इनका भाग आठवाँ, दसवाँ, बारहवाँ, सोलहवाँ कहा गया है। वशादिको का क्रमश पद मे प्रमाण कहा गया है। आठो वशों की जो सन्धियाँ हैं उनको सन्धि कहा गया है। फिर जो वशो के अगो की सन्धियाँ

हैं उनको अनुसन्धि कहा गया है। सन्धियो का प्रमाण, वालाग्र के समान कहा गया है। उनका आधा प्रमाण अनुसन्धियो का प्रमाण कहा गया है। यत्न से इनको वास्तु-विद्या-विशारद स्थपति त्याग कर द्रव्यो का विनिवेश करे ॥२१-३३½॥

महावंशादि-पीड़न-फल—किसी भी द्रव्य से महावश का अतिक्रमण न करे। अन्य मध्य वशो मे द्रव्य को छोड दे। महावश के अतिक्रमण मे स्वामिवध निश्चित है। वशो के पीडन से वर्षा की भीति और तपन भीति प्राप्त होती है। उपमर्मों के पीडन से रोग प्राप्त होता है। मर्मों के पीडन से कुल-हानि आपतित होती है। शिराओ के पीडन से उद्वेग और अनर्थ उपस्थित होता है। सन्धियो और अनुसन्धियो के पीडित होने पर कलि उपस्थित होता है। इसलिए इन सवको पीडित होने से वचावे ॥३३½-३६½॥

वास्तु-देह मे शिराओ, अनुशिराओ, नाडियो, वशो एवं अनुवशो तथा मर्मो को यत्न से समझ कर ही वास्त्वारम्भ करे और उसका फल यह है जो इनका वेध त्याग करे उसको आपत्ति नही प्राप्त होती ॥३७½॥

मर्म-वेध

वास्तु-पद-प्रयोग—इस ग्रन्थ मे तीन प्रकार का वास्तु कहा गया है—१ इक्यासी पद वाला २ सौ पद वाला और ३ चौसठ पद वाला। जो जिनके द्वारा विभाजित करना चाहिए उनमे उसका वर्णन करता हूँ अर्थात् जिस वास्तु को किस वास्तु-पद से विभाजित करना चाहिये, अब यह प्रतिपादित किया जाता है और इनके जो मर्म हैं, उनको भी यहा पर कहते हैं ॥१-२॥

एकाशीतिपद-वास्तु-प्रयोग—बुद्धिमान् स्थपति को वर्णियो के अर्थात् ब्राह्मणादि वर्णों के घर, राजप्रासादो के निवेश, इन्द्रस्थान, इक्यासी पद वाले वास्तु से विभाजित करना चाहिए अर्थात् इनकी रचना मे ८१ पद वाले वास्तुपद (साइट-प्लान) का प्रयोग करना चाहिये ॥३॥

शतपद-वास्तु-प्रयोग—बुद्धिमान् स्थपति को विविध प्रासादो, देव-मन्दिरो को एव उन्ही की तरह विचित्र-विचित्र मडपो (प्रासाद-मण्डपो) को सौ पद वाले वास्तु से नापना चाहिए ॥४॥

चतुष्षष्टि-वास्तु-पद-प्रयोग—इसके अतिरिक्त जो चौंसठ पद वाला वास्तु है, उसमे राजशिविरो, ग्रामो, खेटो तथा नगरो का विभाजन करना चाहिए ॥५॥

मर्म-वेध—भीतर के तेरह, बाहर के बत्तीस जो देवता हैं उनके जो स्थान, जो मर्म, जो सिराएँ और जो वश हैं उनमे से मुख मे, हृदय मे, नाभि मे, सिर मे और दोनो स्तनो मे जो वास्तु-पुरुष के मर्म हैं, उनको "षण्महान्ति" कहा जाता है ॥६–७॥

वश, अनुवश एव सम्पात और जो पद के मध्य मे देवो के स्थान हैं वे प्रथम सोलह पद वाले वास्तु मे रहते हैं। पुन चौंसठ पद वाले वास्तु मे देव-स्थान और सम्पात भी वैसे ही होते हैं और वे वैसे ही इक्यासी और सौ पद वाले वास्तु मे भी होते हैं ॥८–९॥

चारों विभागों मे, चारो दिशाओ मे जो सिराएँ होती है, जो द्वार के मध्य भाग पर स्थान होते हैं उनको मर्म कहते हैं ॥१०॥

वेध—दीवाल मे विस्तृत मध्य के द्वारा अथवा लकडी के मध्य लकडी

द्वारा जो मर्म जिस घर मे पीड़ित होता है, उसका फल कहा जाता है। द्वारो से अथवा दीवालो से मर्मों का परिपीडन होने पर घर के स्वामी की दुर्गति अथवा उसकी कुल-हानि होती है। स्तम्भो के द्वारा वेध स्वामी का नाश करता है। तुलाओ के द्वारा वेध स्त्री का नाश करता है। जयन्तियो के द्वारा स्नुषा (बहू) का नाश और सग्रहो के द्वारा भाई का नाश कहा गया है। मर्मस्थानगत शरीरो से मालिक का शरीर निपीडित होता है। सन्धि-पालो के द्वारा विशेषज्ञ सुहृद्-विश्लेष अर्थात् मित्र-हानि बताते हैं। नागपाशो के द्वारा धन-हानि, नागदन्त अर्थात् खूटी से मित्र-हानि, मर्म मे स्थित कापिच्छकों (कगूरो) से नौकरो की हानि बतायी गई है। षटदारु, अनुशिराएँ, गवाक्ष, आलोकन यदि मर्म-मध्य मे स्थित होते हैं तो धन-क्षय करवाते हैं। द्वार, द्रव्य, तुला, स्तम्भ, नागदन्त, गवाक्षो के द्वारा यदि द्वार का मध्य पीडित होता है तो रोग, कुल-पीडा एव धन-क्षय उपस्थित होता है। द्वार के मध्यो और षट्दारुओ के मध्य पीडन को भी पडित लोग नृप-दड का भय और स्वामी का पीडन कहते हैं। कर्ण-द्रव्य आदि से वेध होने पर यही फल कहा गया है। शय्या यदि अनुवश से विहित है, तो घर वालो का कुलनाश करने वाली कही गई है। शय्या के वितान मे स्थित नागदन्त स्वामी के क्षय का कारण होते हैं। जो नागदन्त गवाक्षो और स्तम्भो से विद्ध होते हैं वे शस्त्र का भय उत्पन्न कर देते हैं अथवा स्वामी के लिए चौर-भय उत्पन्न करते हैं और साथ-ही-साथ द्रव्य और धान्य के विनाश के कारण होते हैं, शोक तथा लडाई भी उत्पन्न करते हैं। गृह के मध्य भाग मे द्वार-विनिवेश स्त्री-दूषण के लिए होता है। अन्य द्रव्य से भी यदि महामर्म निपीडित होता है तो गृही का सर्वनाश और मरण उपस्थित होता है। पुरो, प्रासादो और घरो मे अशुक, ऊर्ध्व-वश तुम्बिका और इन्द्रकील के वेध होने पर ये दोष उपस्थित करने वाले नही होते ॥११-२३½॥

इस प्रकार से देवो, राजाओ और ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णो के घरो को आश्रित करने वाला यह मर्म-वेध कहा गया है और इसका फल भी अलग-अलग कहा गया है। अब वास्तु-पुरुष के अगो का विभाग यहा पर कहता हूँ ॥२३½-२४½॥

पुरुषांग-देवता-निघंट्वादि-निर्णय

वास्तु-पुरुषाङ्ग-देवता—देवताओ के पृथक्-पृथक् प्रकारो से सम्विभक्त पदो के द्वारा प्रयत्नवान् स्थपति निम्नलिखित इस प्रकार की पुरुषाकृति वास्तु का निर्माण करे। उसके शिर को अग्नि कहा गया है, दृष्टि को अर्थात् दोनो आखो को दिति और मेघो का अधिपति (वरुण) कहा गया है और इसके कानो को जयन्त और अदिति कहा गया है। मुख मे वायु स्थित है। दक्षिण बाहु मे सूर्य और वाम बाहु मे चन्द्र प्रतिष्ठित कहे गये हैं और इसके वक्ष स्थल पर आपदत्स के सहित महेन्द्र और चरक स्थित हैं। दक्षिण स्तन पर अर्यमा तथा वाम स्तन पर पृथ्वीधर बताये गये हैं। १ यक्ष्मा २. रोग ३ नाग ४. मुख्य ५ भल्लाट—ये पाचो देवता बाई बाहु मे समाश्रित कहे गये हैं। १ सत्य २. भृश ३ नभ ४. वायु और ५ पूषा—ये पाचो देवता इस वास्तु-पुरुष की दक्षिण बाहु मे समाश्रित है। १. सावित्र अर्थात् गणेश और २ सविता, ३. रुद्र और ४ शक्ति-धर—ये चारो देवता दोनो हाथो के कफोणिस्थ हैं और हृदय मे ब्रह्मा विराजमान हैं। वितथ और शोक क्षत—ये दोनो देव इसकी दक्षिण बग़ल में स्थित है और बाई बग़ल मे शोष और असुर नामक देवता स्थित हैं। मित्र और विवस्वान् इसके पेट मे आश्रित हैं। इन्द्र और जय नामक दो देवता इसके लिग के मध्य भाग मे स्थित हैं। यम और वरुण क्रमश दाई और और बाई ऊरु मे स्थित हैं। मृग सहित गन्धर्व और भृङ्ग दक्षिण जघा मे स्थित हैं। द्वास्थ, सुग्रीव और पुष्प नामक देवता बाईं जघा मे स्थित हैं। पितृगण चरणो मे स्थित हैं ॥१-१०॥

वास्तु-पुरुष-शिर-दिशा—इक्यासी पद वाले वास्तु-पद मे वास्तु-पुरुष का शिर ईश-दिग्विभाग मे आश्रित है और चौंसठ पद वाले वास्तु मे उसका शिर माहेन्द्री दिशा मे संश्रित है ॥११॥

इक्यासी पद-वास्तु से सौ पद वाला वास्तु उत्पन्न होता है और जो सोलह पद वाला वास्तु है वह चौंसठ पद वाले वास्तु मे उत्पन्न होता है ॥१२॥

वास्तु-देवता-निघण्टु—देवो के मध्य मे जो कमल-भू ब्रह्मा स्थित हैं वे हज़ार मुख वाले ब्रह्मा अनिन्द्य-विभव हैं, वे सारे जगतो के मालिक हैं। यहाँ पर जिस

अग्नि का उल्लेख किया गया है वह सर्वभूत-हर भगवान् शकर है और जिस पर्जन्य नाम वाले देव का कथन हुआ है वह वृष्टिमान् अंबुदाधिप है। द्विनाम वाले जो जयन्त है, वे भगवान् कश्यप ऋषि हैं और जो महेन्द्र हैं वे देव-पति हैं और राक्षसो के सहारक कहे गए हैं। दिनकर विवस्वान् को आदित्य कहते हैं, सत्य से अभिप्राय प्राणियो के हितैषी धर्म से है और भृश के अर्थ है भगवान् काम-देव, जो अन्तरिक्ष देव है वे नभोदेव कहे जाते है। मारुत से वायु का उद्देश्य है और पूषा से मातृगण का तात्पर्य है। वितथ नाम के जो देव है, वह कलियुग के अप्रतिम सुत अधर्म हैं। ग्रहक्षत नाम के जिस देव का वखान किया गया है वे चन्द्रमा के पुत्र बुध हैं। प्रेतो के मालिक श्रीमान् यम वैवस्वत हैं, भगवान् गन्धर्व देव नारद परिकीर्तित हैं। निर्ऋति के लडके राक्षस से अभिप्राय यहा पर भृङ्ग-राज से है और जो यहा पर मृग कहे गए हैं, उनसे स्वयभू ब्रह्मा और धर्म का मतलब है। पितृगणो से पितृ-लोक के निवासी देव वर्णित हैं और दौवारिक से प्रथमो के अधीश्वर नदी का अभिप्राय है। सुग्रीव से आदि प्रजापति सृष्टिकर्ता मनु व्यपदिष्ट हैं। पुष्पदन्त विनता के लडके महाजवशाली वायु हैं। वरुण जो हैं, वह समुद्रो (जलो) के मालिक और लोकपाल भी कहे गए हैं। असुर से अभिप्राय सूर्य एवं चन्द्र के ग्रासक सिंहिका राक्षसी के लडके राहु से है। शोप से सूर्य-पुत्र भगवान् शनिश्चर का अभिप्राय है। पाप-यक्ष्मा से क्षय का बोध होता है और रोग से ज्वर प्रतिपादित है। नाग से सर्पों के मालिक श्रीमान् वासुकि शेषनाग कहे गए हैं। मुख्य की सज्ञा वाले देव से विश्वकर्मा और त्वष्टा से अभिप्राय है। भल्लाट को चन्द्र कहा गया है और सोम सज्ञा वाले देव से कुवेर का ज्ञान होता है। व्यवसाय नाम वाले चरक कहे गए हैं और यहाँ पर अदिति नाम से लक्ष्मी का अभिप्राय है। यहा पर दिति से त्रिशूल धारण करने वाले वृषभध्वज शकर कहे गये हैं, आप हिमालय कहे गए हैं और आपवत्स से उमा स्मृत की गई हैं। अर्यमा से आदित्य और सावित्र से वेदमाता समझना चाहिये। विद्वानो के द्वारा यहा पर सविता से गगा देवी प्रख्यात हैं। विवस्वान् से शरीर को हरण करने वाला मृत्यु कहा गया है। जय नामक देववज्र धारण करने वाले वलवान् हरि इन्द्र कहे गए हैं। मित्र से माली हलधर और रुद्र तो महेश्वर कहे गए हैं। राजयक्ष्मा स्वामि कार्तिकेय कहे गए हैं और क्षितिघ्र पृथ्वीधर से भगवान् अनन्त शेषनाग कहे गए है। चरकी, विदारी, पूतना, पापराक्षसी, इनको राक्षस योनि मे उत्पन्न होने वाली देवताओ की अनुचरी कहा गया है। इस प्रकार से वास्तु देवो का यह निघट्ट परिकीर्तित किया गया ॥१३-३२½॥

वास्त्ववयव-विदित-वर्ण—'क्ष' मूर्धा मे 'ह' दोनो आखो के वीच मे 'स'

नासिका मे 'प' ठोडी मे, 'श' कंठ मे, 'व' हृदय मे, लकार नाभि देश मे, रेफ वस्ति मे, यकार लिंग मे, मकार दोनो मुष्को मे, नकार ऊरु मे, णकार जानु मे, ञकार पिंडिका मे, ङकार दोनो एडियो मे, पकार चरणो मे स्मृत किये गये हैं ॥३२½-३४॥

इस प्रकार से वास्तु-पुरुष के अगो का वर्णन किया गया और वास्तु-पद के देवताओ के नाम-भेद का भी उल्लेख किया गया। यहां पर वास्तु-शरीर के अवयवो मे सोलह ही वर्ण कहे गए है। अब देवता-पुरस्सर पुर-निवेश का प्रतिपादन यथावसर किया जावेगा ॥३५॥

बलिदान-विधि

अब बलिदान-विधि का प्रकार अथवा पूजा की विधि का वर्णन करता हूँ। इस पूजा-विधि के द्वारा समुचित अर्चित होने पर महेश्वर शिव जी के सहित सब देवता तुष्ट होते हैं ॥१॥

वास्तु के (निर्मित भवन के) मध्य भाग मे गोबर से मडल बनाना चाहिए और वहा पुष्प और सुवर्ण सहित कलश स्थापित करना चाहिये ॥२॥

उसके बाद यथा-स्थान नियोग से वास्तु-देवो की कल्पना करे और फिर धूप और विविध प्रकार की पुष्प-मालाओ से उनके लिए अर्घ्य-निवेदन करे ॥३॥

मालाओ, धूपो और चदनादि विलेपो से और बहुत प्रकार के फलो और भोगो से सुसमाहित होकर **विश्वकर्मा** का पूजन करे ॥४॥

घी, दूध, दही से **शिखी** भगवान् स्वामि-कार्तिकेय की आराधना करे। शालि (चावल), गेहू, उडद आदि धान्य से **पर्जन्य** की अर्चना करे ॥५॥

आम, द्राक्षा और खजूर आदि से **जयन्त** की पूजा करे। मालती और मल्लिका पुष्पो से त्रिदशाधिप इन्द्र की पूजा करे। तदनन्तर ससार के नेत्र जगन्नाथ भगवान् सूर्य की लाल पुष्पो, लाल चन्दन के विलेपन से और धूप से पूजा करे ॥६-७॥

जम्वीर से, निम्बुओ से, नारगी और पीले फलो से **सत्यनारायण देव** की पूजा करे, क्योकि वे इस प्रकार की पूजा से सन्तुष्ट होते हैं ॥८॥

मछली और मास से सारे प्रधान **राक्षस** तुष्ट होते हैं और सफेद फलो से और नारियलो से **भृश** परितुष्ट होता है ॥९॥

गध, धूप के प्रयोग से **नभ** नामक देव की अर्चना करनी चाहिये तथा सुगन्धित पुष्पो से **मारुत** परितुष्ट होता है ॥१०॥

मधु (शहद) सयुक्त कृसर (खीर) को भगवान् **पूषा** के लिए भक्तिपूर्वक निवेदन करे और **वितथ** को तो अन्य शुभ मद्य-मास-विवर्जित पदार्थों का निवेदन करे ॥११॥

महामुनि **विवस्वान्** पूजित होने पर तुष्ट होते हैं और **गृहक्षत** छोटे छोटे

पुष्पो से पूजित होने पर सन्तोष को प्राप्त करते है ॥१२॥

यम की तुष्टि सदा मछली-मास से युक्त भव्य पदार्थों से होती है। विद्वान् स्थपति पुन्नाग, अगरु, धूप से गन्धर्वों की पूजा करे ॥१३॥

मृगमास से युक्त भोजनो से भृङ्गराज को तर्पित करे और मृगदेव की अभ्यर्चना राजजम्बू फलो और वेलो से करे ॥१४॥

शहद-मिश्रित पायसो (खीरो), मासो और सुन्दर भातो से जिनमे कर्पूर तथा अन्य सुगन्धित द्रव्य मिले हो, पितरों की पूजा करे ॥१५॥

पुष्प सहित लड्डुओ, लावो से मिश्रित मासो से विघ्नकारक दौवारिक की सावधानतापूर्वक पूजा करे ॥१६॥

अपूर्व शोभा वाले गन्धो, धूपो और अनुत्तम मालाओ से तथा कटक-जाति के पुष्पो से सुग्रीव की सदा पूजा करे ॥१७॥

यश और वीर्य से युक्त पुष्पदन्त नामक देवता की सपुष्प लावो और दधियुक्त अन्न और पायसो ऐसे भक्ष्यो से आराधना करे ॥१८॥

वैनतेय (गरुड) की पूजा सूकर आदि के मासो से करे। महासत्व वरुण की पूजा धूप और चन्दन से करे ॥१९॥

राहु को मास-युक्त भक्ष्य-भोजनो से तर्पित करे और खून से शनैश्चर तुष्ट होता है ॥२०॥

मास से तो रोगो का राजा क्षय तुष्टि को प्राप्त होता है तथा सर्वलोक-भयकर रोग की चर्बी से पूजा करे। सतत दुग्ध-दान से मनुष्य वासुकि की पूजा करे और विश्वकर्मा देवता की पूजा जैसी पहले बताई गई है उसी तरह करे ॥२१-२२॥

बुद्धिमान् सफेद पुष्पो के विन्यास से मल्लाट की पूजा करे तथा दधियुक्त अन्न से सर्वत्र चन्द्र की पूजा करे ॥२३॥

मनुष्य सदैव धूप-दान से कुबेर की पूजा करे और अदिति की सुवर्ण से तथा कमलो से पूजा करे ॥२४॥

अर्क (मदार) और मन्दार पुष्पो की मालाओ से वृषभ की पूजा करे तथा अन्य देवताओ की धूप आदि से करे ॥२५॥

सब प्रकार के पुष्पो और फलो से इन देवो की पूजा बुद्धिमान् को सदैव करनी चाहिए। इस प्रकार सब प्रकार से बलि (पूजा) विधान शान्ति के लिए बताया गया है ॥२६॥

वास्तु-कृत्य—भूमि के शोधन मे, कर्षण (जोतने) मे, साधन मे, स्थान-खनन मे, गृह के अर्चन मे, अभ्युदयो मे, स्कन्धावारो (छावनियो) के निवेशों मे, पुर

तथा ग्राम के निवेशन मे तथा मन्दिर और राजप्रासाद के निवेशनो मे इन पूर्वोक्त वलियो को प्रयत्नपूर्वक देवताओ को बुद्धिमान् वितरण करें। वास्तु कृत्यो के अन्य प्रारम्भो के विधान करने की इच्छा रखने वाला स्थपति इस पूजा-विधि से सफल मनोरथ होता है ॥२७–२८॥

रेखाचित्र 'अ'

मण्डूक अथवा भेकपद

(चतुष्षष्टिपद-वास्तु-पद)

टि०—शेष देवो का उल्लेख नही किया गया। एकाशीति के सदृश पृष्ठ ६६ वोधव्य है। पदभोग का क्रम निम्न है—

क	ब्रह्मा	= ४
ख	मध्योपान्तस्थ द्विपदिक पृथ्वीधर, मित्र, अर्यमा एव विवस्वान्	= ८
ग.	मध्यकोणस्थ आठ देव तथा वाहरी आठ देवता—प्रत्येक अर्धपदिक	= ८
घ.	अन्य वाहरी देवता—पर्जन्य, भृश, पूषा, भृङ्गराज, दौवारिक, शाष, नाग तथा अदिति—प्रत्येक सार्धपदिक	= १२
ङ.	शेष १६ देवता जयन्तादि चरकान्त—प्रत्येक द्विपदिक	= ३२
	योग	= ६४

वस्तु-संस्थान-मातृकाध्याय

अब वास्तु-सस्थान-मातृका का सब कर्मोपजीवियो के निवास-हेतु पूरी तरह से वर्णन किया जाता है ।।१।।

१. सम २ चतुरस्र ३. साचि ४ दीर्घ ५ वृत्त ६ शम्बुक ७. शकटाक्षाकृति ८. भगाकृति ९ आदर्शाकृति १० वज्राकृति ११ कन्याकृति १२ छिन्नकर्ण १३. विकर्ण १४ शख-सदृश १५ क्षुर-सन्निभ १६ शक्तिमुख १७ कूर्मपृष्ठ १८ सदश १९ व्यजनाकृति २०. शरावाकृति २१ स्वस्तिकाकृति २२ पणवाकार २३ मृदङ्गाकार २४ विशर्कर २५ कवचाकृति २६ यवमध्य-समाकृति २७ उत्सङ्गाकार २८ गजदताकार २९ परशु-सदृश विश्रावित ३० अश्र ३१ प्रलम्ब ३२ विवाहिक ३३ त्रिकुट ३४ पञ्चकुट ३५. परिच्छिन्न ३६ दिक्स्वस्तिकाभ ३७ श्रीवृक्ष ३८ वर्धमान-समानन ३९ एणीपद ४० नरपद—ये चालीस वास्तु-सस्थान के क्षेत्र सक्षेप से बताये गये । अब इनका विनियोग बताया जाता है ।।२-७।।

चौकोर तथा सम में राजा वास करे, शय्याकार मे पुरोहित, दीर्घ मे छोटे राजकुमार और वृत्तायत मे सेनापति निवास करें ।।८।।

शम्बुक के आकार मे सुख चाहने वाले सब (गज, अश्व रथादि) वाहन निवास करें। सम मे अन्त पुर का घर तथा शकटाकृति मे बनिया लोग बसें ।।९।।

वेश्याएँ भग-सस्थान मे, दर्पणाभ सस्थान मे सुनार तथा वज्र-सदृश सस्थान मे नगर-गोष्ठिक लोग रहें। शख-सस्थान-क्षेत्र मे पुत्राभिलाषी लोग निवास करे और छिन्नकर्ण मे महामात्र लोग एव विकर्ण मे बहेलिए बसें ।।१०-११।।

शखाभ मे काने और क्षुरोपम सस्थान मे गणाचार्य, शक्तिमुख मे प्रजापाल और कूर्मपृष्ठ-सस्थान मे माली लोग बसें ।।१२।।

सदश मे दर्जी और व्यजनोपम-सस्थान मे सार्दम (वाजिपोषक) लोग, शरावाकृति मे बर्व्ह बसें और स्वस्तिकाकृति मे वन्दी और मागध लोगों का निवास विहित है ।।१३।।

पणवसदृश एव मृदङ्गसदृश सस्थान मे वेणु, तूर्य आदि बाजा बजाने वालो और विशर्कर मे रथ को हाँकने वालो और कबधप्रतिम संस्थान मे नीचो और चाण्डालो, यव-प्रतिभ-सस्थान मे खेतिहरो, उत्सग मे श्रमण लोगो तथा गजदतक मे पीलवानो (हाथी के वाहको) के निवास विकल्प्य है ॥१४-१५॥

परशु की प्रतिमा वाले क्षेत्र मे कैदी लोग, विश्रावित मे शराब बनाने वाले, श्वभ्राभ्र मे मजदूर, प्रलम्ब (युगल) मे नाई लोग और वैवाहिक मे खजाने की रक्षा करने वाले, त्रिकुष्ट और पचकुष्ट मे वह्निजीवी लोग रहे ॥१६-१७॥

सव मानोपजीवी लोग सव तरफ से परिच्छिन्न सस्थान मे वसे और दिक्स्वस्तिक मे से सब तरफ चैत्य और घरो का निर्माण करें ॥१८॥

श्री-वृक्ष-प्रतिम-सस्थान मे यज्ञवाटो तथा वृक्षो को लगावें तथा वर्धमानाकृति सस्थान मे भी इन्ही का प्रकल्पन करे ॥१९॥

एणीपद मे गणिकाएँ तथा नरपद मे चोर। इस तरह से सब प्रकार के कर्म की जीविकावृत्ति वाले (हर प्रकार के) लोगो के शुभकारी निवासो का वर्णन किया गया ॥२०॥

विभिन्न कर्म के उपजीवियो के निवास के निमित्त इन क्षेत्रो का विचारपूर्वक वर्णन किया गया। यथा-प्रतिपादित उनके वेश्मो का जो स्थपति निर्माण करता है, वह स्थपति इस ससार मे किसका सम्माननीय नही होता ? ॥२१॥

शिलान्यास-विधि

अब यथाशास्त्र इस वास्तु-शास्त्र मे शिलान्यास की विधि कहता हूँ ॥१॥

पुण्य उत्तरायण मे, मास के शुक्लपक्ष मे, शुभ दिन स्थिर-ग्रह वाले गुण से युक्त दिवस और करण मे, तिष्य-अश्विनी-रोहिणी मे, और तीनो उत्तराओ मे भी, रेवती, श्रवण और हस्त मे शिलान्यास का आचरण करे। स्थिर राशि के उदय होने पर और सौम्यग्रहो और मित्र-ग्रहो से अवलोकित लग्न मे ठीक तरह से निमित्त शकुन होने पर और स्वस्ति तथा मगल-पाठ करते हुए, हर्षित मन होकर वास्तु का निवेशन करे ॥२-४॥

प्रकृति से भद्र-आकृति, शास्त्रज्ञ, पवित्र, स्नात एव सुसमाहित स्थपति देवार्चन की क्रिया सम्पादन करके कर्म का आरम्भ करे ॥५॥

पूर्ण, बराबर, अविकल, चौकोर, गाव्वी, पहिली शिला की चय-विधि मे विचक्षण स्थपति परीक्षा करे ॥६॥

कुम्भ, अकुश, ध्वज, छत्र, मत्स्य, चामर, तोरण, दूर्वा, नागफल (नारियल), उष्णीष, पुष्प और स्वस्तिक तथा वेदियो मे और चामर सहित नन्द्यावर्तो से, कूर्म (कछुवा), पद्म और चन्द्रमा से वज्र के समान प्रशस्त प्रकारो से भूषित शिलाएँ कर्म-हितकारक कही गई है ॥७-८॥

जो शिला दीर्घ, छोटी, विषम, आध्मात, अपरीक्षित, दिङ्मूढ, अगहीन, रूखी, अगार अथवा ककडो से युक्त, खडित, बुरी पकी हुई, फटी हुई और काली हो वह सब दोष भय आदि वाली कही गई हैं ॥९-१०½॥

मनुष्यो के और पशुओ से घोडो के पद-चिन्हो से चिह्नित शिला मगल की वृद्धि करने वाली कही गई है। मासाहारी मृग और विहगो के पाँव से स्पर्श की गई शिलाओ को छोड दे ॥१०½-११½॥

१. नन्दा, २. भद्रा, ३. जया, ४. पूर्णा—ये चार शिलाएँ कही गई है और इन्हीं के समान १ वासिष्ठी, २ काश्यपी, ३ भार्गवी और ४ आगिरसी—ये क्रमश इनकी सज्ञाएँ समझनी चाहिये ॥११½-१२½॥

जहाँ पर प्रागुत्तर देश मे वास्तु-सन्निवेश की नैऋत्य दिशा मे पुन

सहित बराबर, गोचर्म-सम्मित, गध और कलशो सहित चौकोर वेदी बनाए। आग्नेय दिशा मे क्रमश' पहिले नन्दा नामक शिला का स्थापन करे और उसका अकाल-मूल वाले अविकल अग वाले, पद्म, उत्पल एव पल्लवो सहित सर्वोषधियो एव हिरण्य आदि से, सुवर्ण, चादी अथवा तावे से बने हुए घडो से मन्त्रोच्चारण करते हुए अभिषेचन करे। तीर्थ के बहते हुए जलो से, रत्न, अक्षत और कमलो के साथ सुगधित मागलिक अभिषेक का प्रयोग करे ॥१२½-१६॥

गगा, यमुना, रेवा, सरस्वती आदि से लाया गया अथवा महानदी का जल अथवा शुभ तीर्थों से लाया जल प्रशस्त कहा गया है। उसी प्रकार पर्वत, वन, वेशन्त, देवायतन जल से यथालाभ अभिषेक के लिए जल लाना चाहिए ॥१७-१८॥

पुनः इस मन्त्र से इनका अभिषेक करे। "हिरण्य-वर्ण, पवित्र करने वाले शुचि, और पाप का नाश करने वाले, शान्ति, श्रीयुन, मधुच्युत ये जल तुम लोगो की रक्षा करे।" इस मन्त्र के द्वारा पवित्र किये हुए जल से शिला को स्नान करा कर, स्थपति गध-युक्त मागलिक पदार्थ से उस पर लेप करे। शीतल चन्दन से पूर्ण सुगन्धि को उसमे मिला कर लेप करे ॥१९-२१॥

फिर इसको (शिला को) लावो सहित पुष्प-मालाओ के द्वारा ढक दे और धूप, मालाओं, उपहारो, दधि, मास और अक्षत आदि से तथा पुष्कल वस्त्र के जोडो से इष्टिका देवी की पूजा करे। शिला-निवेशन के वाद तब नैऋत्य दिशा मे सम सख्या वाले (चार, आठ, वारह, सोलह) पवित्र, विद्वान्, बैठे हुए ब्राह्मणो की दक्षिणा-फलो से पूजा करे। फिर कर्ता ओकार, स्वस्ति, मागलिक गीत और बाजा आदि से रोमाचित होकर उन लोगो को प्रणाम करे ॥२२-२४॥

उसके वाद वास्तोष्पति तथा भूतो के लिए वलि चढा कर उन चारो शिलाओ की अन्य चार उपशिलाएँ निवेशित करे। उनमे प्राकार तथा स्वस्तिक मे अकित दो शिलाओ को और तीसरी श्री वत्स-लक्षणा और चौथी नन्द्यावती बतायी गयी है। पूर्व और दक्षिण के करण मे, वास्तु के अध प्रदेश मे नन्दा को स्थापित करे और भद्रा आदि अन्य शिलाओ को दूसरे तीनो कोनो पर स्थापित करे। और उन चारो के प्रतिष्ठा-मन्त्र शाश्वत एव आरम्भ दर्शन कराने वाले इन चार मन्त्रों को ऋषियो ने गाया है। "आदिवराह के वीर्य से, वेदार्थी मे अभिमन्त्रित वसिष्ठ-नदिनी नन्दा को मैं पूर्व मे स्थापित करता हूँ। सुमुहूर्त दिवस मे निवेशित तुम हे नन्दे! स्वामी की दीर्घ आयु और श्रीवृद्धि करो। हे सर्वतो-

भद्रे ! तुम कल्याणदायिनी हो, अत कल्याण करो। काश्यप की प्रिय सुते ! गृह को बनाने वाले की लक्ष्मी-वृद्धि करो। ऐ जये ! इस महात्मा गृहस्वामी की विजय करो। ऐ सम्पूर्ण चन्द्रकान्ति वाली ! वास्तु के अध प्रदेश मे तुम्हारे न्यस्त होने पर इस यजमान का भूमि पर चन्द्र और सूर्य पर्यन्त यश बढे। ऐ पूर्णे ! यह गृहस्वामी पूर्ण-मनोरथ होवे।" इस प्रकार से स्वस्तिवाचक मन्त्रो से उन हिरण्यवर्ण वाली शिलाओ का शिलान्यास करे ॥२५-३४॥

उन हिरण्यवर्ण शिलाओ से समुद्भूत पूर्व और उत्तर मे प्लवन शुभ माना गया है, पश्चिम और दक्षिण मे नही ॥३५॥

चैत्य मे, भवन मे, प्राकार मे और पुर-कर्म मे, वितान[1] मे, चिति-विन्यास अर्थात् यज्ञवेदियो मे, ब्रह्मा के मन्दिर मे, प्रतिमा के स्थापन मे, शान्तिवेदियो मे, और मूर्ति की स्थापनाओ मे याज्ञिक विधान से क्रमश इन नन्दादि शिलाओ की तथा इष्टिकाओ की पुरोहित स्थापना करे ॥३६-३७॥

अशोक, और्ण, आसभ नामक महावृत साम-मन्त्रो से तथा गायत्री उष्णिक, अनुष्टुप्, बृहती—इन चार छन्दो से क्रमश चारो शिलात्रयो का चयन करना चाहिए। फिर चतुर स्थपति रुक जाए और भित्ति का प्रमाण जान कर चारो चयो का चयन करे ॥३८-३९॥

आदिकर्म को इस प्रकार से समाप्त करना चाहिए और उसके बाद उन शिलाओ को भूतल पर सुस्थित और बराबर प्रतिष्ठित चलाना नही चाहिए, क्योकि चालन मे गृहस्वामी के लिए बडा भय होता है और इनके कम्पन मे भी बहुत बडा भय समझना चाहिए और उनकी स्थिरता मे स्थपति और गृह-स्वामी दोनो का बडा भारी मगल कहा गया है ॥४०-४२½॥

पूर्व और दक्षिण मे चालन से गृह-स्वामी को बडा भय होता है, नैर्ऋत्य मे भार्या का विनाश और वायव्य मे भीति, ईशान कोण मे गुरु का भय, वारुणी मे भी वैसा ही ॥४२½-४३॥

इसी प्रकार प्रथम स्थापित गर्भो को भी नही चलाना चाहिए और न उनको उठावे और न हिलावे क्योकि उन दोनो की विधि समान कही गई है। इसलिए पहिले समाहित-चित्त स्थपति को शिलाओ के समान स्तम्भो का भी विन्यास करना चाहिए ॥४४-४५॥

---

१ प्रासाद-वास्तु मे वितान मण्डप-सहचर है। 'संवरण' तथा 'वितान' मण्डप-वास्तु के प्रमुख अलङ्करण हैं। वितान छत के बीच और संवरण ऊपर बनाया जाता है।

द्वार, प्राकार, शालाओं, नगरों और घरों का भी वही प्रमाण विहित इसलिए उसमे पूर्ण मनोभिनिवेश से कार्य करना चाहिए ॥४६॥

इस प्रकार यह शिला-विन्यास-विधान का यथावत् हमने उपदेश किया। इस प्रकार के विधान करने पर वेश्म और मन्दिर आदि की निष्पत्ति विना विघ्न के पूर्ण होती है ॥४७॥

रेखाचित्र 'ब'

शतपद अथवा आसन

(शतपद-वास्तु-पद)

पृथ्वीधर
अष्टपदिक

मित्र
अष्टपदिक

ब्रह्मा
षोडशपदिक

अर्यमा
अष्टपदिक

विवस्वान्
अष्टपदिक

टि०—शेष देवों का उल्लेख नही किया गया, एकाशीति के सदृश (पृष्ठ ६६) बोधव्य हैं। पद-भोग का क्रम निम्न है—

क.	ब्रह्मा	=	१६
ख.	अर्यमा आदि देव	=	३२
ग.	आठ मध्यकोणस्थ देव—एकपदिक	=	८
घ	आठ बाह्य-पद-कोणस्थ देव—सार्धपदिक	=	१२
ङ.	पर्जन्य आदि ८—द्विपदिक	=	१६
च	शेष सोलह—एकपदिक	=	१६
	योग	=	१००

कीलक-सूत्रपात

ब्राह्मणादि वर्णों के गृह-निर्माणावसर, सूत्रपात-विधि में कीलको (अर्थात् खूँटियों—Pegs) मे जिन लकडियो की योजना करनी चाहिए उनका कल्याण उनकी कीर्ति और हित-सम्पादन के लिए वर्णन करता हूँ ॥१॥

कीलक—खदिर, उदुम्बर, अश्वत्थ, शाल, शाक, धव, अर्जुन, अजन, कदर, अशोक, तिनिश, अरुण, चन्दन, शिरीष, मर्ज, न्यग्रोध और वेणु के कील वास्तु-कर्म मे प्रशस्त माने गये हैं। पुरुष नाम वाले वृक्ष प्रशस्त कहे गये हैं, तथा स्त्री नाम वाले निन्दित कहे गये हैं ॥२-३॥

अश्वत्थ और खदिर ये दोनो ब्राह्मण के लिए वृद्धिकारक कहे गये हैं। शाल चन्दन और वेणु से निर्मित कील क्षत्रिय के लिए शुभ कहे गये हैं ॥४॥

शाक और खदिर ये दोनो सामन्तो के लिए हितकारक कहे गये हैं तथा शाल और शिरीष ये दोनो वैश्यो के लिए शुभ कीर्तित किये गये हैं। शूद्र जाति के लिए तो तिनिश, धव, और अर्जुन वृक्षो से निर्मित कीलक शुभ कहे गए हैं। वैश्यो के वेश्मो मे और अन्य सौभाग्य-कार्यो मे अशोक से निर्मित कीलक शुभ कहे गये हैं। बनियो के घर मे न्यग्रोध और भूमि-कर्म मे उदुम्बर तथा महामात्र और अश्व वैद्यो (घोडा-डाक्टरो) के घर मे मर्ज और अर्जुन के कील विशेष प्रशस्त बताये गये हैं ॥५-७॥

विप्रो के लिए सर्व वर्णो के लिए प्रतिपादित वृक्षो से निर्मित और क्षत्रियो के लिये तीन वर्णों के लिये सूचित वृक्षो से उत्पन्न, वैश्यो के लिये दो वर्णों के लिये प्रशस्त वृक्षो से निर्मित और शूद्रो के अपने वर्ग वाले कीलक शुभ कहे गए हैं ॥८॥

कल्याण की इच्छा रखने वाले को प्रतिलोम (अपने वर्ग के प्रतिकूल) कीलको का निर्माण नहीं करना चाहिए ॥९॥

अब कीलको का अलग-अलग प्रमाण कहा जाता है। ब्राह्मणो के कील ३२ अगुल वाले शुभ कहे गए हैं और अट्ठाइस अगुल वाले क्षत्रियो के लिए। चौबीस अगुल वाले कीलक वैश्यो के लिए शुभदायी और बीस अगुल वाले

कीलक शूद्र जाति के लिए हितकारक कहे गए है ॥९½-११॥

इन सभी कीलो मे छ अगुल का परीणाह मगलकारक कहा गया है और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यो के कील क्रमश. चौकोर, अठकोण अथवा षट्कोण कहे गये हैं। शूद्र का छः अस्र वाला तथा सामान्य-प्रकृति का इच्छानुसार कील होता है ॥१२-१३½॥

सूत्र—कुश, मूज, ऊन और कपास का बना हुआ दृढ सूत्र क्रमश ब्राह्मणो, क्षत्रियो, वैश्यो तथा शूद्रो का अर्ध-पर्व के परीणाह वाला विहित है। अपने सूत्रो की अप्राप्ति मे वर्णित इन सूत्रो मे से किसी एक का सूत्र बुद्धिमान् ग्रहण करे। इन वर्णो के अतिरिक्त और लोग अपनी इच्छा से किसी भी सूत्र का ग्रहण करे ॥१३½-१५½॥

इस प्रकार से सब सम्भारो (सामग्रियो) को इकट्ठा करके गृह-स्वामी शुभ दिन मे शुक्ल पक्ष मे शुद्ध हो कर और स्नान करके और स्थपति भी शुभ्र वस्त्र धारण कर गृहस्थान के निमित्त से देवस्थानो का भी लक्षण करें ॥१५½-१६॥

पुष्प और अक्षत की गृह-देवताओ को बना कर, पहिले चारो तरफ शकुओ के स्थानो की परीक्षा करे। पुन. उन सब की यथा-विधि पूजा करने पर गृह के मध्य भाग मे ब्रह्मा का पद (स्थान) निरूपण करके जल छिडके और फिर गोबर से लेप कर सुलक्षण चौकोर चार द्वार वाली अक्षतो से सुप्रतिष्ठित वेदी का निर्माण करे ॥१७-१९॥

उस वेदी के मध्य भाग मे सोने का अथवा चादी का, ताम्बे का या मिट्टी का एक कलश स्थापित करे। पहिले की अप्राप्ति मे दूसरा श्रेष्ठ कहा गया है ॥२०॥

अकालमूल, अविकलाग, जलपूर्ण, स्वलकृत और भीतर मणियो, रत्नो, मोतियो और सोने चाँदी से गर्भित पुष्प, फल, बीज से युक्त कलश की, अक्षतो से प्रतिष्ठा करके फिर इसको चारो तरफ से सफेद चन्दन से चित्रित करके फिर इसके ऊपर क्षीर-वृक्ष अर्थात् न्यग्रोध, उदुम्बर, अश्वत्थ तथा मधूक इनमे किसी के पत्ते का विन्यास करे और फिर इसको चारो दिशाओ मे सुगन्ध, धूप से धुपावे। तदनन्तर बिना कटे-फटे शुक्ल-वस्त्र से इसको सब तरफ से वेष्टित करे क्योकि वास्तु के मध्य मे कुम्भ-रूप मे ब्रह्मा जी बैठते हैं ॥२१-२४॥

कुम्भ के उत्तर भाग मे बुद्धिमान् स्थपति कीलको की स्थापना करे फिर उनमे से आठ कीलो की परीक्षा करके यथाविधि (अर्थात् आठो दिशाओ मे) उनकी स्थापना करे ॥२५॥

फिर श्वेत चन्दन से उन पर लेप करे और श्वेत पुष्पों से उनको विभूषित करे। सालक्तक (रंगे हुए), सुगन्धित धूप से सुधूपित उन कीलों का तीन वर्ण वाले ऊनी सूत्र से अभिवेष्टन करे। शहद, घी, दही और दूध से उनके मूल भागों में लेपन करे ॥२६-२७॥

सब तरफ से परशु, सूत्र, अष्ठीला (पत्थर का औजार) आदि की पूजा करे और पूजा की सामग्री धूप, पुष्प, अक्षत आदि से सम्पन्न करे तब वास्तु के पूर्वोत्तर भाग में गोबर से लिपे हुए सप्तार्चि (अग्नि) के पद में कुशासन पर बैठा हुआ पुरोहित हवन और शान्ति-कर्म करे ॥२८-३०½॥

फिर ज्योतिषी शुद्ध एवं पवित्र होकर स्नान करके सावधान चित्त से शंकु से लग्न की सिद्धि करे। लग्न को तथा घड़ी की साधना शंकु से करे, रात्रि की लग्न को अस्त, उदय और मध्य भाग में आश्रित नक्षत्रों से साधे ॥३०½-३१॥

इस प्रकार से अपनी सिद्धि की इच्छा रखने वाला लग्न सिद्ध करावे तथा तुष्टि करने वाली पूजा से पुरोहित की पूजा करे क्योंकि पुरोहित की पूजा करने से ब्रह्मा की पूजा होती है ॥३२-३३½॥

तदनन्तर सांवत्सर ज्योतिषी की यथाविधि पूजा करनी चाहिए क्योंकि सांवत्सर की पूजा करने से साक्षात् बृहस्पति की पूजा होती है ॥३३½-३४½॥

त्वष्टा अर्थात् विश्वकर्मा की तुष्टि के लिए स्थपति की पूजा करे, क्योंकि उसी के अधीन सब शुभ अशुभ कर्म हैं। श्वेत चन्दन से लिप्त और श्वेत पुष्पों से पूजित उन लोगों की दशा-युक्त (पूरे) अहत वस्त्रों से अलंकृत, अंगुलियों से उनके मस्तक पर टीका लगाकर पूजन करे ॥ ३४½-३६½ ॥

जो मजदूर हैं उनकी भी यथाशक्ति पूजा करे और सुवर्ण से अथवा वस्त्रादि के दान से या फिर मीठे वचनों से ही उनको परितुष्ट करे। जिस प्रकार वे प्रसन्न होवें उसी प्रकार सादर सब कार्य करे ॥३६½-३७॥

तदनन्तर स्थपति आचमन करके बलि-कर्म का समाचरण करे। सूत्रपात से बुद्धिमान् स्थपति सार्वभौतिक बलि का समाचरण करे। उसके अनन्तर से जो बलि होती है वह कही जाती है। सफेद, लाल, पीले और काले चरुओं का अलग-अलग विधान करे। पायस, कृसर, क्षीर, निष्पाव (दाल), सफेद लाल, पालिक (पुए), दलि, मांस आदि से, घृत तथा दधि से मिश्रित भात से देवताओं के लिए बलि निवेदन करे ॥३८-४१½॥

घृत सहित तिलों से अग्निदेव की पूजा करे। तदनन्तर दही से बनी हुई खीर इशा जी के स्थान पर निवेदन करे। तदनन्तर समस्त देवताओं को बलि देवे ॥४१½-४२॥

यथा-प्रतिपादित (यथा-शास्त्र) वलिकर्म समाप्त कर और ब्राह्मणो से स्वस्ति-पाठन कराकर अपने शाखीय या स्वजातीय विद्वान् ब्राह्मणो की दक्षिणा और फलो से पूजा करे ॥४३॥

ओंकार (वेदपाठ), स्वस्तिवाचन एव पुण्यश्लोको से तथा गायन-वादन-नर्तन के शब्दो से ब्राह्मणो के साथ गृहस्वामी उस वास्तु-मडल की प्रदक्षिणा करे ॥४४॥

शंकुताडन—पहिले द्विजोत्तमो के द्वारा घट मे अक्षतो को डलवा कर तदनन्तर स्वस्तिवाचन के साथ दक्षिण-पूर्व की तरफ से जाकर नवीन वस्त्र पहने हुए पवित्र होकर स्थपति आसन पर वैठ कर पूर्वमुख दाएँ हाथ से शकु को धारण कर तदनन्तर वाएँ हाथ से उसको लेकर भूतल पर प्रतिष्ठापित कर इन मन्त्रो को जपता हुआ, वह वीर स्थपति कील को भूमि पर परशु से मारे ॥४५-४७॥

'तुम्हारे तल मे नाग और लोकपाल प्रवेश करे और घर मे प्रतिष्ठित हो कर इसकी आयु और वल को वढावें' ॥४८॥

आठ सुस्थिर (गहरे) प्रहारो को कील के मस्तक पर प्रदान करे और तदनन्तर कील को मारने के वाद निमित्तों (शकुनो) का उपलक्षण करे ॥४९॥

गो, ब्राह्मण, रथ, उत्तम हाथी, कन्याएँ, रानियाँ तथा शख, दुन्दुभि, वासुरी और गीत की ध्वनि यदि इस कील के मारे जाने पर आविर्भूत हो, तो स्वामी सतत सुख को प्राप्त करता है तथा शान्ति और ऐश्वर्य से वढता है ॥५०-५१॥

कील को चोट मारने पर यदि छींकें आ जाएँ अथवा कील विपन्न (फूट) हो जाए तो सूत्र और कील दोनो का निषेध समझना चाहिए। उस समय पाखडियो का दर्शन मागलिक नही होता ॥५२॥

शुभ निमित्तो को देख कर तदनन्तर शकु का निवेशन करे। यदि शकु के मारने पर वह भूमि मे धीरे से प्रवेश करे तो वहां पर कर्म की सिद्धि होती है और वह घर रत्नो से भर जाता है ॥५३-५४½॥

ताडित होने पर जव कील पृथ्वी मे प्रविष्ट नही होता तो वहाँ पर कर्मसिद्धि नही होती। इससे अनिमित्त (अशकुन) की ओर ध्यान जाना चाहिये ॥५४½-५५½॥

एक प्रहार से भी शकु जहा पृथ्वी मे प्रवेश करता है वहां पर वह घर सिद्धि को नही प्राप्त होता है और यदि वह वन भी जाता है तो फिर उसका उपभोग नही होता है ॥५५½-५६½॥

लोहे की बनी हुई दडो (हथौडी) आष्ठीला से ताडन करे और लकडी से नही, क्योकि लकडी से ताडित होने पर कील वह्निदोष करने वाला होता है और यदि पत्थर से वह ताडित किया जाए तो व्याधि देता है ॥५६½-५७॥

ऐन्द्री दिशा की ओर लचा हुआ कील धन तथा सम्मानकारक होता है तथा आग्नेयी दिशा मे कील के नत होने पर वडा भारी अग्निभय होता है ॥५८॥

दक्षिण दिशा मे (कील के नत होने पर) राजाओ का मरण और राक्षसो से भय होता है। उत्तर मे धन-नाश और वायव्य मे रोग से भय ॥५९॥

सौम्य दिशा मे आनत होने पर सौम्य प्राप्त होता है तथा ईशानी मे राजा की प्रसन्नता होती है। कीलक के कूर्चक (कूँची वन जाने पर) होने पर पुत्र, पौत्र तथा वशजो के साथ धन, धान्यो से उस घर मे वढती होती है और वह घर परम ऋद्धि को प्राप्त होता है ॥६०-६१½॥

यत्न से ताडित होने पर जव कोई कील फट जाता है तो वडा अपशकुन होता है। गृहस्वामी की पत्नी का अथवा उसके ज्येष्ठ पुत्र का नाश समझना चाहिए ॥६१½-६२½॥

यदि कील अपने आप फट जाए या टूट जाए तो स्वामी का वध होता है ॥६२½॥

यदि शकु हाथ मे गिर पडे तव स्थपति का नाश समझना चाहिए। आष्ठीला (हथौडी) के हाथ से गिरने पर यह कील हस्त के विच्युति का कारण वन जाता है ॥६३॥

कील यदि सुखपूर्वक ताडित किया जाता है तो वह स्वस्थ नहीं होता तब फिर उसको आठ प्रहारो से ताडित करे ॥६४॥

माला, गन्ध और धूप के उपहारो से कीलो का परिषेचन करे। इस महापुण्य साम का सक्षेप से परिशीलन कर विद्वान् जब तक शकु का अभिषेचन हो तब तक अंशोक (साम) का जाप करे। पुन इसके बाद नैर्ऋत्य दिशा की ओर जा कर उस शकु का निवेशन करे ॥६५-६६॥

साम के 'ऊर्णायव' ग्रन्थ से इसको ठीक तरह से स्नान करावे। तदनन्तर वायव्य दिशा मे जाकर वहाँ पर शकु का निवेशन करे। उसका वहाँ पर 'महारत्न-साम' से अभिषेक करे। इसके बाद ईशान कोण मे जाकर वहाँ पर शकु की स्थापना करे और 'भाग्रसाम' से पहले की तरह अभिषेचन सम्पादन करे ॥६७-६८½॥

इसके बाद सव्य (दक्षिण की ओर) द्विगुणित-वेष्टित (दो डोरी से लपेटे हुए) सूत्र को बाँधे और फिर इसको प्रदक्षिण मे फैलावे। यह यथा-विधि शकु का क्रम कहा गया है ॥६९½-७०½॥

सूत्र को बाँधने पर जब शकु कुछ छोड देता है अर्थात् सूत्र ढीला हो जाये तो पुत्रवध समझना चाहिए। सूत्र के छिन्न होने पर वह अपने स्वामी की मृत्यु का कारण बनता है। इसीलिए जब तक सूत्र फैलाया जाए तो बडी सावधानी से काम लेना चाहिए ॥७०½-७१॥

चारो (?) करो (बाहुओ) का पोष करता है जब काटने पर दुष्ट नही होता। सूत्र को फैला कर पूर्व प्रकल्पित चरुओ का अपने स्थानो पर वितरण करे ॥७२॥

पूर्व-दक्षिण दिशा की तरफ मुख करके इस मन्त्र को हृदय से जपे—मारुतो अर्थात् देवो को और सब मानवो को मन्त्र से अभिमन्त्रित करके इस बलि को देता हूँ। लाल बलि लेकर नैर्ऋत्य दिशा की ओर उन्मुख होकर नैर्ऋत्याधिपति और उस दिशा मे जो राक्षस है उन सबको मैं लाल चावल की इस अनुत्तम बलि को देता हूं। अब काली बलि को लेकर वायव्य दिशा मे जाकर नागराज के लिए नमस्कार है और जो लोग नागराज के आश्रित हैं उनको भी नमस्कार है। उन्हे मैं काले चावल की अनुत्तम बलि देता हूँ। पीली बलि को उठाकर ऐशानी दिशा का आश्रयण कर सब रुद्रो को नमस्कार है और जो उन रुद्रो मे समाश्रित हैं उनको भी नमस्कार है। उन लोगो के लिए यह पीले अनुत्तम चावलो की बलि देता हूँ ॥७३-७९॥

इस प्रकार से इन समग्र बलियो का यथाविधि प्रतिपादन करे, तदनन्तर पुण्य उस कुम्भ के जल को दिव्य साम से अभिमन्त्रित करे। और उससे 'वाम-देव्य' मन्त्र से वास्तु का प्रोक्षण करे ॥८०-८१½॥

ब्राह्मण आदि वर्णों के योग्य शकु-निर्माण मे जो शुभ वृक्ष माने गए हैं उनका वर्णन किया गया। शकु का जो फल होता है वह भी स्फुटित किया गया तथा शकु-निवेश के निमित्तो का भी बार-बार वर्णन किया गया। साथ ही साथ सूत्र के प्रसारण की मन्त्रपूर्वक विधि भी बताई गई। मंत्रपूर्वक कीलों मे देवताओ के परितोष के लिए विधिवत् प्रत्येक दिशा की बलि का भी वर्णन किया गया ॥८१½-८२॥

रेखाचित्र 'स'

परमशायिक

(एकाशीतिपद-वास्तु-पद)

रोग पा रा	नाग	मुख्य	भल्लाट	सोम	चरक	दति	दिति	अग्नि चरकी
पाप-यक्ष्मा	रुद्र ↓	↑ यक्ष्मा	पृथ्वीधर षट्पदिक			↑ आप	आप-वत्स ↓	पर्जन्य
शोष								जयन्त
असुर	मित्र षट्पदिक		ब्रह्मा नवपदिक			अर्यमा षट्पदिक		इन्द्र
वरुण								रवि
पुष्प-दन्त								सत्य
सुग्रीव	↑ इन्द्र	जय ↓	विवस्वान् षट्पदिक			सविता ↓	↑ सावित्र	भृश
दौवा-रिक								नभ
पितृ-गण	मृग	भृङ्ग-राज	गन्धर्व	यम	गृहक्षत	वितथ	पूषा	अनिल विदारी

टि० क दिशाओं एवं विदिशाओं पर स्थित ३२ देवताओं के एक-एक पद-भोग = ३२

ख. रुद्र, यक्ष्मा, आपवत्स, आप, जय, इन्द्र, सविता एवं सावित्र इन आठ देवों के प्रत्येक का द्विपदिक भोग = १६

ग पृथ्वीधर, मित्र, विवस्वान् एवं अर्यमा के प्रत्येक के षट्पदिक भोग = २४

घ मध्य में ब्रह्मा का नवपदिक भोग = ९

योग = ८१

तृतीय पटल

पुर-निवेश

१. नगरादि, भवनादि एवं भवनांगों की संज्ञाएँ

२. नगर-निवेश

नगर-निवेश में मार्ग-विनिवेश
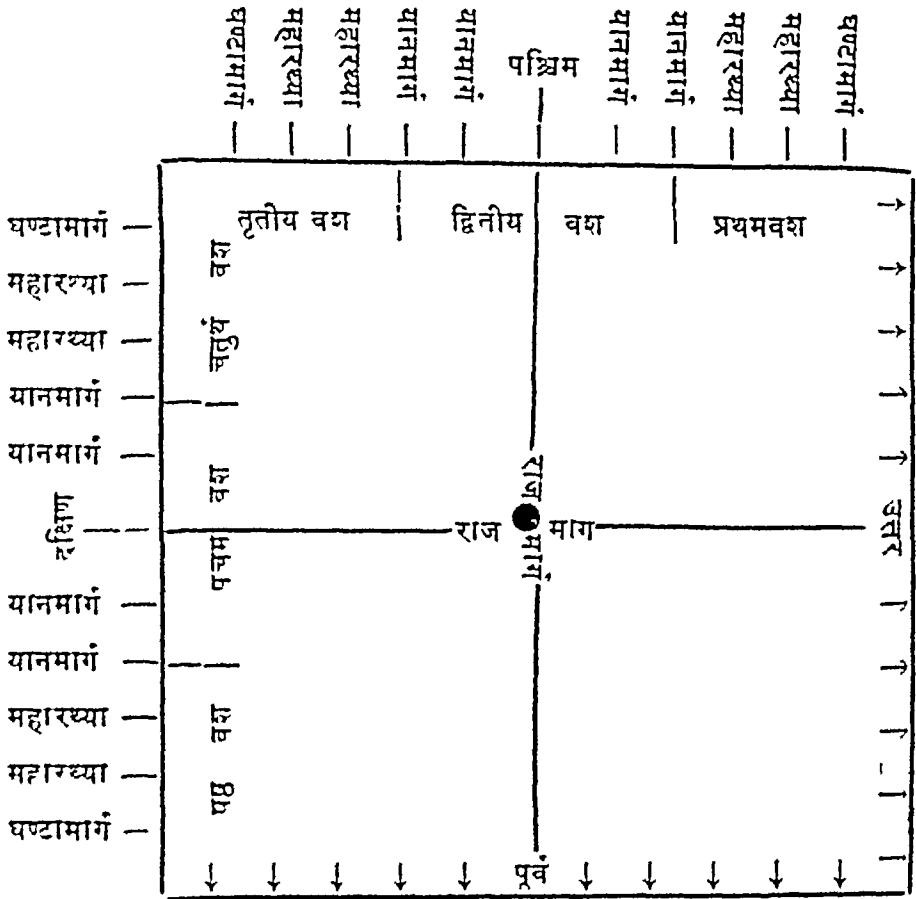
टि०—पूर्व से पश्चिम दौड़ने वाले ये प्रधान ११ मार्ग हैं—१ राज-मार्ग, ४ महारथ्यायें, ४ यान-मार्ग तथा २ घण्टा-मार्ग। इसी प्रकार दक्षिण से उत्तर इतने ही मार्ग दौड़ते हैं। इस चित्र में यान-मार्ग के पर्यन्त जघा-पथों एवं अन्य रथ्याओं तथा उप-रथ्याओं को नहीं दिखाया गया है। वैसे तो म० सू० के अनुसार (दे० 'पुर-निवेश') पुर के मार्गों की सख्या १७-१७ है।

नगरादि-संज्ञा

नगर, मन्दिर, दुर्ग, पुष्कर और साम्परायिक, निवास, सदन, सद्म, क्षय, शितिलय—ये नगर के पर्याय हैं, जिनसे नगर का विकास सूचित होता है (देखिए लेखक का "भारतीय वास्तुशास्त्र"—पुर-निवेश पृ० ८९) ।।१।।

जिस नगर मे राजा रहता है उसको **राजधानी** कहते हैं और अन्य नगर **शाखा-नगर** की सज्ञाओ से कहे जाते हैं । शाखा-नगर को ही नगरोपम **कर्वट** कहा जाता है । कुछ गुणो से कम कर्वट को ही **निगम** कहते है । निगम से कम **ग्राम**, ग्राम से कम **गृह** होता है, 'गोकुलो के निवास को **गोष्ठ** कहा जाता है और छोटे गोष्ठ को **गोष्ठक** कहते हैं । राजाओ का जहा पर उपस्थान होता है, उसको **पत्तन** कहते हैं । जो पत्तन वहुत फैला हुआ और वैश्यो से युक्त होता है उस पत्तन को **पुटभेदन** कहते हैं । जहा पर पत्तो, शाखाओ, तृणो एव उपलो से कुटिया वनाकर पुलिन्द लोग रहते हैं, उसको **पल्ली** कहते हैं और छोटी पल्ली को **पल्लिका** कहते हैं । नगर को छोड कर और सव **जनपद** कहलाता है और नगर को मिलाकर सम्पूर्ण राष्ट्र को देश अथवा मडल कहते हैं ।।२-७।।

आवास, सदन, सद्म, निकेत, मन्दिर, सस्थान, निधन, धिष्ण्य, भवन, वसति, क्षय, आगार या अगार, सश्रय, नीड, गेह, शरण, आलय, निलय, लयन, वेश्म, गृह, ओक, प्रतिश्रय—ये भवन-पर्याय है ।।८-९।।

गृह के ऊपर की भूमि को **हर्म्य** कहते हैं, उसके ऊपर चढने के मार्ग को **सोपान** कहते हैं । दो खम्वो पर लकडियो के द्वारा वनाये गए अधिरोहण (सीढी) को **नि.श्रेणी** कहते हैं और इसमे वडे-वडे पद वाले सोपान होते है ।।१०-११।।

लकडियो से सवृत गेह को **काष्ठ-विटंक** कहते हैं । चूने से पुता हुआ तल वाला हर्म्य **सौध** कहलाता है और उसको कुट्टिम (अर्थात् मोजेक फर्श वाला) वनाते है । वर्षा के भय से जो ताल और शाक के पत्तो से छायी जाती है उसको **अभिगुप्ति** कहते हैं और वह घर के सव से ऊपर वनायी जाती और रहती भीतर है । दीवालो के वातायन को **अवलोकनक** कहते हैं और जो छोटा वातायन होता है उसको **अवलोकनक** कहते हैं । हर्म्य के वीच मे जो छेद होता है

उसको उलूक कहते हैं। हर्म्य-तल के काठ को हर्म्य-प्राकारक कहते हैं। आठ खम्भों की वितर्दिका कहलाती है, वह सब तरफ से छेदमूलगा होती है और उसके खम्भों में यदि मृग होते हों तो उन्हे ईहा-मृग कहते हैं। हर्म्य-देश से जो लकड़ियों का उपनिगम होता है उसको निर्यूह कहते हैं। छेद से निकले हुए काष्ठ को वलीक कहते हैं ॥१२-१७॥

चारों पार्श्वों से छन्न (ढका हुआ) अर्थात् जिस घर के आँगन के चारों ओर शालाएँ हों वह चतुःशाल कहलाता है। इसी प्रकार तीन पार्श्वों मे त्रिशाल और दो पार्श्वों से द्विशाल बनता है। एक पार्श्व से छन्न एकशाल गृह कहलाता है और जो घर सब तरफ से सच्छन्न है उसको शाला कहते हैं। ॥१८-१९॥

शालाओं के मध्य भाग मे जहाँ आँगन होता है वहीं पर वापी या पुष्करिणी होती है। वह यदि सच्छन्न हो तो उसे गर्भ-गृह कहा जाता है। गृह मे महाजन-स्थान, जो त्रिकुड्य बनाया जाता है, उसको यहाँ पर उपस्थान कहते हैं और छोटे उपस्थान को उपस्थानक कहते है। प्रासाद को ही प्रासाद कहते हैं और उसमें छोटे को प्रासादिका कहते हैं और दीर्घ-प्रासादिका को वलभी कहते हैं। शाला के अग्रभाग मे जो वलभी होती है उसको अलिन्द कहते है और बिना शाला के जो वलभी होती है उसे वलभ कहते हैं। छोटे छोटे चतुष्कुड्यों को अपवरक कहते हैं। गृह मे आभ्यन्तर स्थान को शुद्धान्त कहा जाता है। जहाँ सुरंग के समान गली मे रहा जाता है उसको प्रतोली कहते हैं। घर मे जो अवस्थान्तर गृह होता है उसे कक्षा कहते हैं। जो उपस्थानक होता है और जो अपवरक होता है, वे कोष्ठक कहलाते हैं। कठा को कुड्य और भित्ति को चय कहते हैं। रसोई की शाला को महानस कहते हैं और जो द्वार-देश मे छन्न स्थान रहता है उसको द्वार-कोष्ठक कहते हैं, उसको प्रवेशन और द्वार-निर्गमन भी कहते हैं। जल-निर्गमन-स्थान को उदक-भ्रम कहते हैं, भवन के आँगन को भवनाजिर कहते हैं। वन की पृथ्वी को वनाजिर और आश्रम के आँगन को आश्रमाजिर कहते हैं ॥२०-२९॥

उत्तर उदुम्बर के नीचे के आँगन के कुड्यों के बीच के सश्लिष्ट भाग को देहली कहते हैं और उसे कपाटाश्रय भी कहते हैं। कपाट को द्वार-पक्ष तथा कपाट-पुट भी कहते है। पक्ष, पिधान, वरण, द्वार-संवरण—ये शब्द कपाट के पर्यायवाची हैं। दो कपाट-सम्पुटों को कपाट-युगल कहते है और द्वार-बन्धन के लिए जो कीलिका होती है उसे अर्गला कहते हैं। प्रमाण में यदि दीर्घ हो तो उसे अर्गला-सूची कहते हैं और यही सूची पुरों के लिए परिघ कहलाती है और यही

हाथियो के वारण के लिए **फलिह** कहलाती है। गवाक्षो के तुल्य छिद्रो से सब तरफ से छिद्रित फलक को **गवाक्ष** अथवा **जाल** कहते है। हर्म्य के द्वार पर, गृह के द्वार पर तथा हर्म्य के अवलोकन पर और दूसरे प्राकार के पृष्ठ पर जो प्रासादिका होती है, उपर्युक्त इनके (द्वारो के) दोनो पार्श्वों पर फलक-द्वय-उच्छ्रित अर्ध-चन्द्र-द्वय की आकृति, ऊपर-ऊपर से जब सक्षिप्त निर्मित होती हैं और आगे के इससे लगे हुए खम्बो के द्वारा इसमे जो दो आनन निर्मित होते हैं, उन दोनो के ऊपर अथवा सन्धि मे जो तारकाकृति मडल होता है, उसे **तोरण** कहते है। जिस द्रव्य से वह निर्मित होता है उसकी वह सज्ञा लेता है जैसे मणि से निर्मित **मणि-तोरण,** सुवर्ण से निर्मित **सुवर्ण-तोरण,** पुष्पादि से निर्मित **पुष्प-तोरण** और तोरण के अग्रभाग मे जो ठकार होता है, उसे **सिंह-कर्ण** कहते हैं ॥३०-३९॥

गृह की सचार-भूमियो को नाम से **सयमन** कहते हैं और घर के पास मे भी उसी को **संयमन** कहते है और दीवार अथवा लकडियो के तरङ्गाग्र की भाँति झुके भाग को **मरालपाली** कहा गया है और हर्म्य के पानी के निर्गम को **प्रणाली** कहते हैं। आँगन के कठ को **प्राकार** कहते हैं तथा द्वार के समीप स्थान को **प्रद्वार** कहते हैं। ईटो से जडे द्वार के मूल-भाग मे छोटा अथवा वडा जो स्थल होता है उसको **आस्थालक** कहते हैं। मूत्रभूमि को **अमेघ्य, वर्चस्क** अथवा **अवस्कर** कहते हैं। गृह से भित्ति सामान्य अर्थात् दीवालो से लगाकर उसके बाह्य को **परिसर** कहते हैं। विस्तीर्ण और ऊँचा जो वेश्म होता है उसे **अट्ट** कहते हैं और जो सक्षिप्त होता है उसे **अट्टालक** कहते हैं। उसी को अत्यन्त सक्षिप्त होने पर **अट्टाली** कहते है। जो अट्टाली बहुत ऊँची नही होती उसे **अट्टालिका** कहते हैं ॥४०-४६॥

धारा-गृह—एक-नाडीगत-छिद्रो वाले काष्ठ-नालो से परिश्रित छद-पृष्ठ पर जहाँ जल धावन करता है, वह **काष्ठ-प्रणाली** कहलाती है तथा काष्ठ-मूल पर आश्रित स्तम्भ-शीर्षक-रूपो को खोखला वना कर उनमे काष्ठ-नाली के मुखान्तरो से जो पुरुषाकृति अथवा पश्वाकृति रूप जैसे वृष, वानर गज रूप (सम्पन्न होते हैं) उनके स्तन, नासा, मुख और आँखो से जव चारो तरफ पानी निकलता है उसको **धारागृह** अथवा **धारागार** आदि नाम से पुकारा जाता है ॥४७-५०॥

दर्पण-गृह—कांसा और लोहा आदि धातुओ के पट्टो से निर्मृष्ट शीशो से निचित (मढी हुई) भित्ति को **दर्पण-गृह** कहते हैं ॥५१॥

महाद्वार से दूसरे द्वार को **पक्ष-द्वार** कहते हैं और पुर मे जो प्राकार

मे आश्रित द्वार है उसको गोपुर कहते है। प्राकार मे निकले हुए और उठे हुए अवकाशो को उपकार्या कहते हैं और क्षौमो को अट्टालक कहा जाता है। पुरी-सवरण नाम वाली चय-प्राकार-शाला होती हैं। वगीचे मे क्रीडागृह को उद्यान कहते हैं। जल के तट पर स्थित उद्यान को जलोद्यान कहते हैं। जल के बीच मे स्थित वेश्म को जलवेश्म कहते हैं। यहाँ पर जो क्रीडागृह कहा गया है उने क्रीडागार भी कहते हैं, विहार-भूमि को आक्रीडभूमि भी कहते है ॥५२-५६॥

देवधिष्ण्य, सुर-स्थान, चैत्य, अर्चा-गृह, देवतायतन, विबुधागार—ये सब देव-मन्दिरो के पर्याय हैं जिनसे मन्दिर-वास्तु एव प्रासाद-शिल्प के विकासो पर प्रकाश पडता है, देखिये—इस ग्रन्थ का द्वितीय भाग (प्रासाद-निवेश) ॥५७॥

जो स्थान छन्न होता है उस (Public Gallery)—महाजनो के छन्न-स्थान को शाला कहते हैं और सभा भी, और गोष्ठो के मन्दिर को वास्तु-विशारद यहाँ वास्तु-शास्त्र मे गोष्ठ कहते हैं ॥५८॥

अध्याय २३

पुर-निवेश

पुर अर्थात् नगर तीन प्रकार के होते हैं—ज्येष्ठ, मध्यम तथा कनिष्ठ। इन तीनो प्रकार के पुरो के प्राकार, परिखा, अटारी, द्वार, गली एव मार्ग के साथ-साथ अब उनके प्रमाण का वर्णन किया जाता है ।।१।।

ज्येष्ठ नामक पुर चार हजार चाप के व्यास का कहा गया है, मध्यम पुर दो हज़ार चाप के व्यास का कहा गया है और अधम पुर एक हज़ार चाप के व्यास का होता है। व्यास के आठवे भाग अथवा चौथे भाग अथवा आधे भाग के साथ प्रत्येक का क्रमशः विस्तार करना चाहिए और वह चौकोर करना चाहिए। चौंसठ पद वाले वास्तु-पद से सब पुर बनाने चाहिएँ। सोलह कोष्ठ, छ प्रधान मार्ग, नौ चबूतरे वहाँ बनाने चाहिएँ ।।२-४।।

क्षेत्र के चतुरश्रीकृत (चौकोर) होने पर पूर्व तथा उत्तर तक चार-चार भाग के तीन-तीन वश स्थापित करने चाहिएँ। इन छः वशो मे पुर-पद के विभक्त हो जाने पर और सोलह पदो अर्थात् कोष्ठो से युक्त होने पर मध्यम वंश का अवलम्बन कर शुभ राजमार्ग का निर्माण करना चाहिए। चौवीस करो (हस्तो) के प्रमाण से ज्येष्ठ पुर मे यह राज-मार्ग श्रेष्ठ मार्ग होता है, मध्यम पुर मे बीस करो से यह राज-मार्ग मध्य मार्ग कहलाता है। इसी प्रकार सोलह करो से अधम पुर मे यह राज-मार्ग अधम कहलाता है। राजा और प्रजा तथा चतुरगिणी सेना के लिए यह मार्ग पक्का बनाना चाहिए और आने-जाने की पूरी सुविधा वाला बनाना चाहिए ।।५-८।।

उस मार्ग के पास दोनो वशो पर दो महारथ्याओ का निर्माण करना चाहिए। ये दोनो महारथ्यायें तीनो ज्येष्ठादि पुरो मे क्रमश बारह, दस और आठ करो के प्रमाण की होती हैं ।।९।।

पद के मध्य भाग मे चार यान-मार्गों का निर्माण करना चाहिए। इन ज्येष्ठादि पुरो मे यान-मार्ग चार करो का होता है। महामार्ग की आधी अथवा आधी से दो करो से अधिक उपरथ्या का प्रमाण माना गया है और शेष रथ्याए उसके आधे प्रमाण से निर्माण करनी चाहिएँ। चारो यान-मार्गों के दोनों तरफ पदाष्टक-पदान्तस्थ दो-दो जघापथ (फुट-पाथ) बनाने चाहिएँ।

ज्येष्ठ पुर मे ये दोनो जघापथ तीन हाथ के, मध्यम पुर मे ढाई हाथ के अधम पुर मे दो हाथ के होने चाहिए। पुर के बीच मे दूसरे दो और मार्गो अर्थात् घटामार्गों का निर्माण करना चाहिए। गुण और प्रमाण मे वे राज-मार्ग के समान होते हैं। इस प्रकार पूर्व से पश्चिम तक सत्रह मार्गों का वर्णन किया गया। उसी प्रकार से दक्षिण से उत्तर तक उसी प्रमाण से उतने ही मार्ग बनाने चाहिएँ॥१०-१५॥

वप्रप्राकारादि-विनिवेश—वप्र एव परिखा—घटामार्ग के प्रमाण से घटा-मार्ग के बाहर चारो तरफ वप्रभू-विशेषज्ञो के द्वारा वप्रभू की स्थापना करनी चाहिए। उनके बाद उस भूमि के बाहर महारथ्या के प्रमाण से व्याम-खाता-न्तरो के साथ तीन परिखाओ का निर्माण करना चाहिए। खोदी हुई मिट्टी बाहर कर व्यास और मूल के प्रमाण से आधा अथवा व्यास के ही परिमाण मे वप्र निर्माण करे। अपनी भूमि के भाग पर खाई की खुदी हुई मिट्टी से उत्सग के सहित अथवा गजपृष्ठ की ऊँचाई से गोग्रीय-पद-ताडित अर्थात् गौवो के समूहो के पदो से बराबर करवाकर वप्र का निर्माण करना चाहिए ॥१६-१९॥

खाई की खोदी हुई मिट्टी से वप्र-निर्माण-कार्य सम्पन्न होने पर बची हुई मिट्टी से पहले के निम्न प्रदेशो को पूरित कर बराबर कर देना चाहिए। इस प्रकार से तीनो परिखाओ के चारो तरफ सशोधन करके पत्थरो से अथवा ईंटो से उनके तल को दृढ बनाना चाहिए। फिर उसको पानी से भर देना चाहिए जिससे वहा पर चित्र विचित्र कमलो से शोभा हो रही हो, साथ ही साथ सग्रहीत जल के निकालने का मार्ग भी हो ॥२०-२२॥

अब इन परिखाओ के सब तरफ फूलो के पौधो और पेडो के सुन्दर सुगन्धित बगीचो का निर्माण करना चाहिए, जहा पर मधुकरिया गन्ध से अन्धी हो रही हो। पुन. उनकी सब दिशाओ की तरफ बाहरी भाग को पेड़ों, लताओ एव काटो से ढक देना चाहिए ॥२३-२४॥

प्राकार—वप्र के ऊर्ध्व भाग मे स्थित मध्य प्रदेश पर बडे-बडे पत्थरो से बनाया गया अथवा पकी हुई ईंटों से बनाया गया विकट प्राकार का निर्माण करना चाहिए। यह प्राकार तीन तरह का होता है। श्रेष्ठ प्राकार का विस्तार द्वादश कर, मध्यम का दस कर और अधम का आठ कर होता है। श्रेष्ठ प्राकार की ऊचाई सत्रह हस्त के प्रमाण की होती है, मध्यम की पन्द्रह और अन्तिम (अधम) की तेरह। प्राकार की ऊचाई सत्रह हस्तों से अधिक नहीं जाती है और न तेरह हस्तो से नीचे ॥२५-२८॥

प्राकारोत्सेध-गुण—प्रत्येक हस्त पर ऊचाई मे दो-दो अंगुल विस्तार

वढता जाता है जिस प्रकार का मूल मे बारह हस्तो के प्रमाण का विस्तार होता है उसमे चार हस्तो की ऊँचाई से और दस हस्तो के विस्तार से उसके **शिखर** का निर्माण होता है। **कपिशीर्ष** (कँगूरा) एक हाथ ऊँचा और **कांडवारिणी** (छालदिवारी) दो हाथ ऊँची। उस प्राकार के ऊपर चारो तरफ प्रत्येक दिशाओ मे कर्णो (कोनो) मे आश्रित और द्वार-कर्णो मे स्थित **अट्टालिकाओ** का निर्माण करना चाहिए। प्राकार की ऊचाई से एव उसके विस्तारानुरूप **चरिका** (आकाश-पथ) वनता है। उसके आधे से सालो (दीवालो) और अट्टा-लिकाओ सहित निर्गम का निर्माण करना चाहिए। अट्टालिकाओ का सौ-सौ हस्त प्रमाण से अन्तर देना चाहिए और इस तरह से पत्ति (पदाति), घोडो, रथो और हाथियो से वह पुर अगम्य हो जाता है अर्थात् सभी को सञ्चार-सुगमता। चरिका का ऐसा निर्माण करना चाहिए, जिसमे द्वारो का सचार हो, सरलतापूर्वक आरोहण हो और जिसमे वेदिकाएँ भी हो, सोपान भी हो, निर्यूह और कपिशीर्षक भी हो ॥२९-३४॥

पुर-द्वार—राजमार्गो, महारथ्याओ से युक्त चारो दिशाओ मे तीन-तीन उग पुर मे द्वार-विशेषज्ञ के द्वारा दरवाज़े वनवाने चाहिएँ। राजमार्ग के चारो **महाद्वारो** का विस्तार नौ, आठ, सात हाथ का होना चाहिए परन्तु भूमि से दुगुना न हो और तीन हाथ भूमि साथ-साथ छोड देनी चाहिए। महारथ्या का आश्रित द्वार छः, पाच, चार हाथ के प्रमाण का विहित है, उसका विस्तार ऊँचाई से डेढ हाथ कम वताया गया है ॥३५-३७॥

प्रतोली—सभी महाद्वारो मे मज़वूत **प्रतोलियो** का निर्माण करना चाहिए। प्रतोलियो (पौरियो) के फाटक इन्द्रकीलो और अर्गलाओ से मज़वूत होने चाहिएँ। राजमार्ग के समान प्रतोली से निकलने की शालाएँ वनानी चाहिएँ, उनके आधे से कोष्ठो का निर्माण करना चाहिए और उनका आधा विस्तार कहा गया है। दो मूपाओ से अन्वित, व्यास मे तीन अश से विन्यस्त मार्ग वाली, मुख तक आयत चौकोर प्रतोली (गली) का निर्माण करे। प्रतोली के भीतर महाद्वार के ही प्रमाण मे प्रतोली के चारो दरवाज़ो को, जो कोष्ठको मे न्यस्त होते है, उनको लकडियो से विभूपित करना चाहिये। चौकोर पोले मुंह वाली अपने व्यास के तीन अश से विन्यस्त मार्ग वाली तथा मूपा-द्वयवती प्रतोली का इस प्रकार से न्यास करके अन्दर की दीवार मे महाद्वार-युक्त चार दरवाज़े वनवाए और इन्हे विकल्प कोठे मे लकड़ियो से सजाये। दरवाजो पर दोनो तरफ शालाएँ वनावे और दोनो मूपाओ पर दो-दो दरवाज़े हो और अपने सामने हो और व्यास से दो हाथ दुगुने उठे हो तथा उनका लकडी और खिडकी के वीच मे पांच हाथ

उठा हुआ मध्य भाग होना चाहिए। प्रतोली की यह पहली भूमि हुई। उसी प्रकार दूसरी भू का निर्माण करना चाहिये। परन्तु द्वारानुरूप उसका उदय विहित है। बाहर के दरवाजों को छोडकर उस दूसरी का प्रकल्पन पूर्ववत् विहित है। आमने-सामने वाली खिडकियों से अग्रभाग युक्त होवे। तीसरी भू पर तीसरा तल बनावे जो महाद्वार पर उत्थित होना चाहिये और हर्म्यकण्ठ तथा परिक्रमों से युक्त हो और उस पर स्तम्भ का न्यास करे। यहाँ पर व्यालजाल, शतघ्नी, अस्त्र-शस्त्र एवं यन्त्रों की रचना चाहिये। पुर की वृद्धि, शोभा एवं रक्षा के लिए पुर के चारों ओर तीन तलों की प्रतोलियों वाले बडे-बडे दरवाजे बनावें। प्रतोली के वायें से उठा हुआ और वायें से उसके दूसरे छोर तक पहुँचा हुआ तथा एक हिस्सा बाहर निकला हुआ बनाना चाहिये, दूसरा हिस्सा वाये से निकलकर इसी का घेरा हो जाये और उसके उठने तक आगे बाहर परकोटा बन जाये और इन दोनों के अन्तरावकाश मे एक सडक बन जावे। इसका मुख्य द्वार उन्नत बनाना चाहिये, तभी इसकी प्रतोली (पौरि) संज्ञा सार्थक होगी ॥३८-५०॥

पक्ष-द्वार—उपभोग के उपयुक्त सरिताओं, पर्वतों, जलाशयों को देखने के लिये स्वेच्छा से पक्ष-द्वारों का निर्माण करना चाहिये ॥५१॥

जल-भ्रम (नालियां)—पत्थरों एवं लकडियों से तिरोहित जल वाले प्रदक्षिण दो हस्त परिमाण वाले अथवा एक हस्त परिमाण वाले जल-भ्रमों (नालियों) का निर्माण करना चाहिये ॥५२॥

गर्हित पुर—छिन्न-कर्ण, विकर्ण, वज्र, सूचीमुख, वर्तुल, व्यजनाकार, धनुषाकृति, विस्तार से द्विगुणायत, दो गाडियों के आकार के समान शकटद्वि-समाकार कुदिशा मे स्थित कुदिशस्थ तथा सर्पचक्र—ऐसे पुरों को निन्दित कहा गया है ॥५३-५४॥

छिन्नकर्ण पुर मे बसने वाले लोगों को चोरों से, व्याधियों से तथा शत्रुओं से भय रहता है ॥५५॥

विकर्ण पुर मे रहने वाले भद्र मनुष्यों को दुष्ट राजा, सर्व-लोक-निन्दित अनपत्यता और कम आयु—ये दोष प्राप्त होते हैं ॥५६॥

वज्राकृति पुर मे रहने वालों को स्त्री से पराजय, विष-रोग और अनेक प्रकार के भेदों का भय रहता है ॥५७॥

सूची-मुखाकार पुर में रहने वाले व्यक्ति क्षुधा एवं व्याधि से परिपीडित रहते हुए हमेशा नाश को प्राप्त होते है ॥५८॥

वर्तुल पुर मे मनुष्य अपने राजा के साथ नष्ट होते हैं और उनका नाश

सचय नष्ट हो जाता है । उनकी अवस्थाएँ भी छोटी होती हैं ।।५९।।

व्यजनाकार वाले नगर मे मनुष्य असत्यवादी, स्वल्पायु, रोग से आक्रान्त तथा आँधी तूफानो से सताए हुए और चल-चित्त होते हैं ।।६०।।

चापाकार पुर मे रहने वाले मनुष्य दुश्चरित्र स्त्रियो से युक्त होते हैं और उनमे से बहुत नपुसक भी होते हैं, यह ध्रुव है ।।६१।।

शकटद्विसमाकार नगर का यदि निवेश होता है तो वहाँ पर रोग, शोक, अग्नि और चोरी का भय होता है ।।६२।।

यदि नगर का **द्विगुणायत-सस्थान** किया जाता है, तो आरम्भ से ही असिद्धि प्राप्त होती है । ब्राह्मणो के लिए यह नगर भय-दायक होता है तथा लोगो मे स्ववर्गीयो एव कुटुम्बियो से झगडा रहता है और यहाँ पर पुरवासियो तथा राजा के घोडो और हाथियो का नाश भी हो जाता है । ऐसे नगर को बलशाली शत्रु हमला करके उपभोग करते है ।।६३-६४।।

कुदिशा मे स्थित अर्थात् **दिङ्मूढ** नगर मे आदमियो का नाश, अग्निदाह और स्त्रीकृत भय रहते है तथा यहाँ क्षेम नही रहता है ।।६५।।

भुजग-कुटिल नगर मे लोग शस्त्र, अनिल, पिशाच, अग्नि, भूत, यक्षादि के भय से दुखित रहते है और रोगो से पीडित होकर नष्ट हो जाते है ।।६६।।

नगरो के इन अप्रशस्त सस्थानो का वर्णन किया गया है तथा इस प्रकार के किसी एक भी आकार मे नगर का निर्माण नही करना चाहिये । इन निन्दित नगरो मे से यदि किसी एक का भी सस्थान अज्ञानवश अथवा प्रमादवश हो जाता है तो सारे-का-सारा राष्ट्र क्षुधा, शत्रु-भय और मृत्यु से निपीडित होता है । इसलिए शास्त्रज्ञ स्थपति को प्रयत्नपूर्वक बुद्धि से सुन्दर नगर की, जैसाकि पूर्व प्रतिपादित किया गया है, स्थापना करनी चाहिये ।।६७-६९।।

नगराभ्युदयिक शान्ति—वेदी-निवेश मे, यात्रा मे, मन्दिर के निर्माण मे और अभिचार मे, नदीकर्म मे तथा मैत्र-कार्य मे और श्रमो मे शान्ति अवश्य करनी चाहिये। इसी प्रकार यज्ञ मे, नगर-स्थापना मे अथवा साधारण स्थापना मे प्रयत्नवान विद्वान् स्थपति कुछ न कुछ माँगलिक कृत्य अवश्य करे । यदि ठीक तरह से कर्म नही किया जाता है, तो उससे नगर मे निरन्तर भय, अनायुष्य, अपौष्टिकता रहती है और वह राजा को मारने वाला होता है । जो कर्म अशास्त्रज्ञो के द्वारा सम्पादित होता है और जो निर्लक्षणो के द्वारा अर्थात् अशास्त्रज्ञ स्थपतियो के द्वारा बनाया जाता है वह निन्दित तथा फल-रहित

होना है। इसलिए शास्त्रज्ञ स्थपति ज्योतिषशास्त्र को जानने वाले ज्योतिषी तथा पुरोहित से सहायता लेकर नगर मे शान्तिक आदि कर्म करे। पुरोहित हवन करे और ज्योतिषी स्थिरता प्रदान करे। राजा (स्थपति) पूजा करे, इस प्रकार से शान्ति-समारोह होना चाहिए। तब उस नगर मे शान्ति का राज्य होता है और वहाँ पर मर्म मे स्थित और चबूतरो मे स्थित देवगण पौरो के द्वारा सदैव पूजित होते हैं ॥७०-७६॥

चार प्रकार का स्थापत्य विज्ञान होता है। आठ प्रकार का चिकित्सा विज्ञान होता है। सात अगो वाला धनुर्वेद विज्ञान होता है। ज्योतिष चौथा विज्ञान होता है और ये चारो पारिभाषिक शास्त्र या विज्ञान कमलालय ब्रह्मा के द्वारा बनाये गए हैं ॥७७॥

प्राय सभी नगरो मे उत्पातादि भय समान हैं। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र ऐसे नगर को कभी नही त्यागते जो शास्त्रानुसार निविष्ट होते हैं ॥७८॥

इस प्रकार से नगर का यथावत् विभाग बताया गया। नगर के आधे विस्तार का खेट और खेट के आधे विस्तार का ग्राम कहा गया है ॥७९॥

नगर से खेट एक योजन पर, खेट से ग्राम एक योजन और एक गाँव से दूसरा गाँव दो कोस पर कहा गया है ॥८०॥

जनपद की दो कोश मे सीमा होनी चाहिये और उस के आधे मे नगर की और नगर की सीमा के आधे से खेटक की और खेटक की सीमा के आधे गाव की सीमा कही गई है ॥८१॥

नगर मे दिशामार्गो का विष्कम्भ तीस धनुष कहा गया है और खेटक मे बीस और गाव मे दस ॥८२॥

बडे राष्ट्र मे नौ हजार नब्बे ग्राम होते हैं। विद्वान् लोग कही-कही नौ हज़ार चौसठ ग्रामो से भी (ज्येष्ठ) बडा राष्ट्र मानते हैं। पाच हज़ार तीन सौ चौरासी ग्रामो से मध्यम राष्ट्र कहा जाता है। एक हज़ार पाच सौ अडतालीस ग्रामो से छोटा राष्ट्र कहा जाता है। इन सब उत्तम, मध्यम और लघु राष्ट्रो की डेढ गुनी सख्या से नौ प्रकार से विभाग कर, एक-एक का विधिपूर्वक विद्वान् विभाजन करे। इस प्रकार से राष्ट्रो के यथा-भाग विभक्त होने पर विधानविज्ञ स्थपति उनमे सात-सात नगरो का यथाशास्त्र निवेशन करे ॥८३-८७॥

जाति-वर्णाधिवास—नगर की वसति-योजना—पहले विभाग, प्रमाण लक्षण आदि पुन जातियो तथा वर्णों के रहने की व्यवस्था को यथावत् अब यहाँ कहते हैं। आग्नेय दिशा मे अग्नि से जीविका प्राप्त करने वाले सुवर्णकारो, लोहारो आदि-आदि को बसाना चाहिए। दक्षिण दिशा में वैश्यों के, जुवारियो के,

चक्रिको अर्थात् गाडी वालो के, नटो तथा नाचने वालो के घर स्थापित करने चाहिएँ। सौकरिक (सूकरोपजीवी), मेषीकार (गडरिया), वहेलिया, केवट तथा दमनाधिकारी इन सव को नैर्ऋत्य दिशा मे वसाना चाहिये। रथो, शस्त्रो आदि के वनाने की कारीगरी जिन को मालूम है, उनको नगर की वारुणी दिशा मे वसाना चाहिए। काम मे लगे हुए जो नौकर आदि है और जो शराव वेचने वाले हैं उन सव को वायव्य दिशा मे वसाना चाहिए। सन्यासियो की कुटियों को, ब्रह्म-ज्ञानियो की सभा को, पिआऊ तथा धर्मशाला को कुवेर की दिशा मे स्थापित करना चाहिए। नगर की ईशान दिशा मे घी और फल वेचने वालों को वसाना उत्तम कहा गया है। वुद्धिमान् स्थपति को आग्नेय दिशा मे सेनाध्यक्षों और राजा के मुखियो तथा नाना सैन्य को वसाना चाहिए। श्रेष्ठियो को तथा देश-महत्तरो को दक्षिणाशा मे तथा नैर्ऋत्य की दिशा मे याम्येकहारो को वसाना चाहिए। कोशाध्यक्ष, महामात्र और आदेशिको तथा कलाकारो (शिल्पियो) एव नियामको को वरुण की दिशा मे निवेशित करना चाहिए। वायव्य दिशा मे नायको के सहित दडनाथो को तथा उत्तर दिशा मे पुरोहितो को एव ज्योतिषियो का सन्निवेश करना चाहिए। सौम्य दिशा मे ब्राह्मणो को, इन्द्र की दिशा मे क्षत्रियो को, वैश्य तथा शूद्रो को दक्षिण तथा उससे अपर दिशा मे वसाना चाहिए। वणिजो, वैश्यो तथा विशेषकर सेनाओ को चारो दिशाओ मे ही स्थान देना चाहिए। नगर के वाहर पूर्व दिशा मे लिंगो का निवेशन करना चाहिए। वुद्धिमान् स्थपति को दक्षिण दिशा मे शमशानो का निवेश करना चाहिए। इस प्रकार से सव दिशाओ को लक्ष्य करके नगर की वसति-विभाजन कहा गया है। उसी प्रकार से ग्रामो मे, खेटो मे और सेना के निवेशन मे भी करना चाहिए ॥८८-१०३॥

नगर में लक्ष्मी और कुवेर की अनिवार्य स्थापना—नगर के अभिमुख सपूर्णाङ्गो से सुशोभित कल्याणकारी लक्ष्मी और कुवेर की प्रत्येक द्वार पर पूर्वमुख स्थापना करनी चाहिए। राष्ट्र, खेट, ग्राम और पुर आदि को जव ये दोनो देखते रहते है तो वहां पर आरोग्य, अर्थसिद्धि और प्रजा की विजय होती रहती है। ग्राम, खेट, पुर, राष्ट्र, इन दोनो—कुवेर और लक्ष्मी—से यदि नही देखे जाते हैं तो वड़े अनर्थ पैदा होते हैं, क्लेश, वन्धन, वध आदि के अनर्थों से लोग आक्रान्त रहते हैं ॥१०४-१०६॥

नगर के देवतायतन—वाह्य मन्दिर—अव इस के वाद नगर मे सव दिशाओ मे भूमियो के भीतर और वाहर जिन-जिन देवताओ की स्थापना करनी चाहिए उनको कहता हूं। चारो दिशाओ से लेकर प्राकार और परिखा

तब बाहर सौ-सौ, डेढ सौ, दो सौ चापो के परिमाण से शुद्ध एव अनिन्द्य धरणीतल वाले अपने-अपने विभिन्न मन्दिरो के साथ क्रमश देवताओ के अपने-अपने प्रासादो तथा अपने-अपने परिवार-देवताओ के देवतायतनो से युक्त नगराभिमुख निवेशो का निर्माण करना चाहिए। देवतायतनो के अपने-अपने चित्र-विचित्र वनोद्यान भी होने चाहिएँ। निवेश्य पुर के मध्य मे स्थित दक्षिण व उत्तर मे फैले हुए वश पर बाहर भीतर देवताओ का निवेशन करना विहित है। पूर्व मे पश्चिमाभिमुख, पश्चिम मे पूर्व की ओर मुख, दक्षिण और उत्तर मे क्रमश' एक दूसरे के विपरीत प्रदक्षिण वश होने चाहिएँ। उत्तर मुख वाले भी देवो को दक्षिण-दिशोन्मुख नही करना चाहिए तथा चैत्य, शान्ति-सभाएँ और यक्षो, माताओ तथा प्रमथो के मन्दिर तथा प्रमथाधीश्वर के निकेतन भी उधर नही करने चाहिएँ। इस प्रकार से यह यथादिङ्मुख देवताओ का वर्णन किया गया। प्रत्येक दिशा मे बाहर जो देवगण निवेश्य हैं उनके विषय मे अब वर्णन करता हूँ ॥१०७-११४॥

विष्णु, सूर्य, इन्द्र तथा धर्मराज के मन्दिर पूर्व दिशा मे स्थापित करने चाहिएँ ॥११५॥

सनत्कुमार सावित्री, मरुतो तथा मारुत के मन्दिर पूर्व-दक्षिण दिग्भाग मे बनाने चाहिएँ ॥११६॥

गणेश, माताओ तथा भूतो एवं प्रेतपति यमराज के मन्दिर दक्षिण दिशा मे और भद्रकाली का मन्दिर तथा पितरो के चैत्य दक्षिण-पश्चिम मे बनाने चाहिएँ ॥११७॥

सागर, नदियो, शिल्पिराज विश्वकर्मा, प्रजापति ब्रह्मा तथा वरुण के पश्चिम दिशा मे मन्दिर बनाने चाहिएँ ॥११८॥

नागो, शनैश्चर, कात्यायनी के मन्दिर पश्चिमोत्तर दिशा मे करने चाहिएँ ॥११९॥

विशाख और कार्तिकेय, चन्द्रमा तथा कुबेर के प्रासाद अलग-अलग सौम्य दिशा मे बनाने चाहिएँ ॥१२०॥

जगद्गुरु महेश, लक्ष्मी और अग्निदेवता के सुन्दर मन्दिर पूर्वोत्तर दिशा मे बनाने चाहिएँ ॥१२१॥

नगर के चारो ओर नदियो तथा सागरो के मन्दिर निवेश्य है और जगलो और पहाड़ो के साथ-साथ सभी जगह उमापति भगवान् शकर का स्थान इष्ट है ॥१२२॥

जिस नगर मे अपनी-अपनी दिशाओं मे इन सुरोत्तमो के स्थानो का

निवेशन होता है वह नगर सभी प्रकार की समृद्धि एवं ऐश्वर्य को पाकर बहुत काल तक सुखी रहता है ॥१२३॥

नगर से विदूर भी सभी दिशाओ मे बाहर से अभिमुख देवगण कल्याण-कारी होते है, पराड्मुख नही ॥१२४॥

यदि कोई देव किसी भू-भाग पर पराड्मुख स्थापित हो जाये, तो शास्त्रज्ञ स्थपति को उसमे इस शास्त्रोक्त विधि का पालन करना चाहिए—उस देवता का अपने वेश, वर्ण, अलकार, वस्त्र और वाहन से युक्त चित्र बनाकर मन्दिर की दीवाल पर नगर के सन्मुख चित्रित कर दे। वैकंकत, शमी, बिल्व, दूध और काटे वाले वृक्षो के भीतर स्थित होने पर वरुण और अग्नि के मन्दिरो मे यह दोष नही कहा गया है। पूजाश्रितो मे यह विधान कहा गया है और चित्रो मे चित्रितों के लिए नही। इसलिए चित्र मे चित्रित देवताओ के मुख सभी तरफ बनाये जा सकते है ॥१२५-१२८॥

आभ्यन्तर मन्दिर—नगर के बाहर देवालयो का जिस प्रकार से विधान कहा गया है, वैसा ही नगर के भीतर भी अपनी-अपनी दिशाओं मे उनका विधान करना चाहिए ॥१२९॥

नगर के मध्य भाग मे ब्रह्मा, इन्द्र, वलराम तथा कृष्ण के मन्दिर बनाने चाहिएँ ॥१३०॥

नगर के भीतर माताओं, यक्षो, गणाधीश, रुद्रो, भूतसघो को, बिना उनके मन्दिर बनवाये ही, चबूतरो तथा मार्गों आदि पर भी निवेशित किया जा सकता है ॥१३१॥

कल्याण चाहने वाले राजा को चाहिए कि वर्ण, आश्रम, कला, पण्य शिल्प के उपजीवी देवो को अपनी-अपनी दिशाओ मे स्थित्यनुरूप निवेशन करावे ॥१३२॥

एक विशेष सकेत है कि भक्ति की इच्छा रखने वाला एवं सामार्थ्य से युक्त बुद्धिमान् व्यक्ति देव-विशेषो के प्रासाद होने पर भी दूसरे प्रासादो को पूर्व दिशा मे ही बनवाता है तो दु ख नही पाता है ॥१३३॥

प्रत्येक घर मे, प्रत्येक ग्राम मे, प्रत्येक नगर मे व प्रत्येक मन्दिर मे पूर्व मे प्रथम से ही स्थित प्रासाद के प्रमाण से एव गुण से अधिक दूसरे मन्दिर का निर्माण नही करना चाहिए। रुद्र, चन्द्रमा अथवा ब्रह्मा के मन्दिरो के होने पर भी यदि और उनका दूसरा प्रासाद बनवाया जाय तो ब्राह्मणो के लिए पीडाकारक होता है ॥१३४-१३५॥

इसी प्रकार अग्नि और बृहस्पति के मन्दिरो मे एक से अधिक बनवाने

पर पुरोहितो तथा ज्योतिषियो को अवश्य भय होता है। कुबेर, इन्द्र, यम और वरुण के एक से अधिक मन्दिर बनाने पर राजा के लिए भय कहा गया है ॥१३६-१३७॥

स्वामि-कार्तिकेय के एक मन्दिर से अधिक मन्दिर बनवाने पर तो वह निश्चय ही सेनाध्यक्ष और सेनाओ के लिए पीडाकारक होता है ॥१३८॥

ब्रह्मा और विष्णु के यदि दूसरे मन्दिर बनाये जाते हैं तो बनाने वाले या बनवाने वाले दोनो के विनाश और बन्धन के कारण होते है ॥१३९॥

गणेश, यक्ष और नागो के एक से अधिक प्रासाद बनाये जाते हैं तो सेना के अगो के लिए नित्य ही बडा भय उपस्थित होता है ॥१४०॥

स्त्री नाम वाली देवताओ के मन्दिर यदि घरो से पीडित होते है तो मुख्य पुर-नारियो के लिए उपद्रव करते हैं। पहले के सब देवताओ के अपने-अपने मन्दिरो से दूसरे मन्दिरो से पीडित होने पर अथवा उनके चिह्नो से चिह्नित चैत्यो से अथवा दूसरे चैत्यो से पीडित होने पर पीडा पहुँचती है। कम अथवा ज्यादा प्रमाण मे विनिर्मित एव दुर्निविष्ट मन्दिरो से बनाने वाले तथा बनवाने वाले दोनो को पीडा पहुँचती है और उसकी पूजा भी नही है। न तो बहुत ही अधिक अमरालयो का सभार करना चाहिए और न अमरालयो से बिल्कुल पुर को अनाथ ही कर देना चाहिए और न ब्रह्मा के मन्दिर से विहीन ही पुर होना चाहिए ॥१४१-१४४॥

ज्येष्ठ, मध्य तथा कनिष्ठ देवतायतन नौ, छै तथा तीन पदो के अन्तर मे क्रमश. करने चाहिएँ। इसके विपरीत दोष होता है ॥१४५॥

देवताओ के अपने निवेशन मे यह विधि कही गई है। बाहरी निवेश मे अपनी इच्छा के अनुसार देव-मन्दिर की स्थापना करनी चाहिए ॥१४६॥

सब नगरो मे, सब ग्रामो मे, सब खेटको मे यह सामान्य विधि कही गई है ॥१४७॥

इस प्रकार से अपने-अपने विभाग मे देवताओ का नगर मे पद-सन्निवेश कहा गया है। अब हम गृह-देवताओ अर्थात् वास्तु-पद मे प्रतिष्ठित देवताओं के शुभ और अशुभ फल के विभाग से युक्त सम्यक् विभाग कहते हैं परन्तु समराङ्गण के अध्यायो के नवीनीकरण मे यह प्रतिपादन पूर्व ही किया जा चुका है ॥१४८॥

चतुर्थ पटल

१ भवन-प्रकार

(चतुःशालादि दशशालान्त)

२. भवन-द्रव्य (दारु-आहरण)

३. भवन-द्रव्य-प्रमाण (भवनाङ्ग)

४. भवन-रचना (चुनाई)

५. भवन-भूषा

६. द्वारतोरणादि भवनाङ्ग एवं तत्तद् भङ्गादि वेधादि दोष एवं शान्ति

७. भवन-दोष-सामान्य

८. भवन-शान्ति

ध्रुवादि षोडश
एकशाल भवन

ध्रुव	धन्य	जय	नन्द
SSSS	ISSS	SISS	IISS

खर	कान्त	मनोरम	सुमुख
SSIS	ISIS	SIIS	IIIS

दुर्मुख	क्रूर	सुपक्ष	धनद
SSSI	ISSI	SISI	IISI

क्षय	आक्रन्द	विपुल	विजय
SSII	ISII	SIII	IIII
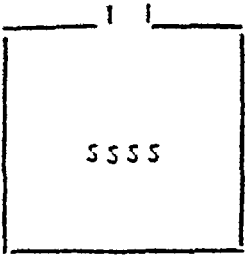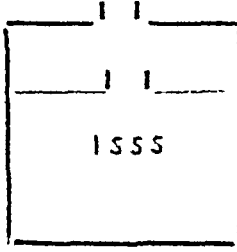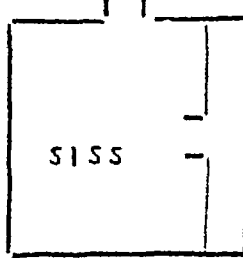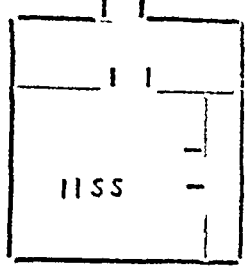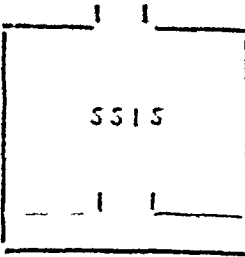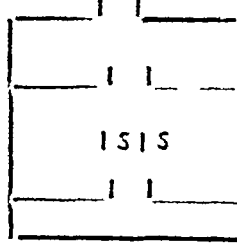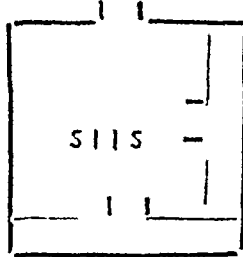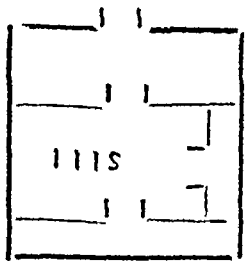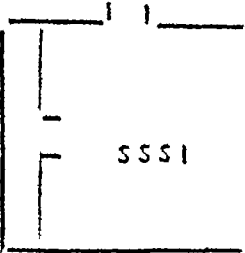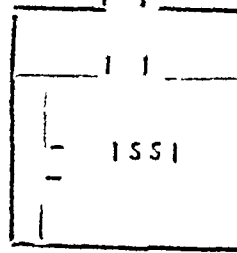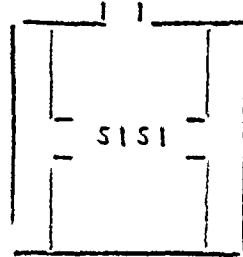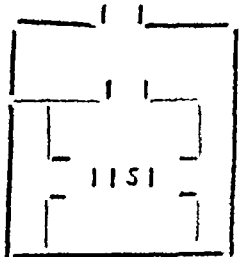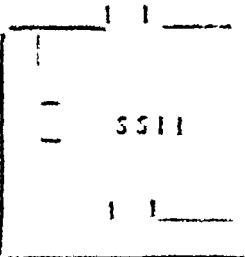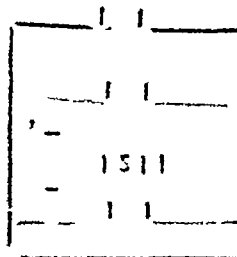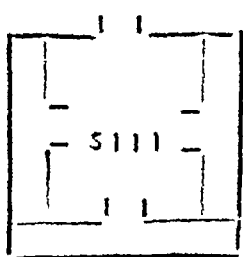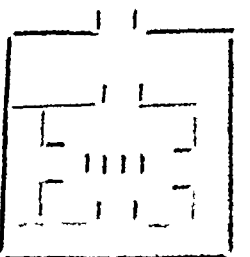
चतुःशाल-विधान

अब राजा, सेनापति और वर्णियो के क्रमश प्रशस्त एव अप्रशस्त सभी भवनो का वर्णन करते हैं ।।१।।

वास्तु-शास्त्रविज्ञ मनीषी पण्डितो द्वारा बताया गया है कि एक शाला वाले भवनो के १०८ भेद होते हैं और दो शालाओ वालो के ५२ और तीन शालाओ वालो के ७२, चार शालाओ वालो के २५६, पाँच शालाओ वालो के १०२५ तथा षट्शालाओ वालो के ४०९६ भेद होते हैं। परन्तु 'अष्टाग'[1] मे एक-शाल भवन के ५० भेद बताये गए हैं और दो शालाओ-वाले घर के सब मिलाकर ५०० भेद बताये गए हैं। त्रिशाल-भवन के प्रत्येक के १००-१०० भेद बताये गए हैं। चतु शालाओ वाले घरो के ८४२ तथा पचशालाओ वाले म।न के १७९२ भेद हैं। छे शालाओ वाले घरो के १६,३८४ भेद हैं। सप्त शालाओ वाले वेश्मो की सख्या ६५,५०० है। आठ शालाओ वाले घरो की सख्या २,६२,१३६ और नौ शालाओ वाले मकानो की सख्या १०,४८,०४४ है। दशशाल-भवनो की सख्या केवल ५७६ है ।।२-१०½।।

गृह-द्वितय-योग अर्थात् दो घरों के जोडो से निष्पन्न सयुक्त घरो की एक सख्या २० है और दूसरी सख्या ३२ है। १५ हलक (गृह-विशेष) भी हैं। उत्तम वर्णियो के लिए विहित आठ अन्य घर हैं—१. गृह-माला, २. ग्रह-सघट्ट, ३ गृह-नाभि, ४. गृहाँगण, ५ उद्भिन्न, ६. भिन्न-कक्ष, ७ निलीन तथा ८. प्रतिपादित। इन विशिष्ट चतुश्शाल-भवनो की सज्ञाओ, लक्षणो तथा सस्थानो का अब वर्णन किया जाता है। वर्णियो का चतु शाल भवन ३२ हस्तो के प्रमाण से बनाया जाता है। सेनापति तथा पुरोहित के चतु शाल भवन का प्रमाण ६४ हस्तो का मान विहित है। राजाओ के लिए १०२ हाथ के प्रमाण का चतुःशाल भवन बताया गया है। इन आठो मे चार का क्रम तो यह हुआ। पाचवे विशिष्ट भवन को अलग-अलग ४, ६, ८ हाथ की हानि से बनाना चाहिए, अर्थात् वर्णियो के चतुश्शाल भवन के ३२ हाथ का प्रमाण

---

१. अष्टाङ्ग स्थापत्य से हम परिचित है; परन्तु यहां पर 'अष्टाङ्ग' से तात्पर्य सभवतः किसी प्राचीन ग्रन्थ से है।

बताया गया है। उसमे ४ की हानि से २८ हाथ बचा। इसी प्रकार से सेनापति तथा पुरोहित के लिए मध्यम भवनो को क्रमश कनिष्ठ हाथो के प्रमाण मे शोधित करना चाहिए। नरेन्द्र-पुरुषो के ये घर वृद्धि करने वाले कहे गये है। पहले के समान उत्तम गृहो का भी मध्यम प्रमाणो से शोधन करना चाहिये। ऐसा करने पर ये राजाओ के लिए रति और कोप के आगार कहे जाते हैं ॥१०½-१८॥

ब्राह्मणो के घरो मे लम्बाई चौडाई से दश अश अधिक होनी चाहिये। क्षत्रियो, वैश्यो तथा शूद्रो के घर मे वह ८, ६ तथा ४ अश अधिक होनी चाहिये। जैसा विस्तार वैसा ही आयाम। लेकिन वैश्यो और शूद्रो के मध्य और जेष्ठ घर मे वह अधिक कहा गया है ॥१९-२०॥

कर्ण-सूत्र से बाहर प्रयत्नपूर्वक सब सभो का न्यास करना चाहिए। सोलह हाथ वाले पाँच भवनो की वृद्धि चार हाथ से तथा उनकी शाला का विस्तार चार अशो से विहित है। सब घरो मे शालाओ के आधे व्यास से अलिन्द होता है। उसके अर्थात् वृद्धि के सोलह हाथ पचमाशद्वय मे अथवा सप्तमाशत्रय मे अन्य दो भवनो का विस्तार प्रमाण बताया गया है। अन्तिम दो हाथो मे वह विस्तार-प्रमाण चार अशो से, नवें अशो से अथवा पाच अशो से या छे अशो से अथवा साढ़े छे अशो से होगा। श्रेष्ठ चतु शाल भवनों मे साढ़े दस हाथ की लम्बाई विहित है तथा निवेश के दसवें हिस्से मे सात हाथ लम्बाई का विस्तार विहित है। ॥२१-२५½॥

अलिन्द का प्रमाण हमने पहले बता दिया है। जो शाला तथा अलिन्द से बचा उसे गर्भ-गृह कहते हैं। विद्वान् लोग मूपा के समान छिन्न शाला की लम्बाई मानते हैं। सभी घरो की अवकोसिमा शाला-व्यास-प्रमाणा समझनी चाहिये। जो कर्णशाला बताई गई है उसी को अवकोसिमा समझना चाहिए और अलिन्द और शाला के मध्य मे मूपा कहलाती है। पूर्व के द्वार तक आदि-मूपा होती है और उसके उत्तर दिशा में भद्रा-मूपा कहलाती है। उसकी सख्या को जानना चाहिए। जितनी मूपा वाला घर है, उतनी भद्रा वाला वह घर कहलाता है। पूर्व में ये भद्र तथा अभद्र दोनो, दक्षिण मे सौम्य तथा असौम्य दोनो, पश्चिम दिशा मे शान्त और अशान्त और सौम्य दिशा मे शिव और अशिव कहलाती हैं। इन भद्रो को कई लोग अलिन्द कहते हैं और कोई लोग मूपा, कोई इसे भद्रा और कोई लोग परिसर कहते हैं और यह एक, दो, तीन, चार, पाँच, छ, सात और आठ के क्रम से उनकी प्ररूपणा सज्ञा से वेश्म की मूपाएँ होती हैं। उनमें से आदि की प्रशस्त और बाद की अप्रशस्त मानी गयी हैं।

प्राशस्त्याप्राशस्त्य-निर्धारण नाम, गुण, शुभ तथा अशुभ से सकेतित है ॥२५½-३५½॥

मूषा-संख्या-प्रस्तार—आदि मे आठ गुरुओ का न्यास करे, उसके बाद आदि गुरु के नीचे लघु का न्यास करे और उसके बाद ऊपर शेषो का न्यास करे। गुरुओ से आदि की तब तक पूर्ति करते रहना चाहिए जब तक सब लघु न हो जावे। पहली पक्ति मे क्रमश. एक गुरु और एक लघु। तदनन्तर हर एक पक्ति मे दुगुने होते हैं अर्थात् आद्य पक्ति मे पहली कतार (प्रथमावलि) मे एक गुरु, उसके नीचे दूसरा लघु करना चाहिये। इस प्रकार क्रमश. प्रस्तार-सख्या का लेखन होना चाहिए। जैसे चार गुरु वाले प्रस्तार मे सोलह गुरु-लघु होते है। तदनन्तर उसके आगे दो गुरु दो लघु एक-एक के नीचे रक्खे। फिर उसके आगे चारो गुरु चारो लघु। फिर उसके आगे आठ गुरु आठ लघु। इस प्रकार प्रत्येक पक्ति मे एक से दुगुने गुरु-लघु का विन्यास विहित है। चतु-शाल मे मूषा के भेद से दो सौ छप्पन भेद होते है। पुन अलिन्द, वीथी, प्राग्रीव, निर्यूहक तथा गवाक्षको से अगभद्र-विन्यास रचनाओ से अनेक प्रकार के परस्पर सवाद न होने के कारण सवृत और वितृतो से विभिन्न गृहभेद उत्पन्न होते हैं जिनकी सख्या नही होती है अर्थात् सख्यातीत भेद बनते है ॥३५½-४०½॥

एकभद्र चतुश्शाल—जिस सम्बन्ध से चतु शाल मूषा-रहित और अलिन्द-रहित न हो उस एक-भद्र आदि घरो के नाम कहता हूँ। विशेषज्ञ प्रस्तार मे एक लघु लक्षण वाले को एक-भद्र कहते हैं और क्रम-सख्या के विभाग से एकभद्र आठ होते है—प्रागायत, प्राग्विलग्न, जय, सयमनप्रिय, प्रतीच्य, प्रास-विन्यास, सुभद्र तथा कलहोत्तर ये आठ भेद हैं ॥४०½-४३॥

द्विभद्र चतुश्शाल—अब द्विभद्रो को कहता हूँ। पूर्वभद्रा से पूर्वोत्तरोत्तर पहिली पूर्व की ओर और दूसरी दक्षिण की ओर होती है। इनके नाम हैं—ईर, सुनीथ, आग्नेय, द्वीप, आप्य, सुसयम, अर्धचर्य, ऐभ, व्याकोश, नैर्ऋत्य, वृषभ, विन, काव्य, विपास, आनीर, कान्त, सौभ, विपश्चिम, गवय, श्रीवह, श्लिष्ट, गण, भीम, अयोगम, वर्त, चल, शठ, क्रान्त ये अठ्ठाइस द्विभद्र चतुश्शाल भवनो की संख्या हैं ॥४४-४७॥

त्रिभद्र चतुश्शाल—अब तीन भद्राओ वाले भवनो की संख्या कहते हैं। ऐन्द्र, विलोम, आयाम, वध, एकाक्ष, अन्तिक, प्रकाश, पैत्र, आयस्त, भद्र, प्रान्त, प्रसाधक, क्षम, विघात, आयात, कान्त, चित्र, द्विमन्दिर, सुदक्षिण, भय, श्लिष्ट, प्रमोद, व्यायत, वियत, आप्य, सुनाग, नागेन्द्र, ईरित, शोभन, घन, शस्तोत्तर, कफ, कर्ण, कुष्ट, क्रान्त, क्रमागत, द्विशस्त, द्विभय, चक्र, मलय, आयत, वन,

भार, नुगार, अ गार, वीर, व्यायाम, आयुन, न्याहिन, दुर्गम, क्षोभ, कृत्रिम, क्षोभण, नार, रुचि, ध्रुव ये त्रिभद्र चतुश्शालों की ५६ संख्याएँ हुई ॥४८-५३॥

चतुर्भद्र चतुश्शाल—अब चार भद्राओं वाले भवनों की संख्या बताते हैं। हन, गर्वावन, पी ग, उद्‌गत, मिश्र, उत्तुर, विघ्न, विपक्ष, आहूत, रुचक, वर्तन, पृथु, कलह छन, शारास्य, विनाभ, स्वन्तिक, स्थिर, शरल, द्विगुण, नाद्य, चित्र, प्रान्त, विधारण, साधारण, नत, न्यग, कूप, रोग, विशेषण, प्रतीन्, विनम, स्वैर, सुप्रतीक, नल, क्षय, व्यास, आक्रीडन, व्यर्थ, ईशान, गुन, अन्वय, मगध, क्षिप्र, आगन्त्य, एरोज, द्विगंत, लिह, पर्क, निलोम, उद्दण्ड, मुण्ड, मातग, आविल, खर्व, पिनाक, उद्यन्त, विशिख, प्रभभ, रज, रुचक, नफन, वाम, वर्तन, धावन, मह, चय, मेव्य, फल, नीर्ण, ये सतर चतुर्भद्रों की संख्याएँ हैं ॥५४-६०॥

पञ्चभद्र चतुश्शाल—अब क्रमश पञ्चभद्र चतुश्शालों की संख्या कहते हैं—कानन, लोलुप, जिह्म, प्रगाल, मालिन, नित, सुजय, विजय, याम, जय, शान, जप, नप, जम, वर, चर, वैर, विशाग, सुप्रभ, प्रभ, प्रतीक्ष, क्षमिण, सुन, शान्त, श्रेन, विनोदन, सदोह, विप्रदोह, विद्रुत, सतत, तत व्याकुल, लीन, आलीन, विचित्र, नन्दन, स्वर, शेखर, विबुध, चैत्र, व्यानक, सम्पद, पद, शिशिर चतुर, प्रान, सुस्थित, दुस्थित, स्थित, नय, दद्र लघ, लाभ, सम्पर्क, मूल तथा सन्नय ये ५६ पञ्चभद्र चतुश्शाल भवन हैं ॥६१-६५॥

षड्‌भद्र चतुश्शाल—अब अट्ठाइस षड्‌भद्रों की संख्याएँ जानो। किन्नर, कौस्तुभ, हम्य, धार्मिक, निषध, वसु, नाटीक, वामन, गौर, अस्थिर, रमिण, गत, शिखर, शालिन, सौम, त्रिकुट, मदिर, भव, अशोक, भास्वर, चौप्य, लातव्य नन्दन, मत, वाजि, नेत्र, भ्रम, तथा घोप ये २८ भेद हुए ॥६६-६८॥

प्रकार २५६ वेश्मो का यह चतुश्शाल पिंड हुआ ॥७१-७३॥

चतु शाल की क्रियादि मे भद्राओ के पूर्व विधान के द्वारा कुडय से उत्पन्न होने वाली इन चतुःशाला वाले घरो मे मूषा करनी चाहिए। अनुवश मे आश्रित उससे पराङ्मुख स्वस्तिक और मुखायत मूपा मे दो सामने अवकोसिम होने चाहिएँ। उसे उत्तर मुख मे नही करना चाहिए। वर्धमान मे भी वैसा ही प्राग्रीव सयुत करना चाहिए। मुखायत द्वारा मूषा मे वर्धमान की तरह मूपा के दक्षिण मे और वाये मे अवकोसिम होने चाहिएँ। नन्द्यावर्त गृह मे सव नन्द्यार्वत होते हैं और रुचक मे दो लम्वे अवकोसिम होते है। सवतोभद्र वेश्म मे सर्वद्वारो पर मूपाएँ होती है। ॥७४-७६½॥

जिसमे एक आदि-मूपा होती है उसको प्रागायत गृह कहते हैं। दूसरी एक-मूपा से विलग्न, जय आदि वेश्मो मे एक प्रदक्षिण से मूपा से योजना वताई गई है तो जय आदि गृह निष्पन्न होते हैं। क्रमश उनके फल होते हैं – धन, अर्थ, विनाश, जय, अशुभ, प्रीति, उद्वेग, कल्याण और कलह। जहाँ पर पूर्व मे दोनो मूपाएँ हो उसको ईर कहते है, जहाँ पर पहिली तीमरी से युक्त हो उस घर को सुनीत कहते हैं। आग्नेय मे दूसरी और तीसरी मूपा होती है और द्वीप मे पहिली और चतुर्थ, आप्य मे दूसरी और चौथी, सुसयम मे तीसरी और चतुर्थ, अर्धर्च मे पहिली और पाँचवी, ऐम मे दूसरी और पाँचवी, व्याकोश मे तीसरी और पाँचवी, नैर्ऋत्य मे दूमरी और पाँचवी, वृपभ मे पहिली और छठी, विन मे दूसरी और छठी, काव्य मे तीसरी और छठी, विपास मे चौथी और छठी, वानीर मे पाँचवी और छठी, विपास मे चौथी और छठी, आनीर मे पाँचवी और छठी, कान्त मे पहली तथा सातवीं, सौभ मे दूसरी और सातवी, विपश्चिम मे तीसरी और सातवी, गवय मे सातवी और चौथी, श्रीवह मे पाँचवी और सातवी, श्लिष्ट मे छठी तथा सातवी, गण मे पहली और आठवी, भीम मे आठवी और दूसरी, अयोगम मे तीसरी और आठवी, वर्त मे चौथी और छठी, चल मे पाँचवी और आठवी, शठ मे छठी और आठवी, क्रान्त मे सातवी और आठवी, इस तरह से दो भद्राओ वाले घरो की अट्ठाईस मूपाओ का विवरण हुआ ॥७६½-८०॥

अव तीन भद्रो को कहता हूँ। उन मे ऐन्द्र पुष्टि-वर्धन है। उसका द्वार दक्षिण और पश्चिम मे होता है और वह पहली तीन मूपाओ मे अन्वित होता है। जिस का द्वार विपश्चिम होता है और जिसका नाम विलोम होता है, वह शूद्रो के लिए पुष्टि-वर्धन होता है। सर्वतोमुख आयाम मे पहिली, दूसरी और चौथी मूपाएँ होती हैं। वध मे दूसरी, तीसरी और चौथी होती है और

उनका द्वार उत्तर दिशा मे होता है। जहाँ पर पहिली, दूसरी और चौथी मूषाएँ होती हैं उसे एकाक्ष कहते हैं। अन्तिक मे पहिली, दूसरी और पाँचवी कही गई हैं। जहाँ पर दूसरी, तीसरी, पाचवी होती हैं उसे सब वृद्धि करने वाला प्रकाश नामक गृह कहते हैं। जहाँ पर पहिली, चौथी और पाचवी हो उसको पंत्र कहते हैं और जहाँ पर पाचवी, दूसरी, चौथी हो उसे आयस्त कहा गया है। तीसरी, चौथी और पाँचवी मे युक्त गृह को मनीषियो ने भद्र कहा है और जहाँ पर पहली, दूसरी और छठी हो उसे प्रान्त कहा है। प्रसाधक वेश्म मे पहली, तीसरी, छठी मूषा होती हैं। उसमे सब ओर दरवाजे होते हैं और सर्वार्थ-साधक होता है। क्षय नाम वाले वेश्म मे दूसरी, तीसरी और छठी मूषा होती है और उसके पश्चिम दिशा मे द्वार होता है और यह शूद्रवर्ग के लिए इष्टदायक होता है। विघात नाम वाले वेश्म मे छठी, चौथी और पहली मूषा होती हैं। जिसमे छठी, दूसरी और चौथी हो वह आयत कहलाता है और वह दक्षिणमुख होता है ॥९१-९९॥

क्रान्त छठी, चौथी और तीसरी मूषाओ से युक्त होता है और वह सर्वार्थ-साधक होता है। दक्षिण दिशा की ओर मुख वाला चित्र छठी, पाचवी और पहली मूषाओ मे युक्त होता है ॥१००॥

जिसमे दूसरी, पाचवी, छठी होवें उसको द्विमन्दिर कहते हैं और जहा पर तीसरी, पाचवी और छठी मूषाएँ होती है, उसे सुदक्षिण कहते हैं ॥१०१॥

चौथी, पाचवी और छठी मूषा जिस मे होती हैं वह वृद्धिकारक नहीं कहा गया है। जहा पर पहली, दूसरी, सातवी होवें उसे श्लिष्ट सज्ञा से पुकारा जाता है। इसका द्वार दक्षिण की ओर होता है और यह मनुष्यो के लिए शुभ और सर्वार्थ देने वाला होता है। प्रमोद मे पहिली, तीसरी, सातवीं, मूषा होती है। जहा पर दूसरी, तीसरी, सातवी मूषा हो उसे व्यायत वेश्म स्मृत किया गया है और जहा पर पहली, चतुर्थी और सातवी हो उसे वियत कहा जाता है। दूसरी, चौथी और सातवी मूषाओ से सुनाग वेश्म कीर्तित हुआ हैं, और वह दक्षिणमुख वाला धनधान्य सुखद कहा गया है। सातवीं, पाचवी और पहिली मूषाएँ नागेन्द्र नाम वेश्म मे कही गई है। वह धन, धान्य एव सुख देने वाला होता है। दूसरी, पाचवीं और सातवी मूषाएँ दक्षिण मुख वाले कीर्ति मे होती हैं और तीसरी, पाचवीं, सातवी मूषाओ मे शोभित शोभन कहलाता है ॥१०२-१०७॥

चौथी, पाचवीं, सातवीं, मूषाओं से युक्त घन कहलाता है। पहिली, छठी और सातवी मूषाएँ सन्तोत्तर नामक प्रशस्त गृह मे होती हैं। दूसरी, सातवीं और छठी जिसमें हों उसकी यक्ष सज्ञा कही गई है और दूसरा द्वार याम्य

उनका द्वार उत्तर दिशा मे होना है। जहां पर पहिली, दूसरी और चौथी मूषाएं होती हैं उसे एकाक्ष कहते हैं। अन्तिक मे पहिली, दूसरी और पांचवी कही गई हैं। जहां पर दूसरी, तीसरी, पाचवी होती हैं उसे सब वृद्धि करने वाला प्रकाश नामक गृह कहते हैं। जहां पर पहिली, चौथी और पाचवी हो उसको पंत्र कहते हैं और जहां पर पाचवी, दूसरी, चौथी हो उसे आयस्त कहा गया है। तीसरी, चौथी और पांचवी से युक्त गृह को मनीषियो ने भद्र कहा है और जहां पर पहली, दूसरी और छठी हो उसे प्रान्त कहा है। प्रसाधक वेश्म मे पहली, तीसरी, छठी मूषा होती हैं। उसमे सब ओर दरवाजे होते हैं और सर्वार्थ-साधक होता है। क्षय नाम वाले वेश्म मे दूसरी, तीसरी और छठी मूषा होती है और उसके पश्चिम दिशा मे द्वार होता है और यह शूद्रवर्ग के लिए इष्टदायक होता है। विघात नाम वाले वेश्म मे छठी, चौथी और पहली मूषा होती हैं। जिसमे छठी, दूसरी और चौथी हो वह आयत कहलाता है और वह दक्षिणमुख होता है ॥९१-९९॥

क्रान्त छठी, चौथी और तीसरी मूषाओ से युक्त होता है और वह सर्वार्थ-साधक होता है। दक्षिण दिशा की ओर मुख वाला चित्र छठी, पाचवी और पहली मूषाओ से युक्त होता है ॥१००॥

जिसमे दूसरी, पाचवी, छठी होवें उसको द्विमन्दिर कहते हैं और जहा पर तीसरी, पाचवी और छठी मूषाएं होती है, उसे सुदक्षिण कहते हैं ॥१०१॥

चौथी, पाचवी और छठी मूषा जिस मे होती हैं वह वृद्धिकारक नहीं कहा गया है। जहा पर पहली, दूसरी, सातवी होवें उसे श्लिष्ट सज्ञा से पुकारा जाता है। इसका द्वार दक्षिण की ओर होता है और यह मनुष्यो के लिए सुख और सर्वार्थ देने वाला होता है। प्रमोद मे पहिली, तीसरी, सातवीं, मूषा होती है। जहा पर दूसरी, तीसरी, सातवी मूषा हो उसे व्यायत वेश्म स्मृत किया गया है और जहा पर पहली, चतुर्थी और सातवी हो उसे वियत कहा जाता है। दूसरी, चौथी और सातवी मूषाओ से सुनाग वेश्म कीर्तित हुआ हैं, और वह दक्षिणमुख वाला धनधान्य सुखद कहा गया है। सातवीं, पाचवी और पहिली मूषाएं नागेन्द्र नाम वेश्म मे कही गई है। वह धन, धान्य एव सुख देने वाला होता है। दूसरी, पाचवीं और सातवी मूषाएं दक्षिण मुख वाले ईरित मे होती हैं और तीसरी, पाचवीं, सातवी मूषाओ मे शोभित शोभन कहलाता है ॥१०२-१०७॥

चौथी, पाचवीं, सातवीं, मूषाओं से युक्त घन कहलाता है। पहिली, छठी और सातवी मूषाएं सन्तोत्तर नामक प्रशस्त गृह मे होती हैं। दूसरी, सातवीं और छठी जिसमे हों उसकी कफ सज्ञा कही गई है और दूसरा द्वार यम्य

पहली, तीसरी और पाचवी मूषा जिसमे हो उनको अर्चायन कहते हैं और वह पश्चिम द्वार वाला घर नव गुणो से युक्त होता है। जिसमे पहली, दूसरी, चौथी और पाचवी मूषा हो उस दक्षिणद्वार को पौष्ण कहते हैं और दक्षिण द्वार वाला वह घर मनुष्यो के लिए सब प्रकार की वृद्धि करने वाला होता है ॥१२४½-१२६½॥

दूसरी, तीसरी और पहली जिसमे हो उसको उद्गत गृह कहते हैं और उसका द्वार पश्चिम अथवा दक्षिण की तरफ यदि हो तो शुभ होता है। दूसरी और चौथी मूषाएँ जिसमे हो वह प्रीतिवर्धन मिश्र कहलाता है और वह क्षत्रियादिको के लिए प्रशस्त कहा गया है। उसका दरवाजा पूर्व अथवा पश्चिम मे होना चाहिए ॥१२६½-१२८½॥

आदि की तीन और छठी मूषाएँ जिसमे हो उसको उत्सुक कहते हैं। उसके पश्चिमद्वार होने पर प्रशस्त कहा गया है। ब्राह्मणादिको के लिए यह जय-सूचक है ॥१२८½-१२९½॥

जहा पर पहली, दूसरी, चौथी और छठी मूषाएँ होती हैं वह दक्षिण और पश्चिम मुख वाला विप्र नाम का गृह कुल की वृद्धि करने वाला प्रशस्त कहा गया है ॥१२९½-१३०½॥

पहली, तीसरी और चौथी और छठी मूषाएँ जिसमे हो वह शुभ है ॥१३०½-१३०॥

विपक्ष नाम का धाम वह होता है जिसका द्वार पश्चिम मे होता है जिसमे पहले की दो, तीसरी और छठी मूषाएँ होती है तथा जिसका द्वार पश्चिम और दक्षिण मे होता है और जिसमे पहली, दूसरी, पांचवी और छठी मूषाएँ होती हैं, उसे आहृत नामक गृह कहते हैं ॥१३१-१३२½॥

पहली, दूसरी, पाचवी और छठी जहा पर हो वह दक्षिण और पूर्व द्वार वाला, सकलमनोरथ पूर्ण करने वाला, रुचक नाम का गृह विख्यात है ॥१३२½-१३३½॥

पहली, तीसरी, पाचवी, छठी मूषाएँ जहा पर हो उसको वर्धमानक कहते हैं और उसका पूर्व, पश्चिम और उत्तर द्वार चारो वर्णों के लिये वृद्धिदायक होता है ॥१३३½-१३४½॥

जहा पर दूसरी, तीसरी, पाचवी और छठी मूषाएँ हों वह पूर्व दक्षिण द्वार वाला घर पृथु सज्ञा वाला कहलाता है ॥१३४½-१३५½॥

जिसमे पहली, चौथी, पाचवीं और छठी हो उसको सत्तम कहते हैं। वह सब गुणों से युक्त उत्तर द्वार वाला निकेतन है ॥१३५½-१३६½॥

दूसरी, चौथी, पाचवी, छठी मूषाएँ जिसमे हो उसको चल कहते हैं। इसका मुख दक्षिण अथवा पश्चिम मे प्रशस्त कहा गया है ॥१३६½-१३७½॥

पहली चार जिसमे हो उस को आयास्य कहा गया है। इसको विज्ञ लोग अप्रशस्त, अधम भवन कहते हैं ॥१३७½-१३८½॥

आदि की तीन और सातवी मूषाएँ जिसमे हो वह घर त्रिनाम सज्ञक कहलाता है। उसका द्वार उत्तर दिशा की ओर प्रशस्त कहा गया है और वह सब गुणो से युक्त होता है ॥१३८½-१३९½॥

पहली, दूसरी, चौथी और सातवी जहाँ हो उसका नाम स्वस्तिक है। उसका द्वार पूर्व, पश्चिम अथवा उत्तर मे हो। वह चारो वर्णों के लिए प्रशस्त कहा गया है ॥१३९½-१४०½॥

पहली, चौथी, सातवी मूषाएँ जिस घर मे हो उसको यहाँ स्थिर नाम दिया गया है और उसका द्वार दक्षिण की तरफ कहा गया है ॥१४०½-१४१½॥

दो आदि की, तीसरी तथा सातवी मूषाएँ जहाँ पर हो उसको सरल कहते हैं। उसका द्वार पश्चिम की ओर होता है और ऐसा घर सब दोषो से रहित होता है ॥१४१½-१४२½॥

जहाँ पर पहली, दूसरी, पाचवी और सातवी हो उसे द्विगुण कहते हैं और वह इप्सित द्वार वाला वेश्म कहलाता है ॥१४२½-१४३½॥

पहली, तीसरी, पाचवी और सातवी मूषाएँ जिस घर मे हो वह सब प्राणियो के लिए प्रशस्तशील आदि से युक्त नाद्य नामक गृह कहलाता है ॥१४३½-१४४½॥

दूसरी, तीसरी, पाचवी और सातवी मूषाएँ जिस घर मे हो वह विविध गुणो से युक्त इष्टद्वार-चित्र नाम का गृह कहलाता है ॥१४४½-१४५½॥

पहली, चौथी, पाचवी और सातवी जहाँ पर हो वह वृद्धि देने वाला पूर्व और उत्तर दिशा मे ऊपर द्वार वाला भ्रान्त नाम का भवन कहलाता है ॥१४५½-१४६½॥

जहाँ पर दूसरी, चौथी, छठी और सातवी हो वह सब कामनाओ का विवर्धन करने वाला विधारण नाम का गृह कहलाता है ॥१४६½-१४७½॥

जहाँ पर तीसरी, चौथी, पाचवी और सातवी मूषाएँ हो उसे साधारण भवन कहते हैं। वह सब दिशाओ मे द्वार वाला होता है और सुखकारक कहा गया है ॥१४७½-१४८½॥

जहाँ पर पहली, दूसरी, छठी और सातवी मूषाएँ हो वह नत कहलाता है ॥१४८½-१४९॥

ध्वंस नामक भवन में पहली, छठी और सातवीं मूषाएँ होती हैं ॥१४९½॥

दूसरी, तीसरी, छठी और सातवीं मूषाओं वाला घर रूप कहलाता है। चौथी, छठी और सातवीं वाला रोग नाम घर होता है ॥१४९½-१५०½॥

जहाँ पर दूसरी, चौथी, छठी और सातवीं हो वह विशोषण नाम का गृह दक्षिण-उत्तर मुख वाला होता है ॥१५०½-१५१½॥

तीसरी, चौथी, छठी और सातवीं जिस घर में हो वह ईप्सित-द्वार प्रतीन्य नाम का भवन सर्वकामद होता है ॥१५१½-१५२½॥

जहाँ पर पहली, पाँचवीं, छठी और सातवीं हो वह त्रिसम नामक गृह प्रभूत वृद्धि देने वाला समस्त गुणों से युक्त वेश्म कहलाता है ॥१५२½-१५३½॥

दूसरी, पाँचवीं, छठी और सातवीं मूषाएँ जिस घर में हो वह धनधान्य-सुखावह स्वैर नामक गृह कहलाता है ॥१५३½-१५४½॥

तीसरी, पाँचवीं, छठी और सातवीं जहाँ पर हो वह वृद्धि करने वाला सुप्रतीक नामक वेश्म कहलाता है और उसका द्वार उत्तर या पश्चिम की तरफ होना चाहिये ॥१५४½-१५५½॥

पहले की चारों मूषाओं से युक्त उत्तर दिशा वाला नल नामक वेश्म कहलाता है। पहली, दूसरी, तीसरी, आठवीं से युक्त सब रोगों और सब भयों का जनक क्षय नामक गृह कहलाता है ॥१५५½-१५६½॥

और व्यास में पहली, दूसरी, चौथी और आठवीं मूषाएँ होती हैं ॥१५६½-१५६॥

पहली, तीसरी, चौथी और आठवीं मूषाएँ आक्रीड नामक गृह में होती हैं। आदि की दो, तीसरी और आठवीं मूषाएँ जहाँ पर क्रमशः हो उसे व्यर्थ कहते हैं ॥१५७॥

ईशान नाम वाले वेश्म में पहली, दूसरी, तीसरी, पाँचवीं और आठवीं मूषाएँ होती हैं और सुख संज्ञा वाले वेश्म में पहली, आठवीं, तीसरी, पाँचवीं मूषाएँ होती हैं और इसका मुख उत्तर या पूर्व की ओर हो तो वृद्धि अन्यथा हानि ॥१५८-१५९½॥

जहाँ पर आठवीं, दूसरी, तीसरी, पाँचवीं मूषाएँ होवें वह अव्यय नाम का घर है और इसका द्वार वास्तु-विद्या-विशारदों ने यथेष्ट कहा है ॥१५९½-१६०½॥

जिसमें पहिली, आठवीं, चौथी और पाँचवीं मूषाएँ होवें उसका नाम सगर है। उसके द्वार को विद्वान् लोग पूर्व, उत्तर और पश्चिम बतलाते हैं ॥१६०½-१६१½॥

जहा पर दूसरी, चौथी, पाचवी और आठवी मूषाएं हो उसे क्षिप्र नामक गृह कहते हैं। वह सुख करने वाला होता है और उसका द्वार यथेष्ट होता है। तीसरी, पाचवी, आठवी और चौथी मूषाएँ पश्चिम मुख वाले आगस्त्य नामक गृह मे होती हैं ॥१६१½-१६२॥

दूसरी, पहली, आठवी और छठी जहा पर हो उसे एकोज कहते हैं और जहाँ पर तीसरी, पहली, आठवी और छठी होवें उसे द्विर्गत गृह कहते हैं। दूसरी, तीसरी, छठी, आठवी जिसमे हो उसको लिह कहते हैं और जहाँ पर पहली, चौथी, आठवी, और छठी हो उसको पर्क कहते हैं ॥१६३-१६४॥

छठी, आठवी, दूसरी और चौथी मूषाओ से युक्त विलोम सज्ञक घर कहलाता है और छठी, आठवी, दूसरी और चौथी से युक्त गृह उद्दण्ड नाम से कीर्तित किया गया है। जिसमे पहली, आठवी, छठी, पाँचवी हो उसको मुड कहते हैं और मातग संज्ञक गृह मे, दूसरी, पाँचवी, आठवी और छठी मूषाएँ होती है। अस्खल नाम वाले गृह मे तीसरी, पाँचवी, आठवी और छठी मूषाएँ होती हैं और जिस घर मे चौथी, पहली, तीसरी और आठवी हो उसका नाम खर्व है ॥१६५-१६७॥

पहली, दूसरी, सातवी और आठवी मूषाएँ पिनाक नामक भवन मे होती हैं और तीसरी, सातवी, आठवी, पहली उद्यत मे होती हैं ॥१६८॥

आठवी, दूसरी, तीसरी और पाँचवी मूषाओ से विशिख नामक गृह होता है। पहली, चौथी, सातवी और आठवी मूषाएँ प्रशम गृह में होती हैं ॥१६९॥

रज नामक घर मे दूसरी, चौथी, सातवी और आठवी मूषाएँ होती हैं और जहाँ पर तीसरी सातवी, आठवी और चौथी मूषाएँ हो उसको रुचक कहते हैं। इसका द्वार पूर्व अथवा पश्चिम मे विहित है और यह शूद्रों के लिए विशेष वृद्धिकारक माना गया है।

सैफल नामक गृह में सातवी, पहली, आठवी और पाँचवी मूषाएँ होती है तथा वाम नामक वेश्म मे दूसरी, पाँचवी, सातवी और आठवी मूषाएँ समझनी चाहिएँ। जहाँ पर तीसरी, पाँचवी, सातवी और आठवी हो उसको वर्धमानक कहते हैं। यह वैश्यो के लिए विशेष वृद्धिकारक बताया गया है ॥१७०-१७२½॥

चौथी, पाँचवी, आठवी और सातवी जिसमे हो उसे घावन कहते हैं ॥१७२½-१७३॥

सातवी, आठवी, छठी जहाँ पर होती हैं उसको सह या सहम कहते हैं

तथा दूसरी, सातवी, छठी और आठवीं मूषाओं से युक्त चयन नामक गृह निष्पन्न होता है ॥१७४॥

छठी, आठवी, दूसरी और सातवी जिसमे हो उसको सेव्य कहते हैं और जहां चौथी, आठवी, छठी और सातवी हो उसको कल कहते हैं ॥१७५॥

सर्व कामना पूर्ण करने वाले तीर्ण नामक भवन मे छठी, आठवी, पांचवी और सातवी मूषाएँ होती हैं और जहां पर आदि की पांच मूषाएँ होती हैं वह कामनाओ को पूर्ण करने वाला कानल गृह कहलाता है ॥१७६॥

पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी तथा छठी मूषाएँ जहां पर होती हैं उसे लोलुप स्मृत किया गया है और जहां पर आदि की तीन, पांचवी तथा छठी हो उसको जिह्म कहते हैं ॥१७७॥

प्रगाल मे पांचवी, छठी, चौथी, पहली और दूसरी होती है और सान्निन नाम वाले वेश्म मे पहली के सहित तीसरी, चौथी, पांचवी और छठी होती हैं ॥१७८॥

जहां पर दूसरी, तीसरी, चौथी, पांचवीं, तथा छठी हो वह जिन कहा जाता है और सुजय मे सातवी सहित पहिली चार होती है ॥१७९॥

विजय नामक घर मे पांचवीं, सातवी, दूसरी, तीसरी, पहली होती हैं और जहां पर पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी, पांचवी और सातवी हो उसका नाम याम है ॥१८०॥

जहां पर पहली, तीसरी, चौथी, पांचवीं, सातवीं हो उसको जय कहते है और शात संज्ञा वाले भवन मे दूसरी, तीसरी, चौथी, पांचवी, तथा सातवी मूषाएँ होती हैं ॥१८१॥

पहली, तीसरी, छठी और सातवी जहां पर हो उसको जप कहते हैं और पहली, दूसरी, चौथी, छठी, सातवी मूषाओ से तप होता है। छठी, तीसरी, चौथी, सातवी और पहली मूषाओ से युक्त जय कहलाता हैं। तीसरी, चौथी, छठी, सातवी से वर नामक गृह होता है ॥१८२-१८३॥

जहां पर पहली दो और पांचवीं, छठी तथा सातवी हो, उसको चर या चार कहते हैं। चैत्य मे सातवी, छठी, पाचवीं, पहली और तीसरी मूषाएँ होती हैं ॥१८४॥

निरोग मे दूसरी, तीसरी, पाचवीं, छठी और सातवीं होती हैं और सुप्रभ मे चौथी, पाचवीं, छठी, सातवी और पहली होती हैं ॥१८५॥

प्रभ नामक घर मे दूसरी, चौथी, पाचवीं, छठी और सातवीं होती है और प्रतीतक मे तीसरी, चौथी, पाचवीं, सातवीं और छठी होती हैं ॥१८६॥

पहले की चार और आठवी जिसमे हो वह क्षमिरण नामक गृह कहलाता है। पहली, दूसरी, तीसरी, पाचवी और आठवी जहाँ हो उसका युक्त नाम है ॥१८७॥

शान्त में दूसरी, चौथी, पाचवी, पहली, आठवी होती हैं और त्रैत नाम वाले मकान मे पहली, तीसरी, चौथी, पाचवी, आठवी होती हैं ॥१८८॥

विनोद मे दूसरी, तीसरी, पाचवी, चौथी, आठवी और सन्दोह मे पहले की तीन और आठवी तथा छठी मूपाएँ विहित हैं ॥१८९॥

पहली, दूसरी, चौथी, छठी और आठवी से विप्रदोहक होता है और जिसमे छठी, आठवी, तीसरी, चौथी और पहली हो उसको विद्रुत कहते हैं ॥१९०॥

दूसरी, तीसरी, चौथी, आठवी और छठी जहाँ हो उसको सतत कहते हैं । तत मे पहली, दूसरी, पाचवी, छठी और आठवी होती हैं ॥१९१॥

व्याकुल नामक गृह मे पहली, तीसरी, पाचवी, छठी और आठवी होती हैं और लीन सज्ञा वाले वेश्म मे दूसरी, तीसरी, पांचवी, चौथी और छठी होती हैं । आलीन मे चौथी, पहली, पाचवी, छठी और आठवी होती हैं और विचित्र मे दूसरी, चौथी, पाचवी, छठी और आठवी होती हैं ॥१९२-१९३॥

लम्वन नामक गृह मे पहले की चार और आठवी मूपाएँ होती हैं और खर मे आदि की तीन, आठवी और सातवी होती हैं ॥१९४॥

शेखर मे सातवी, चौथी, दूसरी, पहली और आठवी और विवुध मे आठवी, चौथी, तीसरी, पहली और सातवी । चैत्र नामक वेश्म मे दूसरी, आठवी, चौथी, सातवी और तीसरी और व्यासक्त नामक वेश्म मे पहली, दूसरी, पाचवीं, सातवी और आठवी रहती हैं ॥१९५-१९६॥

सम्पद नामक गृह मे पहली, तीसरी, पाचवी, सातवी और आठवी और पद मे दूसरी, तीसरी, आठवी, पाचवी और सातवी होती हैं ॥१९७॥

त्रिशिख मे चौथी, पहली, पाचवी, छठी और सातवी और चतुर नामक घर मे दूसरी, पाचवी, आठवी, चौथी और सातवी होती हैं ॥१९८॥

प्रान्त नामक गृह मे तीसरी, सातवी, आठवी, चौथी और पाचवी और सुस्थित मे पहली, दूसरी, सातवी, छठी और आठवी । दु स्थित मे छठी, पहली, चौथी और सातवी और स्थित मे दूसरी, आठवी, सातवी, तीसरी, छठी मूषाएँ होती हैं ॥१९९-२००॥

चक्र मे छठी, आठवी, चौथी, सातवी और पहली मूपाएँ वताई गई हैं और वक्र मे दूसरी, सातवी, छठी और आठवी के साथ चौथी भी ॥२०१॥

लघ मे आठवी, तीसरी, सातवी, चौथी और छठी और लाभ मे

पाचवी, छठी, पहली और आठवीं ॥२०२॥

सम्पर्क सज्ञा वाले गृह मे दूसरी, पाचवी, सातवी, आठवीं और छठी और मूल नामक वेश्म मे तीसरी, पाचवी, छठी, सातवी और आठवी मूषाएँ होती हैं ॥२०३॥

अव्यय नाम वाले गृह मे आठवी, सातवीं, छठी, पाचवी और चौथी मूषाएँ होती हैं और जिस घर मे पहले की छै मूषाएँ होती हैं उस गृह का नाम किन्नर है ॥२०४॥

जहां पर सातवी के सहित पहले की पाच हो उस को कौस्तुभ कहते हैं और हर्म्य सज्ञा वाले मकान मे पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी, छठी, सातवी मूषाएँ होती हैं ॥२०५॥

धामिक मे सातवीं, पाचवी, छठी, दूसरी तथा तीसरी मूषाएँ विहित हैं तथा निषध मे दूसरी, चौथी, पाचवी, छठी, पहली और सातवी मूषाएँ मानी गयी हैं ॥२०६॥

वसु नामक घर वह होता है जिसमे तीसरी, चौथी, पाचवी, छठी, सातवी और पहली मूषाएँ हों और साटीक मे तीसरी, चौथी, पाचवी, दूसरी, छठी और आठवीं मूषाएँ हो ॥२०७॥

वामन नामक घर वह होता है जिस मे आदि की पाच और सातवी और गौर नाम वाले घर मे पहली दूसरी, तीसरी, चौथी, छठी और आठवी मूषाएँ होती हैं ॥२०८॥

अस्थिर नाम वाले घर मे पहली, दूसरी, तीसरी, आठवी, छठी और पाचवीं होती हैं और क्रमिण मे तीसरी, चौथी, पाचवी, पहली, छठी और आठवीं मूषाएँ मानी गयी हैं ॥२०९॥

नल मे पहली, आठवीं, छठी, तीसरी, चौथी और पाचवीं तथा विवर मे तीसरी, चौथी, पाचवीं, दूसरी, छठी और आठवी होती हैं ॥२१०॥

वानिश नामक गृह मे पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी, सातवी और आठवी तथा धोम नामक धाम मे पहली, आठवीं, दूसरी, तीसरी, सातवी, पाचवीं होती हैं। त्रिकुट मे दूसरी, चौथी, पाचवीं, सातवी, पहली और आठवी और मन्दिर में तीसरी, चौथी, पाचवी, सातवी, पहली और आठवी मूषाओं का विधान है ॥२११-२१२॥

मय मे दूसरी, तीसरी, चौथी, पाचवी, आठवी और सातवी तथा कोष मे पहली के साथ दूसरी, तीसरी, छठी, सातवी और आठवी मूषाएँ मानी गयी हैं ॥२१३॥

भास्वर मे दूसरी, चौथी, छठी, सातवी, पहली और आठवी मूषाएँ कही गई हैं। औष्य मे तीसरी, सातवी, आठवी, छठी, चौथी और पहली मूषाओ का विधान है ॥२१४॥

लातव्य मे दूसरी, तीसरी, चौथी, आठवी, छठी और सातवी और सुस्वन मे दूसरी, सातवी, आठवी, छठी, पाँचवी और पहली होती है ॥२१५॥

मख मे तीसरी, पाचवी, आठवी, छठी, सातवी और पहली और वाजि मे दूसरी, तीसरी, सातवी, आठवी, छठी और पाँचवी मूषाओ का विधान बताया गया है ॥२१६॥

नेत्र मे पहली, चौथी, आठवी तक, भ्रम मे दूसरी, चौथी, पाचवी, छठी सातवी और आठवी मूषाएँ मानी गयी है ॥२१७॥

घोष मे तीसरी, चौथी, पाचवी, छठी, सातवी और आठवी मूषाएँ होती हैं ॥२१८½॥

यदि पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी, पाचवी, छठी और सातवी मूषाएँ हो तो उस निवेशन को भाण्डीर कहते हैं ॥२१८½-२१९½॥

जहा पर पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी, पाचवी, छठी और आठवी मूषाएँ हो उस को वास्तु-विद्या-विशारद वैंसन नामक गृह कहते हैं। जिस घर मे पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी, पाचवी, सातवी, आठवी मूषाएँ हो उसका नाम प्रस्थ जानना चाहिए ॥२१९½-२२१½॥

पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी, छठी, सातवी और आठवी मूपाएँ जिस मे हो उस को प्रतान नामक मन्दिर कहते हैं ॥२२१½-२२२½॥

चौथी मूषा को छोड कर और सब मूषाओ से युक्त वासुल नामक वेश्म कहलाता है। कट नामक निवेशन मे तीमरी मूषा छोड कर अन्य सब मूषाओ की योजना विहित है। दूसरी मूषा को छोड अन्य मूपाएँ जहा पर हो उसको लक्ष्मीवास उदाहृत किया गया है ॥२२२½-२२३॥

आदि को छोड कर अन्य मूपाओ से सुगन्धान्त और आठो मूषाओ से सर्वभद्रक होता है। इस प्रकार से एकभद्रादि अष्टभद्रान्त सब घर दिये गये। इन चतु.शालाओ वाले घर के भेदो को जो जानता है वह इस लोक मे पूजा जाता है ॥२२४॥

निम्नोच्च आदि फल

घर में दरवाजे से नियत, अग्र और पृष्ठ ये दो शब्द आते हैं। उनमें जहाँ से द्वार होता है उसको अग्र कहते हैं तथा पीछे के भाग को पृष्ठ कहते हैं ॥१॥

जिस घर में शाला, द्रव्य, आयाम, उदय और व्यास के विहित प्रमाण से अधिक होती हैं और यह आधिक्य चाहे वाम भाग में अथवा दक्षिण भाग में हो, आगे हो अथवा पीछे हो, तो द्रव्य के आधिक्य से भृत्य का नाश और आयाम के आधिक्य से कुल का नाश, ऊँचाई के आधिक्य से पूजा का नाश और विस्तार के आधिक्य से संतति का नाश माना गया है ॥२-३॥

जिस घर के दक्षिण की स्थल-भूमि वायी ओर निम्न होती है तो वह वास्तु बहु-दोष-कारक माना जाता है तथा पुत्र, पौत्र का विनाशकारक समझा जाता है ॥४॥

जिस घर की वाम-स्थला भूमि दक्षिण की ओर नीची होती है तो प्रयत्न करने पर भी स्वामी के लिए अल्प फल ही देने वाली होती है ॥५॥

जहाँ पर पश्चिम में नीची भूमि होती है और आगे स्थूल होती है वहाँ पर सब वर्णों के लिए सर्व-मनोरथ-दायक गृह निर्मित होता है ॥६॥

जब अग्र भाग से नीचा, पृष्ठ भाग से ऊँचा घर होता है तो स्वामी के लिए शीघ्र ही विराग और व्यसन उपस्थित करने वाला होता है ॥७॥

इस दृष्टि से चार प्रकार का भवन कहलाता है—सच्छत्र, सकक्ष, सपरिक्रम और सप्रभ। बाह्योदक (बाहर जल वाला) सच्छत्र होता है और उभयोदक (दो तरफ से जल वाला) सकक्ष होता है। सपरिक्रम वह वेश्म है जो सातत्याव अर्थात् हमेशा नमी वाला होता है। आगे की ओर से अथवा पीछे की ओर से अथवा दोनों ओर से इनमें एक तरफ से भी अलिन्द होने पर वह घर सप्रभ कहा जाता है। इनके लक्षण अलग-अलग कहे गये हैं ॥८-१०॥

अग्रभाग में अथवा दक्षिण भाग में एक अलिन्द अवश्य बनाना चाहिये। यदि अग्रभाग में होता है तो राजा के लिए सुखकारक और यदि दक्षिण भाग में होता है तो धन की वृद्धि करता है ॥११॥

वाम भाग में पृष्ठ भाग में एक भी अलिन्द नहीं बनाना चाहिये क्योंकि

वाम भाग से अर्थ का नाश और पृष्ठ भाग से गृहस्वामी की मृत्यु उपस्थित होती है ॥१२॥

जिस घर के दोनो तरफ दो-दो अलिन्द होते हैं तो उसमे प्रवेश करने पर कुटुम्बियो के लिए वह धन-लाभ करने वाला होता है ॥१३॥

जिस घर के आगे और पीछे भाग मे दो-दो अलिन्द होते हैं तो उस घर का मालिक धन धान्य और सौभाग्य को प्राप्त करता है ॥१४॥

जिस घर के अग्रभाग मे अथवा दक्षिण भाग मे हलक संज्ञक अलिन्द होता है उसका स्वामी राजाओ की कृपाओ तथा धन धान्य से वृद्धि को प्राप्त होता है ॥१५॥

यदि वाम भाग से और मुख भाग से 'हलक' अलिन्द का निर्माण किया जाता है तो राजा से दण्ड का भय उपस्थित होता है और मकान मालिक की पत्नी मर जाती है ॥१६॥

यदि दक्षिण अथवा पश्चिम की ओर से 'हलक' अलिन्द का विधान किया जाता है तो उत्कृष्ट वृद्धि और परम सौभाग्य प्राप्त होता है ॥१७॥

पीछे अथवा बाएँ भाग से यदि 'हलक' अलिन्द का निर्माण किया जाता है तो स्त्री-मृत्यु और दुर्भाग्य आपतित होते हैं ॥१८॥

पीछे, बाएँ, आगे अथवा दाएँ यदि अलिन्द का निर्माण होता है तो उसका क्रमश फल कहता हूँ। पीछे स्त्री नाश, दक्षिण मे धन लाभ, मुख भाग मे राज-प्रसाद और बाएँ भाग मे अर्थ-विनाश ॥१९-२०॥

जो वस्तु समाप्त होने पर सब तरफ से परिशोधित की जाती है तो वह स्वामी के लिये धन्य और स्थपति के लिए यशस्कर होती है। उसका कमाया हुआ धन बढता है और राजा की लक्ष्मी के द्वारा भी वृद्धि होती है। धर्म और काम बढते है, कीर्ति, आयु, यश और बल का निवास भी रहता है। नाच और बाजे और गायन से वहाँ पर नित्य आमोद हो तो वहाँ रोग नही दिखलाई पडता। लक्ष्मी सदैव वहाँ सन्निहित रहती है ॥२१-२३॥

वहा पर एक ही प्रकार की त्रिशालाओ का उपलक्षण नही करना चाहिए और उन सभी प्रकारो मे याम्य (दक्षिण) एव अपरोज्झित अर्थात् पश्चिम-वर्जित निन्द्य माने गये है क्योकि एक मे स्वामी की मृत्यु और दूसरे मे धन का क्षय आपतित होता है। पूर्वोज्झित तथा उत्तरोज्झित धन्य माने गये है और इनकी सज्ञाओ का प्रकार निम्न है—

उत्तर, पूर्व, दक्षिण तथा पश्चिम से शाला-हीन भवन क्रमशः हिरण्य-नाभ, सुक्षेत्र, चुल्ली और पक्षघ्न नामो से प्रसिद्ध होते हैं ॥२४-२६॥

अलिन्दो का विनियोग यथाप्रतिपादित अथवा यथेच्छ समझे। इस दृष्टि से दो शालाओं वाले वेश्मो की क्रमश छै सज्ञाएँ अब बताई जाती हैं—

दिशाओं के कोनो पर दो शालाओं को अन्य कर्णों अर्थात् दूसरी दिशाओं मे दो शालाओं वाले भवनो की व्यवस्था करनी चाहिये और सम्मुख मे दो को एकत्रित करना चाहिये। इस तरह से इन छहो का उपलक्षण करना चाहिये ॥२७-२८॥

दक्षिण और पश्चिम वाला द्विशाल भवन सिद्धार्थ नाम वाला भवन होता है। वहां पर सब अर्थों की सिद्धि होती है। उत्तर और पूर्व की ओर द्विशाल भवन यमसूर्य के नाम से पुकारा जाता है और वहां सदैव मृत्युभय रहता है। पूर्व तथा उत्तर की ओर द्विशाल भवन दण्ड के नाम से पुकारा जाता है। वहां पर सदैव दण्ड रहता है। पूर्व और उत्तर की ओर वात सज्ञक वास्तु होता है। वह कलह-कारक होता है ॥२९-३०॥

उत्तर दक्षिण के सामुन्य यदि दो शालाओं वाला वास्तु विनिर्मित होता है तो वहां पर सदैव ज्ञाति-विरोध उपस्थित रहता है। अत इस प्रकार का निर्माण कभी नहीं करना चाहिये ॥३१॥

पूर्व और पश्चिम के सामुख्य मे चुल्ली नामक वास्तु निर्दिष्ट किया गया है। वहां घोर धन-नाश होता है। इसलिए उसे कभी नही बनवाना चाहिये ॥३२॥

प्राकार-वर्ती तीन शालाओं मे निकटवर्ती चार शालाएँ जब होती हैं तो इन सात शालाओं मे 'मणिच्छन्द' नामक विशेष निर्माण स्मृत किया गया है और भी इसी प्रकार के तीन कहे गये हैं—प्रान्त, परिधान और सपक्ष ॥३३-३४॥

जहा पर दोनों शालाएँ एक ही दीवाल मे होती हैं तो उसे गृह-सपट्ट नामक निर्माण कहते हैं। उसे कभी नहीं बनाना चाहिये क्योकि वह बन्ध, दोष और मृत्यु देने वाला होता है ॥३५॥

इस प्रकार से उच्च और नीच गृह-भाग का फल बताया गया और इसमें अलिन्दों का भी शुभ और अशुभ फल बताया गया है। दो और तीन शालाओं वाले घरो का जो लक्षण है वह भी साधारण रूप से बताया गया है और दो पदपदों मे योग से होने वाला लक्षण भी अच्छी तरह बता दिया गया है ॥३६॥

त्रिशाल-भवन

अब वहत्तर संख्या वाले त्रिशाल-भवनो की सज्ञाएँ और उनके अलग-अलग सम्पूर्ण लक्षण बताये जाते हैं ।।१।।

उन मे से चार मुख्य हैं जिनके नाम है—१. हिरण्यनाभ २ सुक्षेत्र, ३. चुल्ली तथा ४. पक्षघ्न ।।२।।

हिरण्यनाभ उत्तर शाला से हीन यदि हो तो उत्कृष्ट कहा गया है। वह मालिक के लिए धनप्रद्र होता है । सुक्षेत्र पूर्वशाला से हीन होने पर मालिक के लिये ऋद्धि एव वृद्धिदायक होता हे । चुल्ली दक्षिण शाला से हीन वित्त का नाश करने वाली कही गई है । पश्चिम शाला से हीन पक्षघ्न वैर करने वाला और कुल-नाशकारी होता है ।।३-५।।

इनके अलिन्दो के योग से और लघुप्रस्तार के योग से और मूपाम्रो के योग से अलग-अलग १८ भेद होते हैं—१. जाम्बूनद २. हिरण्य ३. रुक्म ४. हेम ५ कनक ६. काचन ७. स्वर्ण ८. सुवर्ण ९. सताप १०. सार ११. चामीकर १२. तपन १३. तापनीय १४. शातकुम्भ १५. हरिण्यनाभ १६. कल्याण १७. भूषण १८. भूतिभूषण—ये अठारह हिरण्यनाभ के भेद होते हैं। ।।६-९½।।

१. नाग २. सूर्यप्रभ ३. मत्तवारणक ४. केसरी ५. वासव ६. इन्द्र, ७. हरि ८. हस ९. सारस १०. कुञ्जर ११. तोयद १२. मेघमाल १३. धारासार १४. महोदर १५. कर्दम १६. प्रकर १७. धान्यपूरक तथा १८. सुक्षेत्र—ये १८ भेद सुक्षेत्र के भेद हुए ।।९½-१२½।।

अब चुल्ली के भेदो को कहता हूँ—१. भुजगम २. निर्जीव ३. विहग ४. नकुल ५. पन्नग ६ शतच्छिद्र ७ सर्प ८. कोप ९. भगन्दर १० उद्वेजन ११. सन्यास १२. निष्तोष १३. करुणानन १४. वारण १५. दारण १६. चुल्ली १७ ककुद १८. कन्दर—ये अठारह भेद चुल्ली-सज्ञा वाले त्रिशाल भवन-भेद हैं ।।१२½-१५½।।

अब पक्षघ्न से सम्बन्धित घरो के नाम कहता हूँ—१. राक्षस २. ध्वान्त-सहार ३. देवारि ४. सुरदारुण ५. घोषण ६. व्याघ्र ७. शार्दूल

८ गोपण ९. विगोपण १०. मत्तद ११. निरानन्द १२ शाकुन १३. विघ्न १४. निर्घृण १५. रिपुनहृद १६ पक्षघ्न १७ सुतघ्न १८ वैरिपूरण—ये अठारह भेद क्रमशः पक्षघ्न के हुए ॥१५½-१८½॥

हिरण्यनाभ के भेदो मे जाम्बूनद नामक विशाल-भवन बडा धन्य है। यह आदि की चार मूषाओ से उपलक्षित कहा गया है ॥१८½-१९½॥

जहाँ पर पहली, दूसरी, तीसरी, पाँचवी मूषाएँ हो वह शुभ गृह हिरण्य नामक विशाल भवन कहलाता है ॥१८½-१९॥

सोने को देने वाला स्वर्णिम रुक्म गृह पाँचवी, पहली, दूसरी और चौथी मूषाओ से युक्त होता है और जहाँ पर पहली, तीसरी, चौथी, पाँचवी हो उसकी हेम सज्ञा कही जाती है ॥२०॥

सुवर्ण-विपुल, कनक नामक गृह दूसरी, तीसरी, चौथी और पाँचवी मूषाओ से निष्पन्न होता है और काचन-प्रद काँचन नामक गृह पहली, दूसरी, तीसरी और छठी मूषाओ से युक्त होता है ॥२१॥

स्वर्ण की वृद्धि करने वाला स्वर्ण नामक गृह पहली, दूसरी, चौथी और छठी मूषाओ से युक्त कहा गया है और सुवर्ण गृह पहली, तीसरी, चौथी और छठी से युक्त माना गया है ॥२२॥

ताप को शान्त करने वाला सन्ताप नामक गृह दूसरी, तीसरी, चौथी और छठी से और जहाँ पर पहली, दूसरी पाँचवी और छठी हो उसको सार नामक उत्तम गृह कहा गया है ॥२३॥

तीसरी, छठी, पहली और पाँचवी से चामीकर नाम का उत्तम गृह बताया गया है और तपन नाम का घर दूसरी, तीसरी, छठी, पाँचवी मूषाओ से युक्त होता है ॥२४॥

छठी, चौथी, पहली और पाँचवी से तापनीय नामक गृह उदाहृत किया गया है और शातकुम्भ नामक गृह दूसरी, छठी, पाँचवी और चौथी मूषाओ से होता है ॥२५॥

हिरण्यनाभ तीसरी, चौथी, पाँचवी और छठी मूषाओं से निर्मित कहा गया है और कल्याण पहली, तीसरी, चौथी, पाँचवी और छठी से कहा गया है ॥२६॥

छठी, पाँचवी, दूसरी, तीसरी और चौथी मूषाओ से भूषण सज्ञक गृह होता है और भूतिभूषण पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी, पाचवी और छठी से होता है ॥२७॥

अब सुदोत्र के भेदों के लक्षणों को कहता हूँ। जहा पर पहली, दूसरी,

तीसरी, चौथी मूषाओ से मन्दिर का निर्माण हो उसका नाम नाग है ।।२८।।

जहा पर पहली, दूसरी, तीसरी, पाचवी हो उसको सूर्यप्रभ कहते हैं और जहा पर पहली, दूसरी, चौथी और पाचवी हों उस की सज्ञा मत्तवारण है ।।२९।।

जहा पर पहली, तीसरी, चौथी, पाचवी हों उसको केसरी कहते हैं । और वासव पाचवी, चौथी और दूसरी मूषाओ से उपलक्षित कहा जाता है ।।३०।।

छठी, पहली, तीसरी और दूसरी मूषाओ से इन्द्र ईरित किया गया है । हरि संज्ञा वाले भवन को पहली, दूसरी, चौथी और छठी मूषाओ से उदाहृत किया गया है ।।३१।।

हस सज्ञक निवेशन पहली, तीसरी, चौथी और छठी से होता है और सारस नामक गृह छठी, दूसरी, तीसरी चौथी से बनता है ।।३२।।

पहली, दूसरी, पाचवी और छठी मूपाओ के योग से कुजर होता है और तोयद नाम का गृह पहली, तीसरी, पाचवी और छठी से जानना चाहिये ।।३३।।

मेधमाल तीसरी, छठी, पाचवी और दूसरी से उपलाक्षित है । चौथी, पाचवी, छठी तथा पहली मूषाओ से धारासार नामक भवन उपलक्षित होता है ।।३४।।

दूसरी, चौथी, पाचवी और छठी से महोदर स्मृत किया गया है और कर्दम नाम का जयशील गृह छठी, पाचवी, तीसरी, और चौथी मूषाओ से विहित होता है ।।३५।।

धनप्रद सुक्षेत्र छठी, पाचवी, चौथी, तीसरी और पहली से होता है और ऋद्धिदायक प्रकर नामक गृह दूसरी, तीसरी, छठी, पाचवी और चौथी से निष्पन्न होता है ।।३६।।

पहले की छै मूषाओ से धान्यपूरक जानना चहिए । इस तरह से सुक्षेत्र नामक मुख्य गृह के ये १८ भेद बताये गये हैं ।।३७।।

भुजग पहली, दूसरी और चौथी मूषाओ से होता है और निर्जीव नाम का निवेशन पहली, पाचवी, तीसरी, दूसरी से कहा गया है ।।३८।।

विहगम पहली, दूसरी, पांचवी और चौथी से होता है और नकुल को पाचवी, पहली, तीसरी और चौथी से कहते हैं ।।३९।।

पन्नग नाम वाला गृह पाचवी, दूसरी, तीसरी और चौथी से कहते हैं और शतच्छिद्र नाम का गृह छठी, पहली, तीसरी, दूसरी से होता है ।।४०।।

नर्प पहली, दूसरी, चौथी, और छठी से कहा जाता है और कोप पहली तीसरी, छठी और चौथी से संकीर्तित किया गया है ॥४१॥

भगन्दर नाम का वेश्म छठी, चौथी, तीसरी और दूसरी से होता है और उद्वेजन पहली, दूसरी, पाचवी और छठी मे उदाहृत किया गया है ॥४२॥

सन्यास नाम का अधम गृह पहली पाचवी, तीसरी और छठी से होता है और निग्नोप को दूसरी, तीसरी छठी और पाचवी से कहा जाता है ॥४३॥

करुणानन को चौथी, पहली, पाचवी और छठी से कहा जाता है और मृगवारण वारण नामक गृह दूसरी, चौथी, पाचवी और छठी मूषाओ से अभिहित होता है। श्रीविदारण दारण नामक गृह तीसरी, चौथी, पाचवी और छठी मूषाओ मे होता है ॥४४-४५½॥

चुल्ली पहली, तीसरी, चौथी, पाचवी और छठी मूषाओ से वित्तनाशन (गृह) कहलाता है ॥४५½-४५॥

ककुद नाम का घर छठी, पाचवी, दूसरी और तीसरी से होता है और कदर नाम का अधम गृह छठी, चौथी, पाचवी, तीसरी, दूसरी और पहली मूषाओ मे होता है ॥४६॥

अब पक्षघ्न नामक तृतीय मुख्य गृह के १८ भेदो को कहा जाता है। उन मे पहला गवाक्ष नामक गृह पहली, दूसरी, तीसरी और चौथी मूषाओ से कहा गया है ॥४७॥

ध्वान्त-संघात नामक गृह पांचवी, पहली, दूसरी और तीसरी मे ईरित किया गया है और देवारि पाचवी, पहली, दूसरी और चौथी से कहा जाता है ॥४८॥

देवदारुण को पहली, तीसरी, पाचवी और चौथी मूषाओ से जानना चाहिये तथा दुःखघोषण नामक गृह पाचवी, तीसरी, दूसरी और चौथी मूषाओ से होता है ॥४९॥

व्याघ्र नामक गृह छठी, पहली, दूसरी और तीसरी मे कहा जाता है तथा शार्दूल नामक निवेश पहली, दूसरी, चौथी और छठी से होता है ॥५०॥

पुत्र-शोषण शोषण नामक गृह पहली, तीसरी, चौथी और छठी से होता है तथा विशोषण नामक गृह छठी, चौथी, दूसरी और तीसरी मूषाओं से जाना जाता है ॥५१॥

मगद नामक घर पहली, दूसरी, पांचवीं, और छठी से तथा गिरानन्द नामक वेश्म पहली, तीसरी, पांचवी और छठी से पुनः कहा जाता है ॥५२॥

शाकुन नामक गृह पाँचवी, छठी, दूसरी और तीसरी से तथा विघ्न-वर्धन विघ्न नामक गृह पहली, चौथी, पाँचवी और छठी मूषाओ से युक्त होता है ।।५३।।

असौख्यकारी निर्घृण नामक गृह छठी, चौथी, पाँचवी और दूसरी से कहा गया है तथा रिपुसहृद तीसरी, चौथी, पाँचवी और छठी मूषाओ से युक्त होता है ।।५४।।

सुत-नाशन पक्षघ्न गृह छठी, पाँचवी, चौथी, तीसरी और पहली से तथा सुत-सूदन सुतघ्न नामक गृह दूसरी, तीसरी, चौथी, पाँचवी और छठी से होता है ।।५५।।

जहाँ पर छठी, पाँचवी, दूसरी, तीसरी और चौथी और पहली मूषाएँ हो उसे वैरिपूरण कहते है। इस प्रकार से पक्षघ्न के क्रमशः ये १८ भेद हुए ।।५६।।

तीन शालाओ वाले घरो मे पहले की चार मूषाएँ बाहर होनी चाहिएँ न कि बीच मे तथा पहली और दूसरी के बिना तीन शालाओ वाला घर पचभद्र कहलाता है। बाहरी क्रम को त्याग कर इस प्रकार से तीन शालाओ वाले घरो की विधि बताई गई है और इस प्रकार से चारो हिरण्यनाभ आदि निकेतनो के, पूर्ण रूप से उपदिष्ट प्रत्येक के १८-१८ भेदो से, बहत्तर प्रकार बताये गये ।।५७-५८½।।

टि०—त्रिशाल-भवन के रेखाचित्र पृष्ठ १४६ पर देखिये।

द्विशाल-भवन

द्विशाल-भवनो अर्थात् दो शालाओ वाले घरो की बावन सख्या है। उनमे से शुभ भी हैं और अशुभ भी हैं। अब उनके लक्षणो को क्रमश कहते हैं ॥१॥

सिद्धार्थ, यमसूर्य, दड, वात, चुल्ली, काच—ये दो शालाओ वाले घरो के मुख्य छे भेद हैं ॥२॥

छोटे प्रस्तार के योग से, मूषाओ के भेद-क्रम से और भेदाभेद-क्रम से अनेक भेदो मे ये घर भिन्न-भिन्न होते हैं और निलीन-कर्ण से, वीथिकाओ और अलिन्दो के मार्गों से, प्राग्रीवादि के विधान से, दो शालाओ के विपर्यय से सक्षेप रूप मे यथासम्भव वर्णन करता हूँ क्योकि मूषाओ का निर्वाह सुशक है परन्तु सज्ञाओ का निर्वाह सुशक नही। छन्द (पताकादि पट्छन्द जिनमे यहाँ पर उद्दिष्ट तथा नष्ट से अभिप्राय है), गुण, रूप आदि प्रस्तारो से अशुभ और शुभ निकाले जाते हैं। ये सब राजाओ, वर्णियो तथा लिङ्गियो के हित के लिये कहे गये हैं ॥३-६॥

जिस घर मे हस्तिनी और महिषी ये दो शालाएँ हो उसे सिद्धार्थ नामक गृह समझना चाहिये ॥७॥

महिषी और गावी शालाओ से मृत्यु देने वाला यमसूर्यक गृह कहलाता है तथा दड-भय देने वाला दड नाम वाला गृह छागली और गावी इन दो शालाओ से होता है ॥८॥

उद्वेगकारक वात नामक गृह हस्तिनी और छागली शालाओ से युक्त होता है। धन का अपहरण उपस्थित करने वाली और उद्वेग करने वाली चुल्ली नामक वेश्म महिषी और अजा इन दो शालाओ से युक्त होता है। मित्र की प्रीति का विनाश करने वाला काच नामक गृह करेणु और गावी नामक शालाओ से युक्त होता है। द्विशाल-भवनों मे एक ही मूषा अथवा अमूषा (निर्मूषा) नही करनी चाहिए ॥९-१०॥

वात और चुल्ली के सब अथवा तीन मूषाओ के व्यत्यास मे (उलट-फेर के कारण), सक्षिप्त प्रस्तार के योग से पहले के चार भेद होते हैं। उनके प्रत्येक के ग्यारह-ग्यारह भेद होते हैं और शेष दो के चार-चार भेद होते हैं

ओर उनमे हर एक मे दो-दो कमरे होते हैं ॥११-१२॥

यह यहाँ पर स्मरणीय है कि इन सभी प्रधान भेदो मे मूषा-भेद का निर्वहण अथवा अनिर्वहण ही इनके भेद का कारण होता है ॥१३½॥

सिद्धार्थ-भेद—पहला भेद वसुधार फिर सिद्धार्थक, कल्याणक, शाश्वत, शिव, कामप्रद, श्रीद, शान्त, निष्कलक, धनाधीश, कुबेरक—इस प्रकार से सिद्धार्थ के क्रमशः ग्यारह भेद हुए ॥१३½-१५½॥

यमसूर्य-भेद—सहार, यमसूर्य, काल, वैवस्वत, यम, कराल, विकराल, कबध, मृतक, शव तथा महिष ये यमसूर्य के ग्यारह भेद हुए ॥१५½-१६॥

दण्ड-भेद—प्रचड, चड, दड, उद्दड, काड, कोटर, विग्रह, निग्रह, धूम्र, निर्धूम, दन्तिदारुण ये दड और भय देने वाले दो शालाओ वाले दड नामक भवन के ग्यारह भेद हुए ॥१७-१८½॥

वात-भेद—मरुत, पवन, वात, अनिल, प्रभञ्जन, घनारि, अम्बुद-विध्वसि, प्रलय, कलह, कलि और कलि-चुल्ली—ये उद्वेगकर वात के भेद हैं ॥१८½-१९॥

चुल्ली-भेद, काच-भेद—रोग, चुल्ली, अनल, भस्म—ये चुल्ली के चार भेद हुए। काच के छल, काच, कुलघ्न (अथवा कुलह) और विरोधि—ये चार भेद हुए ॥२०॥

दो शालाओ वाले मकानो के ये बावन भेद हुए। पहले चार के ग्यारह और आखरी दो के चार-चार है। अब इनके पृथक् पृथक् लक्षणो को कहते हैं ॥२१॥

पहली और दूसरी धनप्रद मूषाओ को वहन करने वाला सर्वार्थ-सिद्धक वसुधार नामक गृह होता है ॥२२॥

जिसमे पहली और तीसरी मूषाएँ हो वह सिद्धार्थक कहलाता है। दूसरी और तीसरी मूषाओ को वहन करता हुआ सब उपद्रवो से रहित सिद्धि करने वाला, चिन्तित अर्थों को देने वाला, ऋद्धिकारी कल्याण नामक घर कहलाता है ॥२३-२४½॥

पहली और चौथी मूषाओ से युक्त सारस्वत नामक उत्तम गृह कहलाता है ॥२४½-२४॥

दूसरी और चौथी मूषाओ से युक्त सुखप्रद शिव नामक गृह होता है तथा चिन्तित मनोरथो को देने वाला कामद नामक गृह तीसरी और चौथी मूषाओ से युक्त होता है ॥२५॥

गृह-स्वामी के लिये शान्ति एव सुख प्रदान करने वाला श्रीप्रद नामक

वेश्म पहले की तीन मूपाओं से उपलक्षित होता है और शान्ति-प्रदायक शान्त नामक घर पहली, दूसरी और चौथी से युक्त होता है ॥२६॥

समृद्धि देने वाला निष्कलक पहली, तीसरी और चौथी से तथा धन-वर्धन करने वाला धनेश दूसरी, तीसरी और चौथी मूपाओं से उपलक्षित होता है। धन की वृद्धि करने वाला कुबेर पहले की चारों मूपाओं से युक्त होता है ॥२७-२८½॥

अब यमसूर्य के प्रभेदों के लक्षण और फल कहता हूँ ॥२८½-२८॥

स्वामी का नाश करने वाला संहार नामक वेश्म पहली और दूसरी मूपाओं से युक्त होता है तथा मृत्यु देने वाला यमसूर्यक गृह पहली और तीसरी से ॥२९॥

स्त्री का विनाश करने वाले काल नामक घर में दूसरी और तीसरी मूपाएँ होती हैं तथा रोग-कारक वैवस्वत चौथी और पहली मूपाओं का वहन करता है ॥३०॥

स्वामी को यम-दर्शन कराने वाला यमालय नामक गृह दूसरी और चौथी से तथा स्वामी के प्राण का विनाश करने वाला कराल तीसरी और चौथी मूपाओं से युक्त होता है ॥३१॥

स्वामि-नाशन विकराल नामक गृह पहले की तीन मूपाओं से युक्त होता है और भर्तृनाशन कबन्ध नामक गृह पहली, दूसरी और चौथी मूपाओं से उपलक्षित कहा गया है ॥३२॥

मालिक को मारने वाला मृतक नामक आलय पहली, तीसरी और चौथी से, मालिक को मरण देने वाला शव नामक गृह दूसरी, तीसरी और चौथी से और स्वामी को मारने वाला महिष पहली चारों मूपाओं से उपलक्षित कहा गया है ॥३३-३४½॥

दण्ड नामक दो शालाओं वाले मकान के भेदों में प्रचण्ड नामक गृह पहली और दूसरी मूपाओं से युक्त कहा गया है। इसे आदि में मालिक के लिए राजभय देने वाला घर समझना चाहिये। प्रचण्ड दण्ड का भय उपस्थित करने वाला चण्ड नामक गृह पहली और तीसरी मूपाओं से युक्त होता है ॥३४½-३५॥

राजदण्ड के लिए दारुण दण्ड नामक गृह दूसरी और तीसरी मूपाओं से युक्त होता है और स्वामी के लिये दण्ड तथा भयकारक उद्दण्ड नाम का घर पहली और चौथी मूपाओं से युक्त कहा गया है। काण्ड के समान भेद-कारक काण्ड नामक वेश्म दूसरी और चौथी से तथा स्वामी के लिये विग्रह उपस्थित करने वाला कोटर नामक गृह तीसरी और चौथी मूपाओं से युक्त होता है ॥३६-३७॥

वध और बन्धन देने वाला विग्रह पहली, दूसरी और तीसरी मूपाओ मे, विग्रह-कारक निग्रह नामक गृह पहली, दूसरी और चौथी मूषाओ से बनता है ॥३८॥

सब धन का नाश करने वाला धूम्र नामक गृह पहली, तीसरी और चौथी मूषाओ से विनिर्मेय है। दूसरी, तीसरी और चौथी मूषाओ से निर्धूम बनता है जो धन-नाशक कहा गया है ॥३९॥

धन का हरण करने वाला दन्ति-दारुण पहले की चारो मूपाओ से युक्त कहा गया है ॥४०½॥

अब वात नामक मुख्य द्विशाल गृह के भेदो मे मरुत सज्ञा उस मन्दिर की होती है जिसमे पहली और दूसरी मूपाएँ हो वहाँ पर वसने वालो मे सदा लडाई रहती है ॥४०½-४१½॥

तीसरी और पहली मूषाओ से उपलक्षित उद्वेगकारक पवन नामक घर कहा गया है ॥४१½-४१॥

सदा सताप-कारक वात नामक मकान दूसरी और तीसरी मूषाओ से युक्त कहा गया है। सताप एव उद्वासकारक अनिल नामक घर पहली और चौथी से युक्त कहा गया है, शोक एव सतापकारक प्रभजन दूसरी और चौथी से तथा उद्वेगकारक घनारि तीसरी और चौथी से ॥४२-४३॥

कार्य और अर्थ का नाश करने वाला रोग नामक गृह पहली और दूसरी तथा तीसरी मूषाओ से तथा चित्त मे सताप उपस्थित करने बाला प्रलय पहली, दूसरी और चौथी से विहित है ॥४४॥

कलहकारी कलह नामक पहली, दूसरी और चौथी से और संताप-कारक कलि दूसरी, तीमरी और चौथी से ॥४५॥

धन का अपहरण करने वाली कलि-चुल्ली पहले की चार मूपाओ से युक्त होती है ॥४६½॥

चुल्ली के भेदो मे शोक देने वाला रोग नामक गृह पहली और दूसरी मूषाओ से युक्त कहा गया है ॥४६½-४६॥

वित्त का विनाश करने वाली चुल्ली दूसरी और तीसरी से और अर्थ-नाशक अनल नामक निवेशन तीसरी और चौथी मूषाओ से उपलक्षित है ॥४७॥

स्वामी का वित्त-नाशक भस्म नामक गृह पहली और चौथी से युक्त होता है ॥४८½॥

काच के भेदो मे छल नामक मन्दिर उत्तराभिमुखीन दो मूषाओ से

[illegible] होता है। यह नित्य बन्धुवर्ग के लिये अपमानकारी होता है। दक्षिण और उत्तर वाली मूषाओं का यदि पूर्व मे वहन हो तो काच नाम का वेश्म सज्जनानन्दकारक होता है और दक्षिण की दोनो मूषाओं मे तीनो कुलो का नाश करने वाला कुलह नामक घर कहा गया है। दक्षिण और उत्तर की मूषाओं का यदि पश्चिम मे वहन हो तो विरोध नाम का वह वेश्म सब लोगो के लिए विरोधकारक होता है ॥४८½-५१॥

इस प्रकार से द्विशाल-भवनो के संक्षिप्त रूप मे बावन भेद बताये गये और उनके मूषा-वहन और फल आदि का भी निर्देश किया गया। अब एक शाला वाले भवनो के सूचक उदाहरण दिये जाते है ॥५२॥

द्विशाल-भवन
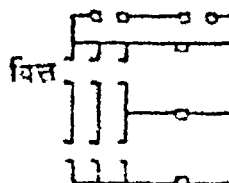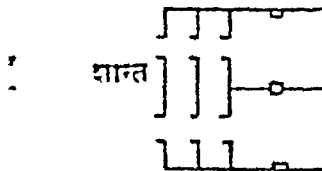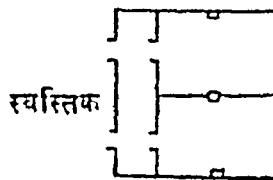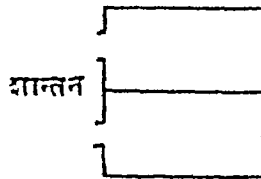
टि०—त्रिशाल, चतुश्शाल तथा पञ्चशाल भवनों के रेखाचित्र पृष्ठ १४६ पर देखिये।

एकशाल-भवन

अब एक शाला वाले घरो का लक्षण कहता हूँ। उनमे से कुछ पहले की तरह अनिन्दित और प्रशस्त कहे जाते हैं और कुछ निन्दित अर्थात् अप्रशस्त कहे जाते हैं ॥१॥

पहले की तरह चार यथावत् गुरुवर्णों का विन्यास करे अर्थात् प्रस्तार करे और इन्ही से वेश्मो के १६ भेद प्रसूत होते हैं ॥२॥

गुरु के नीचे लघु का न्यास करे और शेष को ऊपर की तरह फिर गुरुओ से पूर्ण करते जाना चाहिये जब तक सब लघु न हो जावें ॥३॥

वास्तु-पण्डित लघु-स्थानो मे अलिन्दो को समझें और इनको गृह के मुख से दाहिने तरफ विनियोजित करें ॥४॥

इन भवनो के अलिन्दो के सयोग से अलग-अलग नाम, गुण और दोष क्रमशः कहे जाते हैं ॥५॥

ध्रुव, धन्य, जय, नन्द, खर, कान्त, मनोरम, सुमुख, दुर्मुख, क्रूर, पक्ष, धनद, क्षय, आक्रन्द, विपुल और विजय ये १६* भेद हुए ॥६-७½॥

ध्रुव मे जय प्राप्त होती है और धन्य मे धान्य का आगमन होता है। जय से शत्रुओ पर विजय होती है, नन्द मे सब समृद्धियां प्राप्त होती हैं। खर नाम का वेश्म आयासदायक होता है और कान्त मे श्री प्राप्त होती है ॥७½-८॥

मनोरम मे आयु, आरोग्य, ऐश्वर्य और धन की सम्पदाएं और गृह के स्वामी की मनस्तुष्टि बताई गई है ॥९॥

सुमुख मे राज्य-सन्मान, दुर्मुख मे सदा कलह, क्रूर मे व्याधि का भय और गोत्र वृद्धि करने वाला सुपक्ष नामक गृह होता है ॥१०॥

धनद मे स्वर्ण एव रत्न आदि के साथ-साथ गौओ को मनुष्य प्राप्त करता है और सर्वक्षय करने वाला घर क्षय कहा गया है तथा आक्रन्द स्वजातियो को मृत्युदायक कहा गया है ॥११॥

विपुल मे आरोग्य और ख्याति तथा विजय मे सब सम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं ॥११½॥

यदि धन्य मे दूसरा भी मुखालिन्द प्रयुक्त किया जाए तो वह घर रम्य

---

* इनके रेखा-चित्र पृष्ठ ११४ पर देखिये।

नाम का होता है और वह स्वामी को सौभाग्यदायक होता है। दूसरे मुखालिन्द से योजना करने पर नन्द नाम का गृह श्रीधर की संज्ञा लेता है। उसमें लक्ष्मी सदैव निवास करती है। सुमुख के मुख में जब दूसरा अलिन्द विनिवेशित होता है तो उसे वर्धमानक कहते हैं और वह स्वामी की लक्ष्मी का वर्धन करने वाला कहा गया है॥१५½-१६½॥

दूसरे मुखालिन्द से युक्त क्रूर नामक मन्दिर कराल जानना चाहिये और उसका स्वामी विनाश को प्राप्त होता है॥१६½-१७½॥

दूसरे अलिन्द से योजित किया गया फिर धनद नाम का गृह सुनाभ कहलाता है। उसमें उसका स्वामी पशुओं एवं पुत्रों को प्राप्त करता है ॥१७½-१८½॥

आक्रन्द के पुरोभाग में यदि दूसरा अलिन्द नियोजित किया जाता है तो उसको गृह-विद्या-विशारद ध्वांक्ष के नाम से पुकारते हैं और उसको निन्दित घर बतलाते हैं॥१८½-१९½॥

विजय के मुख में यदि दूसरी अलिन्द-घटना घटित होती है तो उसको सत्कृत कहा जाता है और वह पुण्य कर्मों का घर होता है ॥१९½-२०½॥

षड्दारु-योजना में अन्य भेद—ध्रुव आदि जो पहले सोलह वेश्म कहे गये हैं उनकी शालाओं का विभाग जान कर छै दारुओं का विन्यास करें तो उनके १६ और भेद होते हैं। उनके नाम क्रमशः निम्न हैं—सुन्दर, वरद, प्रमोद, भद्र, सिमुख, शिव, सर्वनाभ, विशाल, विलक्ष, असुभ, ध्वज, उद्योत, भीरण, शून्य, प्रनित, कुल-नन्दन—इन नामों से इन वेश्मों के गुणदोषों की कल्पना करनी चाहिये २०½-२३॥

विभाव्य हैं। इनकी संज्ञाएँ हैं—अलकृत, अलकार, रमण, पूर्ण, अम्बर, पुण्य, सुगर्भ, ईप्सित, कलश, दुर्गत, रिक्त, सुभद्र, वन्दित, दीन, विभव तथा सर्वकामद ॥२७½-३०॥

शालान्त-विन्यस्त-षड्दारु-कल्पना-भेद—शालाओ के अन्त मे स्थित षड्दारुओ के पश्चात् अपवरको के निर्माण से वेश्मो के अन्य सोलह भेद निर्दिष्ट हुए हैं। वे हैं—प्रभव, भाविक, क्रीड, तिलक, क्रीडन, सुख, यशोद, कुमुद, काल, भासुर, सर्वभूषण, वसुधार, धनहर, कुपित, वित्तवृद्धि और कुलोदय। इनके भी गुण-दोष पहले के समान जान लेने चाहिएँ ॥३१-३३॥

यहाँ पर अनन्तर कहे गये वेश्मो के जो सोलह भेद हैं उनमे प्रत्येक मे चारो दिशाओ मे अलिन्दो का विनियोजन करना चाहिये। उनके भेदो से उत्पन्न भेदो का विधानपूर्वक अब वर्णन करते है। वे भेद है—चूडामणि, प्रभद्र, क्षेम, शेखर, अद्भुत, विकाश, भूतिद, हृष्ट, विरोध, कालपाशक, निराभय, सुशाल, रौद्र, मोघ, मनोरथ और सुभद्र। इन सज्ञाओ से ही घरो के गुणो का उपलक्षण करे। एक शाला वाले वेश्मो के इस तरह एक सौ चार भेद हुए और उनके सस्थानो एव नामो का भी क्रमशः वर्णन हो चुका ॥३४-३८½॥

हस्तिनी, महिषी, गावी और छागली इनके क्रम से द्विपूर्व वाले वेश्मो के नामो को अब कहता हूँ—द्वि-हसक, द्वि-चक्र, द्वि-सारस तथा द्वि-कोकिल। ये पण्डितो के द्वारा हस्तिनी आदि के क्रमश. सयोजन से निष्पन्न बताये गये हैं। पहले के तीन आयु, पशु और धान्य की वृद्धि के लिये कहे गये हैं और इन्ही के नाश करने के लिये चौथा भेद द्वि-कोकिल कहा गया है ॥३८½-४१½॥

इस प्रकार से अलिन्द, षड्दारु, अपवरक, आवरण आदि भेद से एक शाला वाले भवन कहे गये और लक्षणो एव फलो से इनकी सज्ञा भी कही गई और साथ ही साथ करिणी आदि शालाओ के दूसरे युग्मज अर्थात् जोडे भी वर्णित किये गये है ॥४१½-४२॥

द्वार-पीठ-भित्ति-मान

वर्णशालाओं से निबद्ध बीच में स्थित मंडपों में खुले हुए आंगन (अजिर) वाले पन्द्रह हलक होते हैं—१ ईश्वर २ वृषभ ३ चन्द्र ४ रोग ५. पाप ६ भयप्रद ७ नन्दन ८ स्वादक ९ ध्वांक्ष १०. विकृत ११ विलय १२ क्षय १३ याम्य १४ विपरीत तथा १५ भद्रक। इन नामों से इन हलकों को यत्नपूर्वक वास्तु-कोविद समझ लें ॥१-३॥

अग्नि, राक्षस, अनिल, ईशान अर्थात् आग्नेय, याम्य, वायव्य तथा ऐशान्य कोणों के हलकों की क्रमशः एक, दो, तीन और चार नाम से प्रकल्पना करनी चाहिये। इसी क्रमयोग से छन्दोभेद भी होता है ॥४-५½॥

उनमें पहले हलक से ईश्वर नाम का गृह होता है। वह सब लक्षणों से युक्त एवं सब वृद्धियों तथा फलों का देने वाला कहा गया है ॥५½-६½॥

द्वितीय हलक से पुत्र और दारा का विवर्धन करने वाला घर वृषभ कहलाता है ॥६½-६॥

यदि गृह में पहला और दूसरा हलक होता है तो सर्व-लक्षण-युक्त मनुष्यों के लिये वृद्धिकारक चन्द्र नाम का घर होता है ॥७॥

जहाँ पर वायव्य हलक होता है वह रोग-विवर्धक रोग नाम का घर होता है ॥८½॥

यदि गृह में पहला और तीसरा हलक हो तो उस वास्तु को पाप कहते हैं और वह सब प्रकार के पापों का प्रयोजक होता है। वायव्य और पितृकोण से विनिविष्ट भयद नाम का घर रोग से मृत्युकारक बताया गया है ॥८½-९॥

पितृ तथा वायव्य (रोग) और अग्नि कोणों में नन्दन नाम का घर आदिष्ट किया गया है। यह शान्त, सुखद और अर्थप्रद हलक परिकीर्तित किया गया है ॥१०॥

चौथे हलक से ईशान कोण में स्वादक नामक गृह कहा जाता है। जब नागरादि दूसरी शाला ईशान दिशा में होती है तो वह ध्वांक्ष नाम से दरिद्रों के लिये वास्तु-विनियोग में विहित है। पुनः नागसन्न में दूसरी तथा चौथी शाला होवें तो उसको विकृत नाम का विकृतावास कहते हैं। इसमें वास करने से

कुटुम्ब वाला व्यक्ति प्रवास प्राप्त करता है ॥११-१३½॥

विलय नामक हलक गृह मे पहली, दूसरी तथा चौथी शाला यदि निर्मित हो तो वह घर धननाशक तथा हानिप्रद कहलाता है। अथच ऐशानी दिशा मे जब वायव्य हलक विनिर्मित होता है तो उसकी सज्ञा क्षय है और वह क्षयकारक कहा गया है। यदि हलक मे आग्नेय, वायव्य, ऐशान्य कोणो मे शाला विनियोजित हो तो उस हलक गृह की सज्ञा याम्य कही गई है और वह मृत्युकारक होता है। उसे कभी नहीं बनवाना चाहिये। मारुत, नैऋर्त्य और ऐशान्य दिशाओ मे यदि शाला के कोणो मे लागल होता है तो सब मनुष्यो के लिये नाशकारक, व्याधिकारक होकर विपरीत नाम का घर कहलाता है ॥१३½-१७½॥

जहाँ पर दक्षिण-मुख स्थित चार शालाएँ हलक मे होती है वहाँ सर्व-मगल-प्रयोजक भद्रक नामक भवन निष्पन्न होता है ॥१७½-१८½॥

घरो के दरवाज़ो की ऊँचाई और विस्तार तथा तल की ऊँचाई और पीठ का और दीवालो का विस्तार और गृहकर्म मे लकडी का प्रयोग आदि जो एक शाला के विधान है उनके जो नाम हैं, उनका इस समय ठीक तरह से क्रमश. वर्णन करता हूँ ॥१८½-२०॥

पाच वर्गाधिप हैं—सोलह का समुदाय, बीस का समुदाय, चौबीस का समुदाय, अट्ठाईस का समुदाय, बत्तीस का समुदाय—ये पाच समुदाय वर्गाधिप माने गये है ॥२१-२२½॥

शाला के चतुर्थ भाग से दीवालो का विस्तार इष्ट माना गया है ॥२२½-२२॥

षोडश आदि पाचो वर्गों मे दीवालो के चिह्नो को कह दिया गया है और जहाँ पर दीवाल, खम्भे और तुला आदि से मर्म पीडा होती है, मर्म की पीडा को त्यागते हुए वहाँ पर ह्रास अथवा वृद्धि करनी चाहिये। इसी प्रकार बुद्धिमान् जहाँ सक्षेप की आवश्यकता हो वहाँ सक्षेप करें तथा जहाँ विस्तार की आवश्यकता है वहाँ विस्तार करे ॥२३-२४॥

हीन भवनो मे शाला-प्रवेशक अलिन्दक का निर्माण करना चाहिये। भूमि के भाग को बराबर करके चार भागो मे उस ढीग या भिट्ट को विभाजित करने पर तल से आधा उठा हुआ ऊपर से पीठ होता है। तदनन्तर पीठ-विनियुक्ति कर लेने पर वास्तु-विस्तार से प्रतिहस्त एक अगुल समुद्धत कर सत्तर के साथ योजना करे। इस तरह से पाचो उक्त वर्गों मे दरवाज़ो की ऊँचाई बताई गई है तथा आठवें अश से छूटा हुआ ऊँचाई के आधे से वैपुल्य (चौडाई) होता है और द्वार के विस्तार के बाद अश से पट्ट-विस्तार इष्ट होता है। विस्तार के आधे

भाग के साथ तल के ऊपर बाहुल्य जानना चाहिये और इस तरह शाखा-वश स्यापत्य-पट्टिनों को आगे-आगे वैपुल्य करना चाहिये ।।२५-२६।।

वेदी के विस्तार-बाहुल्य के विहित हो जाने पर और दोनो शाखाओ के विहित हो जाने पर द्वार-विस्तार के चौथे अंश से मूल मे खम्भे का विस्तार कहा गया है ।।३०।।

दश भाग से विहीन अग्रभाग मे स्तम्भो के बराबर पट्ट कहा गया है और स्तम्भ के अग्रभाग से तीसरे भाग से पट्टकोटि का विधान किया गया है ।।३१।।

स्तम्भ के अग्रभाग के चौगुने विस्तार से हीरकग्रहण होता है और उसी तरह व्यास और बाहुल्य से अन्य-अन्य पट्टो की उद्भावना करनी चाहिए ।।३२।।

पट्टकोटि का अर्धभाग उत्सेध के आधे भाग से निकला हुआ तत्रक का प्रमाण होता है, यह शास्त्रज्ञो ने बताया है ।।३३।।

इसके पर और अपर के विभाग से ऊपर द्रव्यो को पट्टकोटि के चौथे भाग से घटा देवे ।।३४।।

पूर्व द्वार वाला जो घर होता है और जिसका द्वार महेन्द्र संयुक्त होता है और जिसकी शाला हस्तिनी होती है उस घर की संज्ञा भद्र है। यह भद्र स्वामी का कल्याणकारी, यश और बल का विवर्धन करने वाला होता है और उस घर मे बसने वाले के सब कार्य सिद्ध होते हैं ।।३५-३६।।

जिस वेश्म का मुख दक्षिण की तरफ होता है, उसका द्वार गृहक्षत होता है तथा उसकी शाला महिषी होती है, उस घर को नदपीठक के नाम से पुकारते हैं। यह नदपीठ नाम का घर मनुष्यो के लिए नित्य आनन्दकारक बताया गया है। यह अखिल सम्पदाओ एव गुणो से युक्त और धन-धान्य का विवर्धक बताया गया है ।।३७-३८।।

पश्चिम की तरफ मुख वाला और कुसुम नामक द्वार वाला जो घर होता है और जिसकी शाला गावी होती है उसको पण्डित लोग सौरभ के नाम से पुकारते हैं। इस सौरभ मे बसने वाले गृहस्थो को सदैव प्रसन्नता, सफलता, कृषि एव वाणिज्य तथा आज्ञाकारी पुत्र होते हैं ।।३९-४०।।
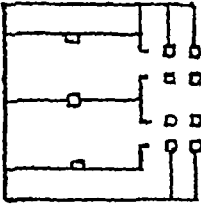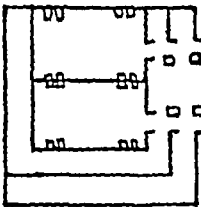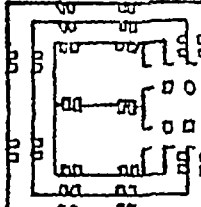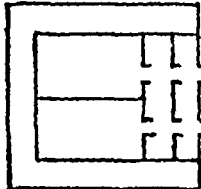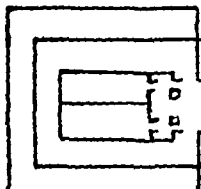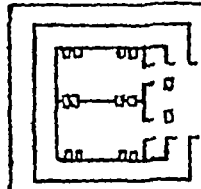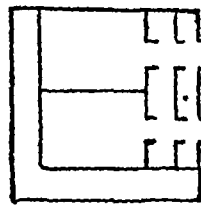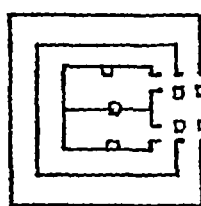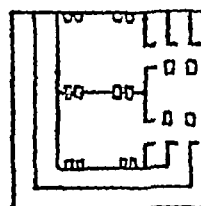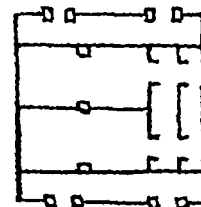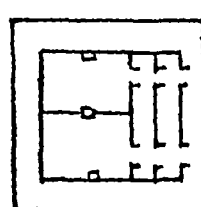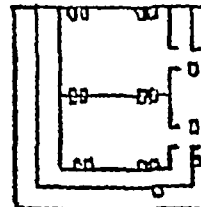
उत्तर की ओर मुख वाला और जिसका द्वार भल्लाट संयुत हो तथा जिसकी शाला छागली हो, उसे पुष्कर नाम से पुकारते हैं। इस पुष्कर नामक सभा मे रहने वाला व्यक्ति शीलवान्, नित्य-सन्तुष्ट, सुहृदो एव सुजनो का वत्सल होता है तथा वह सौभाग्यशाली, बहु-पुत्र एव धन से युक्त कहा जाता है ।।४१-४२।।

भद्र, नन्दपीठ, सौरभ और पुष्कर प्रथम वर्ग से पहले आये मे प्रयुक्त

करे। सर्वभद्रादिक जो सब निवेश बताये गए हैं वे पाँचों विमानो से पाँच-पांच करके उत्पन्न होते हैं ॥४३-४४॥

मन्दिरो मे द्वार का, पीठ का, दीवाल का क्रमश· प्रमाण बतलाया गया है। उसी प्रकार से दारुकला और हीन-वास्तु का सम्पूर्ण लक्षण भी बता दिया गया है ॥४५॥

समस्त-गृह-संख्या

पचशाल—अब पाच शालाओ वाले वेश्मो के लक्षण कहे जाते हैं। उनकी सख्या १०२४ है ॥१॥

इस सख्या वाले गुरुओ के प्रस्तार की कल्पना से पाँच शालाओ वाले मकानो के लघु विभाग मे भेद कहे गये हैं ॥२॥

द्विशाल और त्रिशाल घरो के योग से पचशाल घर बनता है अथवा चतु शाल और एकशाल गृहो के योग से पचशाल बनता है ॥३॥

यह पचशाल गृह चारो वर्णो के लिये प्रशस्त कहा गया है। चारो वेश्मो के हिरण्यनाभ-प्रभृति सिद्धार्थ आदि के समायोग से आठ घर निष्पन्न होते है। हिरण्यनाभ के साथ सिद्धार्थ का योग होने पर हेमकूट नामक घर होता है। वात के साथ इसी का योग होने पर स्वर्णशेखर होता है, सुक्षेत्र का सिद्धार्थ के सयोग होने से श्रियावह नामक घर होता है और उसी का यमसूर्य के साथ सयोग होने पर महानिधि नामक वेश्म बताया जाता है। चुल्ली का यमसूर्य के साथ सयोग होने से सदादीप्त उत्पन्न होता है और उसका दड-सयोग से चित्रभानु नाम पडता है। पक्षघ्न का दंड के साथ सयोग होने पर सदादोष विनिर्दिष्ट होता है और पक्षघ्न को ही वात के साथ सयोग होने पर निर्विघ्न कहा जाता है और काच और चुल्ली का सयोग त्रिशालो मे प्रशस्त नही माना जाता है इसीलिये यहाँ पर इनके सूक्ष्म भेदो का वर्णन नही किया गया ॥४-१०½॥

चतुश्शाल से एकशालो के हस्तिनी आदि चार शालाओ के योग से उन पचशाल भवनो के २० भेद कहता हूँ। जब सर्वतोभद्र वेश्म की शाला अजा होती है तब उस पचशालाओ वाले घर को सुदर्शन नाम से पुकारते है और वही सुदर्शन करिणी शाला के योग से सुमुख कहलाता है। महिषी का योग सुन्दर और गावी का योग शोभन कहलाता है। पुन इन चारो हस्तिनी आदि शालाओ के योग से क्रमश सुनाभ, सुप्रभ, सौम्य और विनोद नाम के घर सम्पन्न होते है ॥१०½-१४½॥

नद्यावर्त मे भी इसी प्रकार से शालाओ की योजना करने पर सुनद,

नन्दन, नन्द, पुडरीक नामक मन्दिर सम्पन्न होते हैं ॥१४½-१५½॥

रुचक के भी अजादि शालाओ के योग से क्रमश भद्र, रुचिर, रोचिष्ण और प्रहर्षण नाम से घर वनते हैं ॥१५½-१६½॥

स्वस्तिक मे भी इसी युक्ति से चार घर होते हैं । वे हैं—घोष, सुघोषण, नन्दिघोप, श्रीपद्म । इस तरह सर्वतोभद्र-प्रभृति आलयो के योग से २० भेद हुए ॥१६½-१७॥

राजाओ के योग्य पचशाल-भवनो के पूर्वोक्त आठ घरो के साथ युक्त होने पर २८ भेद वनते हैं। इन २८ पचशाल-गृहो के मध्य मे जिस किसी एक का मूषा-भेद जितने रूप पैदा करता है, उनका क्रम अव वताता हूँ। वहाँ पर विभद्र एक और एक भद्राओ वाले १० और दो भद्राओ वाले ४५, तीन भद्राओ के १२०, चार भद्राओ के २१०, पाच भद्राओ वाले घरो के २५२, षड्भद्रो के २१०, सप्तभद्रो के १२० और अष्टभद्रो के ४५, नवभद्रो के १० और दस भद्रो के केवल १—इस प्रकार से मूषा-वहन-सख्या से पचशाल भवनो के १०२४ भेद हुए ॥१८-२४½॥

षट्शाल—एकशाल, द्विशाल, त्रिशाल तथा चतु शाल, इन भवनो के पारस्परिक योजनाओ से षट्शाल भवनो के लक्षण और उनकी सख्याओ का वर्णन करता हूँ। द्विशाल, त्रिशाल और एकशाल के योग से षट्शाल वेश्म निष्पन्न होता है और उसके सोलह भेद होते हैं ॥२४½-२६½॥

पक्षघ्न और वात इन दोनो का एकशाल भवन से सयोग होने पर पकजाकुर नामक उत्तम षट्शाल भवन होता है और एकशाल भवन के साथ हिरण्यनाभ और सिद्धार्थ जव सयुक्त होते हैं तो श्रीगृह नामक शुभ गेह वनता है। एकशाल के साथ सुक्षेत्र और यमसूर्य इन दोनो के सयोग से धनेश्वर नाम का घर धन-वृद्धि के लिये होता है। एकशाल गृह का जव दड और चुल्ली के साथ सयोग होता है तो प्रभूत-काचन-कारक काचनप्रभ नाम वाला घर वनता है। इसी दिशा से द्वादश अन्य भवनो को जानना चाहिये ॥२६½-३०॥

इन्ही के भेदो मे अखिल वर्णियों के लिये शुभ त्रिशालाओ के वरावर जोड़ो से चार और षट्शाल भवन होते हैं और द्विशाल एवं चतु.शाल के योग से दूसरे चार षट्शाल भवन वनते हैं। सिद्धार्थ वेश्म के साथ जव चतु.शाल सयुक्त होता है, तव त्रैलोक्यानन्दक नामक शुभ षट्शाल गृह निष्पन्न होता है। यमसूर्य से संयुक्त विलासचय कहा जाता है। दंड से युक्त चतु:शाल सुम्पद नाम से संकीर्तित है और वात से युक्त चतु.शाल श्रीपद नाम वाला होता है ॥३१-३४॥

अन्य चौबीस पट्शाल भवन अन्यों के योग से होते हैं। राजाओ के लिये जो पाच उचित चतु शाल भवन हैं उनके द्विशाल-योग से पट्शालो का वर्णन करता हूँ। सर्वतोभद्र से सिद्धार्थ के साथ समायुक्त होने पर श्रीपुर नाम का घर होता है ॥३५-३६॥

यमसूर्य से युक्त सर्वतोभद्र के होने पर श्रीवास निष्पन्न होता है और भद्र से युक्त दड से श्रीभूषण नाम का घर निष्पन्न होता है। सर्वतोभद्र के योग से वात को श्रीभाजन कहते हैं और वर्धमान से युक्त सिद्धार्थ के होने पर वह भूतिमडन कहलाता है और उसी से यमसूर्य के युक्त होने पर भूतिभाजन होता है और दड-युक्त भूतिमान, वात से भूतिभूषण बनते हैं ॥३७-३९॥

नन्द्यावर्त के योग से सिद्धार्थ आदि श्रीमुख, श्रीधर, श्रीकृत और श्रीकर, ये चार पट्शाल निष्पन्न होते हैं। सिद्धार्थ आदि चारो का रुचक नामक वेश्म से सयोग होने पर श्रियाकार, श्रियोवास, श्रीयान और श्रीमुख ये चार घर होते हैं ॥४०-४१॥

सिद्धार्थ आदि चारो का यदि स्वस्तिक नामक वेश्म से सयोग हो तो, धनपाल, धनानन्त, धनप्रद और धनाढ्य ये चार पट्शाल बनते हैं ॥४२॥

इस प्रकार से राजोचित पचशाल वेश्मो की बीस सख्या होती है और पहले के चौबीस मिलाकर चौवालीस (४४) हुए। भूपाओ की सयोजना से अब एक भद्रादि का वर्णन करता हूँ। विभद्र-१, एकभद्र-१२, द्विभद्र-६६, त्रिभद्र-२२०, चतुर्भद्र-४९५, पचभद्र-७९२, षड्भद्र-९२४, सप्तभद्र-७९२, अष्टभद्र-४९५, नव-भद्र-२२०, दश-भद्र-६६, एकादश-भद्र-१२, द्वादश-भद्र-१, इस प्रकार से ४०९६ पट्शाल भवनो के भेद हुए ॥४३-४९॥

सप्तशाल—अब सप्तशाल-भवनो का वर्णन करता हूँ। त्रिशाल के जोडे और एकशाल के योग से जो सप्तशाल भवन बनते हैं उनके द्वादश भेद होते हैं। एकशाल और द्विशाल जब चतुश्शाल से युक्त होता है, तब सप्त-शाल वेश्म का दूसरा प्रकार होता है। यमसूर्य से एकशाल और चतु शाल का जब सयोग होता है तब वह घर श्रीप्रदायक नाम का होता है और वात से सयुक्त होने पर श्रीपद और दड के साथ सयुक्त होने पर श्रीप्रद होता है ॥५०-५३॥

सिद्धार्थ के साथ इसी तरह श्रीमाल निष्पन्न होता है। राजाओ के योग्य जो पाच चतुश्शाल वेश्म हैं, उनका एकशाल और द्विशाल के साथ सयोग होने पर सप्तशाल गृह बनते हैं ॥५४-५५½॥

जब सर्वतोभद्र और सिद्धार्थ एकशाल के साथ सयुक्त होते है, तो श्रीप्रद और श्रीपद वास्तु तैयार होता है ॥५५½-५६½॥

सर्वतोभद्र गृह का यमसूर्य और एकशाल से सयोग होने पर श्री-फलावह श्रीफल नाम का घर निष्पन्न होता ॥५६½-५७½॥

सर्वतोभद्र और दड के साथ एकशाल जब सयुक्त होता है, तो लक्ष्मी का आस्पद श्रीस्थल नाम का वह भवन होता है ५७½-५८½॥

सर्वतोभद्र और वात मे एकशाल के मिलने पर लक्ष्मी-निवास भवन श्रीतनु नामक घर निष्पन्न होता है ॥५८½-५९½॥

जब एकशाल से सिद्धार्थ और वर्धमान संयुक्त होते हैं, तब श्रीपर्वत नाम का उत्तम भवन कहलाता है ॥५९½-६०½॥

यमसूर्य के साथ वर्धमान और एकशाल के योग से श्रीवर्धन नाम का घर लक्ष्मी की वृद्धि करने वाला होता है ॥६०½-६१½॥

जब दड और वर्धमान एकशाल सहित होते हैं, तब श्रीसङ्गम नाम का उत्तम भवन कहलाता है ॥६१½-६२½॥

जब वात और वर्धमान एकशाल-युक्त होते हैं, तो राजा के योग्य श्री-प्रसङ्ग नाम वाला भवन कहलाता है ॥६२½-६३½॥

एकशाल और नन्द्यावर्त से सिद्धार्थ के अन्वित होने पर भूपाल-सेवित श्रीभार नामक भवन होता है। यमसूर्य और एकशाल इन दोनो का नन्द्यावर्त के साथ जब योग हो तो राजाओ के लिए सुखावह श्रीभार नाम का दूसरा वेश्म स्मृत किया गया है ॥६३½-६५½॥

नन्द्यावर्त और दड इन दोनो का एकशाल के साथ सयोग होने पर राजाओ के लिए भोग-भोग्य उत्तम सप्तशाल गृह श्रीशैल नाम का सम्पन्न होता है ॥६५½-६६½॥

नन्द्यावर्त और वात इन दोनो का एकशाल के साथ संयोग होने पर राजाओ के लिए ऐश्वर्यदायक श्रीखण्ड नाम का भवन होता है ॥६६½-६७½॥

सिद्धार्थ और रुचक का एकशाल के साथ सयोग होने पर राजाओ के योग्य श्रीपड अथवा श्रीघट भवन बनता है ॥६७½-६८½॥

रुचक से ही यमसूर्य और एकशाल इन दोनो के योग से श्रीनिधान नामक भवन होता है और उसका दड और एकशाल इन दोनो के योग से श्रीकुण्ड नाम होता है। वात, एकशाल और रुचक इन तीनो के युक्त होने पर श्रीनाम नामक भवन कहलाता है और वह भवन राजाओ के लिए भूति-दायक होता है। एकशाल के साथ जब सिद्धार्थ और स्वस्तिक मिल जाते हैं तो लक्ष्मी-

देवी का मनन-वल्लभ श्रीप्रिय नाम का भवन निष्पन्न होता है ॥६८½-७१½॥

यमसूर्य और एकशाल के साथ जब स्वस्तिक मिलता है तब उसे राजाओ का हितकारक श्रीकान्त नाम का सप्तशाल भवन निष्पन्न होता है ॥७१½-७२½॥

दण्ड और स्वस्तिक इन दोनो का एकशाल के साथ जब संयोग होता है तब विजयशील वह वेश्म श्रीमत के नाम से पुकारा जाता है। वात और स्वस्तिक का संयोग जब एकशाल से होता है तब राजाओ का वह वेश्म श्री-प्रदत्त नाम से पुकारा जाता है। इस प्रकार से एक-एक के दो भेदो से चालीस हुए ॥७२½-७४॥

इस प्रकार से यहाँ तक ४८ भेद हुए आठ पहले के और ४० ये ॥७५½॥

जब त्रिशाल भवन चतुःशाल से युक्त होता है तब भी सप्तशाल चार प्रकार का होता है। पाँच राज-गेहो मे से किसी एक का त्रिशाल से यदि मेल होता है तो २० प्रकार का सप्तशाल होता है। हिरण्यनाभ के योग से सर्वतो-भद्र मन्दिर राजाओ के लिए हितकारक श्रीवत्सनाभ नाम का वेश्म उत्पन्न करता है और सर्वतोभद्र और सुक्षेत्र के मिलने पर श्रीवृक्ष होता है। फिर उससे चुल्ली के संयोग से श्रीपाल नाम का वेश्म पैदा होता है। सर्वतोभद्र से युक्त पक्षघ्न से श्रीकण्ठ कहा जाता है ॥७५½-७६॥

वर्धमान से युक्त हिरण्यनाभ से श्रीवास और वर्धमान से सुक्षेत्र के मिश्रित होने पर श्रीनिवास तथा वर्धमान और चुल्ली के साथ जो घर बनता है उसे श्रीभूषण कहते हैं ॥८०-८१½॥

इसी प्रकार वर्धमान के साथ जब पक्षघ्न संयुक्त होता है तब श्रीमण्डन नामक उत्तम भवन निष्पन्न होता है ॥८१½-८२½॥

हिरण्यनाभ का नन्द्यावर्त के साथ संगम होने पर लक्ष्मी का वह कुल-निकेतन श्रीकुल के नाम से प्रख्यात होता है ॥८२½-८३½॥

नन्द्यावर्त के साथ सुक्षेत्र के मिलने पर श्रीगोकुल नामक भवन निष्पन्न होता है ॥८३½-८३॥

नन्द्यावर्त और चुल्ली का योग होने पर श्रीस्थावर नामक गृह और नन्द्यावर्त का पक्षघ्न के साथ योग होने पर कुम्भ नाम का घर निष्पन्न होता है ॥८४॥

हिरण्यनाभ और रुचक के योग से श्रीसमुद्रक नामक भवन होता है और रुचक के साथ सुक्षेत्र के संयोग होने पर श्रीनन्द नामक गृह बनता है ॥८५॥

रुचक से जब चुल्ली संयुक्त होती है तब श्रीहृद नामक गृह होता है

और पक्षघ्न का रुचक के साथ सयोग होने पर श्रीघर नामक गृह निष्पन्न होता है ।।८६।।

हिरण्यनाभ के साथ स्वस्तिक के संयोग मे श्रीकरण्डक और उसी मे सुक्षेत्र के साथ सयोग होने पर श्रीभाण्डागार नामक गृह होता है । इसी प्रकार उसके चुल्ली से मिलने पर नरपति-प्रिय श्रीनिलय और पक्षघ्न के साथ जब स्वस्तिक का योग होता है तब वह राज-मन्दिर श्रीनिकेतन के नाम से प्रसिद्ध होता है । इस प्रकार नाम और लक्षणो से सप्तशालाओ का वर्णन हुआ ।।८७-८६।।

सार्वभौम राजाओ, मन्त्रियो और सज्जनो के लिए ये सब भवन धन, यश और विजय की वृद्धि के लिए होते हैं ।।९०।।

अब इन सप्तशाल वेश्मो की एकादि मूपाओ के सन्निवेश-भेद से क्रमशः गणना करता हूँ ।।९१।।

सप्तशाल गृह मे जब एक भी मूषा नही होती है, तो वह विभद्र कहलाता है और उस विभद्र की सख्या १ एकभद्र—१४, द्विभद्र—९१, त्रिभद्र—३६४. चतुर्भद्र—१००१, पचभद्र—२००२, पड्भद्र—३००३ और सप्तभद्र की ३४३२, अष्टभद्राओ वाले वेश्म पड्भद्र वाली सख्या के समान (३००३) होते है और नवभद्राओ वाले घरो की सख्या २००२ होती है । दशभद्राओ वाले १००१ और एकादश भद्राओ वाले ३६४, द्वादश-भद्रो की ९१ और त्रयोदश-भद्रो की सख्या १४, चतुर्दश भद्रो से युक्त एक ही घर होता है । इस तरह सप्तशाल वेश्मो की सख्या १६३८४ हुई ।।९२-१००½।।

अष्टशाल—अब अष्टशाल भवनो के भी भेद कहता हूँ । बाहर और भीतर के दो चतु शाल भवनो के सयोग से एक भेद हुआ, सर्वभद्रादिको के दो-दो के सयोग से दूसरे और दस भेद हुए ।

उन्नतीस-पद-वास्तु से चौकोर क्षेत्र-विभाग का विभाजन करना चाहिए । दो भागो से मूषा का सन्निवेश और चार भागो से शाला का सन्निवेश विहित है । पाँच भागो से उसके मध्य मे आगन की वापी का न्यास विहित है और उस वास्तु मे प्रति दिशा मे चार मूषाएँ होनी चाहिएँ ।।१००½-१०३।।

यह अष्टशाल भवन कही पर एकशाल से कम सप्तशाल के रूप मे, कही पर दो शालाओ से उज्झित पट्शाल के रूप मे और कही तीन शालाओ से विहीन पाच शालाओ के रूप मे होता है ।।१०४।।

दो त्रिशाल भवनो मे जब द्विशाल भवन मिलता है तो आठ अष्टशाल भवन निर्दिष्ट किये गए हैं ।।१०५।।

मूषाओ की सघटना-वश अब अष्टशालो की सख्या कहता हूँ ।।१०६½।।

उनमे एक विभद्र होता है जिसमे भूषा नही होती। एकभद्र १६, द्विभद्र १२०, त्रिभद्र ५६०, चतुर्भद्र १८२०, पचभद्र ४३६८, षड्भद्र ८००८, सप्तभद्र ११४४०, अष्टभद्र १२८७०, नवभद्र ११४४०, दशभद्र-सख्या ८००८, एकादशभद्र की सख्या पचभद्र के समान कही जाती है (४३६८), द्वादशभद्र-वेश्म की सख्या १८२० होती है। त्रयोदशभद्रो की सख्या ५६० और चतुर्दश-भद्रो की १२०, पचदशभद्रो की सख्या १६, षोडशभद्र गृह की एक ही सख्या मानी गयी है। इस प्रकार यहाँ पर अष्टशाल गृहो की एकत्रित सख्या ६५५३६ होती है ॥१०६½-११७॥

नवशाल—चतु शालाओ के युगल सयोग से सक्षेप मे एक-एक एकशाल के योग से चार-चार नवशाल बनते है ॥११८॥

सर्वतोभद्र आदि मुख्य वेश्मो के जोडो के साथ और एक एकशाल के योग से, ४० भेद और होते हैं ॥११९॥

त्रिशाल के त्रितय (तिगुने) के योग से नवशाल गृहो के चार अन्य भेद पुरातनों ने बताये है ॥१२०॥

नवशाल गृहो का यह सस्थान कहा गया, अब भूषाओ के भेद से इनके भेद बताये जाते हैं ॥१२१॥

बिना भूषा वाला अर्थात् विभद्र	१
एकभद्र	१८
द्विभद्र	१५३
त्रिभद्र	८१६
चतुर्भद्र	३०६०
पञ्चभद्र	८५६८
षड्भद्र	१८५६४
सप्तभद्र	३१८२४
अष्टभद्र	४३७५८
नवभद्र	४८६२०
दशभद्र	४३७५८
एकादशभद्र	३१८२४
द्वादशभद्र	१८५६४
त्रयोदशभद्र	८५६८
चतुर्दशभद्र	३०६०
पञ्चदशभद्र	८१६

षोडशभद्र	१५३
सप्तदशभद्र	१८
अष्टादशभद्र	१

कुल मिलाकर २६२१४४ भेद हुए ॥१२२-१३६½॥

दशशाल—एक द्विशाल के साथ समान दो चतु शालों के योग से सक्षेप मे चार दशशाल वेश्म होते है और प्रधान वेश्म और सर्वतोभद्रादि के द्वितय (दो-दो) के परस्पर योग से और एक द्विशाल के योग से दूसरी सख्या ४० हुई। समान त्रिशालो के त्रितय और एकशाल से संयुक्त होने पर तब अन्य साधारण चार दशशाल होते हैं। सर्वभद्रादिको से जब-जब दो तुल्य त्रिशाल युक्त होते हैं, तब दशशालो के वीस और भेद होते हैं ॥१३६½-१४०½॥

विना मूषा वाला अर्थात् विभद्र	१
एकभद्र	२०
द्विभद्र	१९०
त्रिभद्र	११४०
चतुर्भद्र	४८४५
पञ्चभद्र	१५५०४
षड्भद्र	३८७६०
सप्तभद्र	७७५२०
अष्टभद्र	१२५९७०
नवभद्र	१६७९६०
दशभद्र	१८४७५६
एकादशभद्र	१६७९६०
द्वादशभद्र	१२५९७०
त्रयोदशभद्र	७७५२०
चतुर्दशभद्र	३८७६०
पञ्चदशभद्र	१५५०४
षोडशभद्र	४८४५
सप्तदशभद्र	११४०
अष्टादशभद्र	१९०
एकोनविंशतिभद्र	२०
विंशतिभद्र	१
	१०४८५७६

इस प्रकार से दशशाल-भवनो की सूपा-भेद-प्रसार से दस लाख अड-तालीस हजार पाँच सौ छिहत्तर संख्या हुई ॥१४०½-१५८॥

चतुश्शालो से लेकर दशशालो तक की जो संख्या अभी तक बताई गई है, उनकी नौगुनी संख्या प्रतिदिशि अलिन्द-दिशा से निर्देश्य है। एकशाल, द्विशाल, त्रिशाल तथा चतुश्शाल इन चारो के परस्पर सयोग से दशशालान्त शाल-भवनो का सविस्तर वर्णन किया गया। अब चतुश्शाल-भवनो से लेकर दशशाल-भवनो तक की जो संख्या निकलती है उन सब का निर्देश करता हूँ। सूपा-भेद से तेरह लाख अट्ठानवे हजार सोलह भेद होते है। पुनश्च सूपाओ के अलग-अलग सस्थान-भेद से तो नाना अगणित करोडो भेद निष्पन्न होते हैं। अत उनका विस्तारभय से वर्णन नही किया गया ॥१५९-१६३॥

इस प्रकार से प्रमुख चतुश्शाल और दशशाल जितने भी वेश्म-प्रभेद होते हैं, कह दिये गये। उनकी शालाओ के प्रभेद से परस्पर-सयोग से जो संख्या होती है वह भी यथावत् प्रतिपादित की गई है ॥१६४॥

वन-प्रवेश

(दारु-आहरण)

घर वनाने के लिए यथाविधि, पूर्व से अथवा उत्तर से द्रव्य अर्थात् भवन-निर्माण मे आवश्यक दारु लाना चाहिए और उस द्रव्य को लाने के लिए शुभ नक्षत्रों मे (मृदु, क्षिप्र एव चर नक्षत्रो मे) जाना चाहिए ॥१॥

स्थिर चर लग्न मे वन-प्रवेश तो विहित है ही; वन मे जाकर वहाँ वृक्षो के निकट रहना अथवा उपवास रखना भी इन्ही नक्षत्रो मे विहित है। परन्तु लकडी का छेदन तथा भेदन आदि कार्यारम्भ दारुण नक्षत्र अथवा लग्न मे विहित है ॥२॥

शुभ एव पवित्र देश मे जाकर वहा पर निवेश करना चाहिए और निवेशन करने के वाद कर्म के अन्त तक अन्न और जल से तर्पण करना चाहिए। सर्वविध पुष्ट एवं तुष्ट परिवार वाला व्यक्ति रात्रि में समुपोपित रह कर पुन· उसे वृक्ष की परीक्षा करनी चाहिए। अत· शस्त्र को त्याग कर घर के योग्य वृक्ष की परीक्षा करनी चाहिए ॥३-४॥

पुर के श्मशान, ग्राम के मार्ग, तालाव, चैत्य और आश्रम—इन स्थानो में उत्पन्न होने वाले, खेत तथा उपवन की सीमा के भीतर वाले तथा विपमस्थल और निम्नस्थल मे उत्पन्न होने वाले, कटु, अम्ल, तिक्त तथा लवण भूमियो मे उगे हुए, गड्ढो से ढके हुए तथा स्थिर भूमि मे उगे हुए पेडो को छोड देना चाहिए। ऐसे वृक्ष गृह-योग्य नही होते ॥५-६॥

वृक्षो का रग, तेल, वल्कल (छाल) आदि का अच्छी तरह से परीक्षण करके फिर उनकी अवस्था मालूम करनी चाहिए और उन मे से वाल और वृद्ध वृक्षो को छोड देना चाहिए ॥७॥

सारद्रुम (शीशम) की अवस्था तीन सौ वर्ष मानी गई है और सोलह वर्ष से ऊपर डेढ सौ वर्ष के पुराने तक वृक्ष को चुने। जिस प्रकार से मनुष्यो मे अवस्था के परिपाक से निर्वलता देखी जाती है तथा वाल झड़ने लगते हैं उसी प्रकार से वृक्षो की निर्वलता भी उनकी अवस्था से मानी गयी है और उनकी छिद्र-पत्रता भी यही सूचना देती है ॥८-९॥

जो कटे, पिटे, पोले, सकोलाक्ष एव तीक्ष्ण वल्कल वाले हो, जो ऊपर से सूख रहे हों उन वृक्षो को छोड देना चाहिए ॥१०॥

टेढे मेढे, सूने, जले, बुरी जगह पर खडे वृक्षो को और भग्न शाखा वाले तथा एक ही दो शाखा वाले, वृक्षो को भी छोड देना चाहिए ॥११॥

दूसरो से अधिष्ठित, विद्युत्पात से, आधी से और नदियो से क्षत, गाठो वाले, रस बहाने वाले तथा भ्रमर और सर्पो से आश्रित, एक दूसरे से सटे, एक ओर भ्रष्ट, मीठी वल्मियो से अर्थात् चीटियो से आच्छादित, मासाहारी पक्षियो से दूषित, मकडी के जालो से ढके हुए, जगली जानवरो से उद्घृष्ट, हाथियो से क्षत, मूलत (जड से) बहुत बडे तना वाले, मार्ग के चिन्ह-भूत, अकाल मे पुष्प तथा फल देने वाले, रोगो से पीडित, उल्लुओ के वास से युक्त—इसी तरह के अन्य वर्ज्य वृक्षो को भी छोड देना चाहिए ॥१२-१५॥

खदिर (खैर), बीजक, शीशम, मौहा, शाक, शिंशपा, सर्ज, अर्जुन, अञ्जन, अशोक, कदर, रोहिणी, विकङ्कत, देवदारु, श्रीपर्णी ये वृक्ष कुटुम्बियो के लिए पुष्टिकारक और जीवनदायक कहे जाते है। जिन वृक्षो की जल-सहिष्णुता एव भार-सहिष्णुता लक्षित होती हो, वे गृह-कर्म मे अच्छे कहे गये है ॥१६-१८॥

कडेल, धव, प्लक्ष, कपित्थ, विषमच्छद, शिरीष, गूलर, अश्वत्थ, शेलू, बरगद, चम्पक, नीम, आम, कोविदार, अक्ष, व्याधिघात— ये वृक्ष निन्दित कहे गये है और ये गृह-कर्म मे इष्ट नही हैं, क्योकि इन से अनिष्ट उत्पन्न होता है ॥१९-२०॥

काटे वाले, स्वादु फल वाले और दूध वाले और सुगन्ध वाले जो वृक्ष हैं वे भी इष्ट नही है, क्योकि उनमे पशुओ का नाश निश्चित है ॥२१॥

जिस प्रकार से प्राणियो की छाया नियत ही दिखाई पडती है उसी प्रकार से वृक्ष की छाया भी दिखलाई पडती है तो उसकी छाया ग्रहण करनी चाहिए, क्योकि उसी के प्रमाण का वह पेड होता है ॥२२॥

वृक्ष मे, उसकी पृथ्वी की पूर्व दिशा मे, नक्षत्र का विचार करना चाहिए। उसी नक्षत्र के आदि अक्षर से उस वृक्ष की उत्पत्ति समझनी चाहिए अर्थात् उस पृथ्वी की पूर्व दिशा मे वृक्ष पर जो नक्षत्र दिखलाई पडे वही वृक्ष का नक्षत्र समझना चाहिए ॥२३॥

उस वृक्ष को स्वामी का क्षेमकारक और साधक समझ कर बिना गांठों और कोटर वाले, स्निग्ध और सीधे तथा सारयुक्त, मोटे तने वाले, हरे पत्तो वाले तथा गोल ऐसे वृक्ष की पूजा करके ब्राह्मणो को खिला-पिला कर उसके बाद उसमे स्थपति, स्वस्तिवाचन कराये ॥२४-२५॥

रात्रि के आने पर कच्चे-पक्के मासो से भूतो के निमित्त भात व शराव और आसवो से तथा गन्धो, धूपो एव मालाओ से वलि देनी चाहिये ॥२६॥

"वृक्षो पर आश्रय लेने वाले जो जीव हो, वे चले जायें ! अपना अड्डा हटाओ, मैं इसको काटूँगा !"—यह वचन उच्चारण करना चाहिये। पुन वृक्ष को सम्वोधित कर—"हे वृक्ष ! तुम धन्य, शुभ, पुष्टिकर और प्रजाओ की वृद्धि करने वाले वनो। इन्द्र, पवन, यम, सूर्य, रुद्र, अग्नि कल्याण करें। दिशाएँ, सरिताएँ और पर्वत ऋषियो सहित तुम्हारी रक्षा करें ॥२७-२९½॥

जो वृक्ष मनुष्य-वाणी से वोलने लगे अथवा अभिमन्त्रित होने पर कापने लगे, अथवा जिसके नूतन पल्लव और कुसुम म्लान होने लगें उसको छोड देना चाहिये ॥२९½-३०½॥

तदनन्तर सूर्य का दर्शन कर वृक्ष की प्रदक्षिणा करके व्राह्मणो के स्वस्ति-वाचन के साथ काटने वाला उत्तर अथवा पूर्व मुख होकर पैने शस्त्रो से पेड को काटे। पेड के काटने पर यदि खून वहने लगे अथवा कम्पन होने लगे या ध्वनि सुनाई पडे तो घर वनाने वाले की मृत्यु होती है। अथवा वृक्ष काटने पर यदि दही, शहद, दुग्ध या घृत वहने लगे तो कुटुम्वी के लिये वन्धन तथा व्याधिया उपस्थित होती हैं ॥३०½-३३॥

जिस वृक्ष से तैल-युक्त, सुगन्धित, कुछ मीठा और कसैला वड़ा काला-सा रस वहता है वह वृक्ष अच्छा माना जाता है ॥३४॥

पूर्व दिशा मे यदि पेड गिरे तो वह कार्य-साधक होता है। यदि दक्षिण अथवा पश्चिम दिशा मे गिरे तो शान्ति-समारोह करके उस पेड को त्याग देना चाहिये ॥३५॥

यदि दूसरे वृक्ष को मर्दन करते हुए वृक्ष का पात होता है तो ज्ञातियो से भय उपस्थित होता है। जड से कटा हुआ जो वृक्ष दूर तक दलन करता है तथा वायु के झोको से अधिक शब्द करता है वह पेड शुभ होता है ॥३६-३७½॥

गधे, ऊँट, गीदड या सर्प का दर्शन यदि वृक्ष को काटते समय होता है तो कार्य मे विघ्न अथवा हथकडियो का वन्धन उपस्थित होता है ॥३७½-३८½॥

हल, चक्र, पताका, कमल, ध्वजा, छत्र आदि का दर्शन यदि होता है अथवा श्रीवृक्ष एव वर्धमान आदि का यदि दर्शन होता है तो ये दर्शन शुभप्रद होते हैं ॥३८½-३९½॥

यदि काटने पर वृक्ष उछल कर गिरता है तो कुटुम्वी की ऋद्धि प्राप्त होती है। इनके विपरीत यदि काटने पर चरमरा कर वीच मे ही रह जाता है

तो नव तन्त्र मे क्षति की आशंका समझनी चाहिये ॥३९½-४०½॥

एक वृक्ष मे पूर्वोक्त प्रकार से उत्क्षेप आदि के दर्शन से जो निमित्त बताये गये हैं उसी प्रकार दोष-रहित शेष वृक्षों को देख कर धीर स्थपति ठीक तरह से अनुलोम अर्थात् शास्त्र-विहित तथा प्रशस्त एवं कोमल तथा सीधे वृक्षों का संग्रह करे ॥४०½-४१॥

वृक्ष-मण्डल—वृक्ष के काटने पर आधे भाग पर अथवा दश भागों से कुछ अधिक काटने पर वृक्ष के भीतर स्थित जन्तु आदि की परीक्षा करे। इन्ही को वृक्ष-मण्डल कहा गया है। इस प्रकार इनके मण्डलों को जानना चाहिये। मंजिष्ठ कान्ति वाले मण्डल मे मेढक, कपिल कान्ति वाले मण्डल मे चूहा, पीली कान्ति वाले मण्डल मे गोधा, अधिक धवल कान्ति वाले मण्डल मे सर्प, गुड़की कान्ति-सदृश मण्डल मे मधु, लाल मे कृकलास (गिरगिट), कपोत कान्ति मे गृह-गोधा (घरेलू गोह), घृतमण्ड की सी कान्ति वाले मण्डल मे गोधेर, रसांजन-सदृश, शस्त्र की आभा के सदृश, कमल तथा उत्पल (नीले कमल) की आभा के सदृश, धोई हुई धवल तलवार की कान्ति वाले—इन मण्डलों मे जल समझना चाहिये ॥४२-४६½॥

जिस वृक्ष का सर्प का-सा आकार अथवा वर्ण दिखलाई पड़े उस सर्प-गर्भित वृक्ष को बिना विचारे ही छोड़ देना चाहिये ॥४६½-४७½॥

क्षौद्र अर्थात् शहद मे चोरों से भय, सलिल मे सलिल से भय, सर्प मे विष से भय, पाषाण मे अग्नि से भय समझना चाहिये ॥४७½-४८½॥

वानरों, बैलों, नैगों, ऊँटों, गधों आदि से निष्पीडित, गोधा, गोधेर, मण्डूक तथा कृकलास से गर्भित, मूषकों से दूषित वृक्ष वास्तु-विज्ञ स्थपति का मरण बताता है ॥४८½-४९॥

इसी तरह विद्वान् लोग अन्य गृह-पीडा बताते हैं। कुशलतापूर्वक दारु आहरण यदि निष्पन्न होता है तथा बिना बाधा यदि सामग्री प्राप्त हो जाती है तो दूसरे वर्षों मे सब प्रकार की कुशलता तथा सुभिक्ष समझना चाहिये ॥५०-५१½॥

विधान को जानने वाला गृह-पति अर्घ-दान आदि विधि से आये हुए द्रव्य की प्रशंसा करे और लौटे हुए काटने वाले गुनिम, आयुध एवं ध्वजा आदि द्रव्य की सादर पूजा करे ॥५२॥

गृह-द्रव्य-प्रमाण

अब उपादेय और परित्याज्य जो गृह-द्रव्य है, उन गृह-द्रव्यो का प्रमाण कहता हूँ ।।१।।

गृह-द्वार—दरवाज़े की ऊँचाई गृह-विस्तार के हस्त-तुल्य अगुलो मे सात जोडने से होती है और उसका विस्तार उसके आधे परिमाण से विहित है । यदि घर का विस्तार २४ हाथ है तो दरवाजे की ऊँचाई २४+७ अगुल होगी ।।२।।

छोटे भवनो का गृह-द्वार इसी क्रम से प्रकल्पन करे और मध्यो का त्रैराशिक से बारहवाँ अश छोडकर करना चाहिए ।।३।।

इस प्रकार से ऊँचाई और उसके आधे से विस्तार सभी का होता है, परन्तु उत्तमो की ऊँचाई आठवे अश से वर्जित कही गई है ।।४।।

बहुत छोटो का विस्तार अगुलो से युक्त करना चाहिए । ६४ अगुल की गृह-द्वार की ऊँचाई और उसका आधा विस्तार विहित है ।।५।।

विस्तार के हस्तो के तुल्य ६० अथवा ५० से सयुक्त अगुल ऊँचाई होती है और उसके आधे से विस्तार ।।६।।

दूसरी विधि यह है—तीन अश से हीन गृह की ऊँचाई से दरवाज़े की ऊँचाई और उसके आधे से विस्तार कहा गया है ।।७।।

पेद्या-पिड—दरवाज़े की ऊँचाई के करो के तुल्य अगुलो मे यदि चार का विनिक्षेप किया जाय तो पेद्या-पिड होता है । उसका विस्तार सवाया अथवा ड्योढा, पौने दुगुना ($१\frac{३}{४}$) अथवा दुगुना बनाना चाहिए और इससे अधिक नही होना चाहिए । ऐसा करने पर द्वार की पेद्या का विस्तार स्फुट है ।।८-९।।

उदुम्बर—पेद्या-पिड के आधे पिड का उदुम्बर होता है । पेद्या के आधे विस्तार से उदुम्बर का विस्तार होता है ।।१०।।

द्वार-शाखा—पेद्या-पिड के समान शाखा का विस्तार शुभ माना जाता है और उसके आधे से ही रूप-शाखा का भी विस्तार होता है ।।११।।

पेद्या के आधे विस्तार से खल्व-शाखा का विधान किया गया है और रूप-शाखा के समान अथवा रूप-शाखा से आधी बाह्य-मंडला नामक शाखा कही गई है ।।१२।।

एक पाद से कम अथवा तीन अंश से हीन अथवा विस्तार से आधा प्रासादों में द्वार-शाखा विनिर्गम तुल्य होता है ।।१३।।

पहली शाखा को देवी कहते हैं और दूसरी को नन्दिनी । तीसरी सुन्दरी के नाम से और चौथी प्रियानना के नाम से पुकारी जाती है । भद्रा नाम की पाचवीं शाखा होती है । इस तरह से ये पाँच शाखाएँ होती हैं और ये पाँच शाखाएँ वेश्म में प्रशस्त कही गई हैं । इनमें अधिक जो शाखाएँ होती हैं वे घर के दरवाज़े पर शुभ नहीं होतीं ।।१४-१५।।

तल की ऊँचाई—घर के विस्तार का सोलहवाँ भाग चार हस्तों से समन्वित होने पर तल की ऊँचाई प्रशस्त कही गई है । उसकी ऊँचाई ज्येष्ठ गृह में सात हस्त की, मध्य में छे हाथ की और कनिष्ठ में पाँच हस्त की करनी चाहिए ।।१६-१७।।

शाला-विस्तार—ज्येष्ठ भवन में १७ हाथ से विस्तृत शाला होती है । मध्यम में दस हाथ की और कनिष्ठ में पाँच हाथ की विस्तृत शाला विहित है।।१८।।

तल-न्यास—उदुम्बर के बाहुल्य से तल का न्यास कराना चाहिए और तल के न्यास के बराबर अलिन्द के परिग्रह में पट्ट-न्यास होता है ।।१९।।

स्तम्भ-विन्यास—दरवाज़े के विस्तार के चौथाई से खम्भे की कोटि का विधान किया गया है । आठ अंशों के साथ अथवा अधिक से या तीन भाग अथवा ग्यारह अंश से इसकी प्रणालिनी बनवाना चाहिए । आठ अंश को छोड़कर नौ अथवा बारह अंशों से स्तम्भों को बनाना चाहिए । तदनन्तर अपने आधे भागों के समान अर्ध भागों से, समन्वित भागों से, नीचे से, आठ भाग वाली स्तम्भ की प्रतिपालना होती है ।।२०-२२।।

स्तम्भ-मूल के विस्तार के आधे से स्थल-निर्गम, पुन उसके आधे से मसूरक-निर्गम माना जाता है ।।२३।।

उत्कालक की ऊँचाई स्तम्भ-पिंड के समान शुभ होती है । उत्कालक के समान ही कुम्भिका पिंड में होती है, परन्तु विस्तार में वह आठ अंशों से युक्त होती है ।।२४।।

पद्मक-स्तम्भ—पहले कहे गए स्तम्भ-भागों में मध्यम में आद्य-पर्वों की दीर्घता निर्माण करनी चाहिए और दीपों की पाद-रहित निर्मिति विहित है । पर्वों की रचना की ऊँचाई में एक-एक पाद कम करते जाना चाहिए । इस प्रकार आधे भाग में घण्टा के समान रचना की ऊँचाई करनी चाहिए । इसी प्रकार आधे पाद से ऊँचाई जंघा की भी और शेष जंघा पहले कहा गया है । इस प्रकार कुम्भिकायुक्त और कुम्भ-स्तम्भों से युक्त पद्मक-स्तम्भ का निर्माण कहा गया है ।।२५-२७।।

घट-पल्लवक-स्तम्भ—स्तम्भ-सूत्रो के परिक्रमो से अथवा उसे अष्ट-कोण बनाना चाहिए। उसके विस्तार के बराबर ऊँचाई को छोडकर अन्य भागो का विभाजन करे। आठ अश्रों (कोणो) के विभागो के मान से बाह्य-सूत्रो से व्याप्त मध्यम भाग मे तो पल्लिकाओ से व्याप्त कोणो का निर्माण करना चाहिए। घटिका (अर्थात् कुम्भ) पुष्पमालाओ से और पत्तो से सुशोभित होनी चाहिए। छेद-भाग बाहरी भाग से रहित बराबर बनाना चाहिए। इस प्रकार यह घट-पल्लवक-स्तम्भ वर्णित किया गया। यह भवनो के स्वामी के कल्याण के लिए शुभ कहा गया है ।।२८-३१।।

कुबेर नामक षोडशाश्र-स्तम्भ—सोलह अश्रो (कोणो) की क्रियाओ से युक्त कुबेर का निर्माण करना चाहिए। यह ऊपर पत्तो से आकीर्ण होता है और इसकी जघा चौकोर होती है ।।३२।।

श्रीधर-नामक वृत्त-स्तम्भ—श्रीधर-नामक स्तम्भ गोल होता है—इसकी कल्पना कुबेर के समान कही गई है। इस तरह गृहो के चार खम्भो का लक्षण प्रतिपादित किया गया ।।३३।।

स्तम्भाङ्ग—स्तम्भ-मूल के विस्तार से तल-पट्ट का सपाद विस्तार कहा गया है और इसका बाहुल्य पादहीन करना चाहिए। विस्तार मे स्तम्भ के समान और बाहुल्य मे पद से युक्त, आयाम (विस्तार) मे स्तम्भ के अग्रभाग से तिगुना हीर-ग्रहण होता है। हीर-ग्रहण का विस्तार सात भाग से प्रकल्पित करना चाहिए। वह सप्तोत्तर भाग होता है और उसका प्रवेश एक भाग से इष्ट कहा गया है। उसके नीचे तीन भागो से त्रिकण्ट और लम्वित दोनो तरफ दो अर्धचन्द्रो का विन्यास करे। खल्व का निर्माण करके नीचे के मध्य दो भागो मे सुन्दर त्रिकण्टक तथा मनोरम और लटकती हुई तुम्बिका का निर्माण करना चाहिए। फिर दोनो के मध्य मे दो भागो वाला दूसरा कण्टक निर्माण करे। जाती नामक पुष्प-वृक्ष के पत्तो से विभूषित लटकती हुई लम्बिका का निर्माण विहित है। उसका ऊपरी छोर पद्म-पत्रों से विभूषित करना चाहिए ।।३४-४०।।

अन्य भवनाङ्ग—पेद्र का विस्तार और आयाम तल-पट्ट के समान होता है। पट्ट के तीन अशो से छोर मे इस पट्ट-पिड का आधा निर्गम होना चाहिये। स्तम्भ के अग्र-भाग के समान तुला की मोटाई और विस्तार करना चाहिए। उसके आधे से जयन्तियों का पिंड और विस्तार बनाना चाहिये। उनसे एक पाद कम इच्छापूर्वक सन्धिपालों का निर्माण करना चाहिये ।।४१-४२।।

निर्यूहो मे जो पट्ट होते हैं उनको एक पाद से कम बनवाना चाहिये और तुला-पट्ट एक पाद से कम और उनके आधे से कम जयन्तियों का निर्माण

उचित है ॥४३॥

तुला के आधे से प्रतिमोक का विस्तार करना चाहिये। पट्ट के ऊपर रूप-कर्म से विभूषित कठ होना है। निर्यूह मे वेदिका की जाली रूप आदि प्रशस्त कहे गये हैं। आँगन की वापिका छत्र-सहित होनी चाहिये अर्थात् ढकी बनानी चाहिये। स्तम्भ-पट्टों को विस्तार मे पाद-युक्त बनाना चाहिये। सुदृढ संग्रहों से युक्त तुला का पिंड बराबर बनाना चाहिये ॥४४-४६॥

तल-विन्यास वेदिका आदि जाली से सम्पन्न मनोरम तल बनाना चाहिये। एक भूमि से दूसरी भूमि पर वह द्वादश अंशो से विवर्जित होना चाहिये अर्थात् कम होना चाहिये। सब तरफ से मूल-ग्राहाग्र-निर्गम अर्थात् मकरो के मुख से जिनसे पानी बह रहा हो ऐसी प्रणालियाँ बनवानी चाहिएँ ॥४७-४८½॥

छाद्य-प्रकार—घरो मे जो दंड-छाद्य होता है वह चार प्रकार का कहा गया है—भूत, तिलक, मंडल और कुमुद। उनमे ऊँचाई भी चार प्रकार की होती है ॥४८½-४६॥

भूत-च्छाद्य—क्षेत्र के चार अंश से छाद्य-दंड का दैर्घ्य, उसके आधे से मुष्टि का याम, पुन दंड के तीन अंश से लम्बन (लम्बाई) कही गई है। चौकोर बराबर, कान्त, मधुर तथा घना, वेश्मो का सपूजित भूत-नामक छाद्य बनाना चाहिये ॥५०-५१॥

तिलक-च्छाद्य—भूत की ही ऊँचाई से अठारहवाँ भाग की यदि अधिक ऊँचाई हो तो उसका नाम तिलक है और वह गृह-कर्म मे प्रशस्त कहा गया है ॥५२॥

मण्डल तथा कुमुद छाद्य—पहला दोनो से अधिक ऊँचा मंडल और तीनो से अधिक ऊँचा कुमुद नामक छाद्य कहे गये हैं। ये चारो छाद्य बिना दिवाल के निर्मेय हैं और उनको चन्दोवो (चन्द्ररेखाओं) से अलङ्कृत करना चाहिये। जहाँ चमकीली, भड़कीली, घनी चुनी जो दीवार होती है उस छाद्य की अवधारण संज्ञा होती है। यह पाँचवाँ प्रकार हुआ ॥५३-५४॥

सिंह-कर्ण, कपोताली, घटा, वर्गा, अर्ध-पक्षग, ध्वज, छत्र, कुमार, इनको घर मे वर्जित करे। मनुष्यों न पक्षियो की पंक्ति और न ध्वजा और न सिंह-कर्ण, न कुमार, न घटा अथवा समराल-पत्नी, न अर्धपक्षग और न पत्रो की ही वेश्मो मे कभी भी योजना करे ॥५५-५६॥

चय-विधि

(भवन-रचना-विधि)

अब चय अर्थात् चुनाई के गुणो और दोषो का इस अध्याय मे वर्णन किया जाता है। सुविभक्त, बराबर, सुन्दर और चौकोर चुनाई शुभ कही गई है ॥१॥

चय-गुण—असभ्रान्त, असदिग्ध, अविनाशि, अन्यवर्हित, अनुत्तम, अनुद्वृत्त, अकुब्ज, अपीडित, समान-खड, ऋजु-अन्त, अन्तरग, सुपार्श्व, सन्धि-सुश्लिष्ट, सुप्रतिष्ठ, सुसन्धि तथा अजिह्य ये वीस-गुण (चार प्रथम-श्लोक-प्रति-पादित और ये सोलह) चय के कहे गये हैं। वैपरीत्य से अर्थात् इनके उलटे दोष भी वीस कहे गये हैं ॥२-४॥

दक्षिण की तरफ जब दीवाल वहिर्मुख चुनी जाती है तो वह व्याधि-भय की उत्पादक या मृत्यु-दड की निर्देशक होती है। पश्चिमी दिवाल जव वहिर्मुख चुनी जाती है तव धन-हानि तथा दस्युओ से भय प्राप्त होता है ॥५-६॥

जव स्थपति उत्तर दिशा मे दीवाल का बहिर्मुख चयन करता है तो वनाने वाले तथा गृह-स्वामी दोनो को व्यसन प्राप्त होता है ॥७॥

जव स्थपति प्राची दिशा मे कुडय का वहिर्मुख निवेशन करता है तो विशेषज्ञो ने राज-दड के भय का निर्देश किया है। यही फल कुडय के गिर जाने पर या फट जाने पर कहा गया है ॥८-९½॥

जिस दीवाल का प्राग्दक्षिण कर्ण वहिर्मुख होता है वहाँ पर घोर अग्नि-भय और गृह-स्वामी का सशय (जीवन-सशय) आपतित होता है। दक्षिण-पश्चिमाभिमुख कर्ण जव बहिर्मुख होता है तो वहाँ पर लडाई के उपद्रव और भार्या का सशय उपस्थित होते हैं। पश्चिमोत्तर कर्ण जव वहिर्मुख हो जाते हैं तो वहाँ पर पशु, वाहन और कुत्तो का सशय होता है। जव प्रागुत्तर कर्ण (पूर्व तथा उत्तराभिमुख) वहिर्मुख जाता है तो वहाँ पर गुरुओ का सशय और गाय वैलो का संशय पैदा होता है ॥९½-१३½॥

चुनाई के कुछ पारिभाषिक शब्द—जव सब वाहुओ (पूर्वोक्त चारो दीवालो के कोनो) मे चुनाई करते हुए यदि विशाल हो जायें तो वह कर्णिका

के समान संस्थान मक्षिकाकृति नामक चुनाई कही गयी है। वहाँ पर जितना व्यय होता है, उतनी आय नहीं होती। चय के उस दोष से गृह स्वामी क्षीण होकर भाग जाता है ॥१३½-१५½॥

यदि चुनाई करते हुए दीवाल बहुत ही संक्षिप्त हो जावे तो उस चय की ग्रस्त संज्ञा कही गई है और वहां पर राज-भय अवश्यम्भावी है ॥१५½-१६½॥

यदि चुनाई करते हुए बाहर से विस्तार और बीच में संक्षेप आपतित हो जाता है तो उसका नाम तनुमध्य उद्दिष्ट किया गया है और वहाँ क्षुधा का भय समझना चाहिये ॥१६½-१७½॥

कर्णों में यदि उच्छ्रत और मध्य से परिहीन जो दीवाल चुनने से बनती है तो उसे निर्णत नाम दिया गया है और वहाँ पर चोर का भय कहा गया है ॥१७½-१८½॥

इसके विपरीत कर्णों में परिहीन और मध्य से उच्छ्रत यदि चुनाई होती है तो उसे कूर्मोन्नत (अर्थात् कछुवे की पीठ के समान उठी हुई) नाम की चुनाई समझना चाहिये और उसको सर्व-दोषमयी भयावह कहा गया है। विषमोन्नत कर्णों में द्रविण-क्षय (धननाश) का निर्देश किया गया है और जहा पर कर्ण बराबर-बराबर चुने जाते हैं वहाँ पर खूब भक्ष्य और पान उपस्थित होते हैं। इस प्रकार से ये चीयमान के गुण दोष बताये गये हैं। इसलिये पूर्ण प्रयत्न करके चय-कर्म अर्थात् चुनाई का निर्वाह करना चाहिये ॥१८½-२१½॥

चय-प्रकार—अर्थात् चुनाई कैसे करनी चाहिये। पानी के साथ ही चुनाई का सम्यक् निश्चय कारण हो सकता है क्योंकि बिना पानी की चुनाई के निश्चयार्थ और कोई साधन नहीं। इसीलिये जल के साथ वलय को आदर-पूर्वक ग्रहण करना चाहिये। फिर सुनाङ्कित सूत्र में विचक्षण राज को चुनाई प्रारम्भ करनी चाहिये। फिर क्षेत्रमान से दुगने प्रमाण से डोरी बनाकर दोनों अन्त के भागों पर दो खूंटियाँ गाड देनी चाहियें, फिर उन दोनों प्रान्त-स्थित खूंटियों पर सूत्र को बांध देना चाहिये। पुन उस पर इष्टानुमान से चिह्न देना चाहिये, इससे दीवाल का कर्ण ठीक-ठीक चुना जा सकेगा और इस प्रकार से दोषों का प्रसाधन करे ॥२१½-२६॥

चुनाई की दूसरी विशेषता यह है कि गारा बहुत नहीं देना चाहिये और न ईंटों का ही अधिक भेदन करना चाहिये। विषम ईंटों को वसूली से काट कर सम कर देना चाहिये। इस प्रकार से दीवाल की चुनाई करनी चाहिये। दीवाल की चुनाई (होती हुई) ईंटों का स्पर्श न करे। पुन दीवाल पर घाटि, मध्य और अन्त पर सम दृष्टि डालनी चाहिये (देखिये सूत्राष्टक में दृष्टि का स्थान)।

जब चारो ओर का तल उद्घाटित हो गया अर्थात् कुछ ऊँचा हो गया हो तो फिर बारी-बारी से चारो ओर चुनाई करनी चाहिये। एक ही स्थान पर पूरी चुनाई नही करनी चाहिये, क्योकि ऐसा करने से स्तरो का उद्घाटन नही होगा। इसलिये चुनाई सब ओर थोडी-थोडी करके उठानी चाहिये, क्योकि चारो ओर पाढ बाध कर चुनाई करना कठिन होगा। विचक्षण स्थपति ऊपर से बगल पर बराबर कर चुनाई करता है और चारो ओर दीवालो का दाढा छोड देता है। इसीलिये यत्न से चय-कर्म मे प्रयत्नशील होना चाहिये। इस प्रकार से वर्णित एव निरूपित चय-कर्म-विधि इस भूतल पर यशकारक होती है और गृह-स्वामी के लिये प्रचुर विभवकारक होती है ॥२७-३३॥

अप्रयोज्य-प्रयोज्य

(भवन-भूषा)

राजाओ के, सेनापतियो के तथा वणियो के घरो मे, वास्तु-कक्षाओ मे, सभाओ मे और देवमन्दिरो मे, शय्यागृह, आसन, यान, वर्तन, अलकार, छत्र, ध्वजा और पताका आदि सभी उपकरणो मे जो वस्तुएँ अप्रयोज्य कही गई हैं और जो प्रयोज्य है उन सब का प्राणियो के हित के लिये विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाता है ।।१-३।।

अप्रयोज्य—पूर्वोक्त राजा आदि लोगो के वेश्मो मे जो वस्तुएँ अप्रयोज्य बताई गई है केवल उनको ही पहले यहाँ पर कहता हूँ ।।४।।

उनमे समस्त देवताओ को प्रयोज्य नही कहा गया है । दैत्य, ग्रह, तारा, यक्ष, गन्धर्व, राक्षस, पिशाच, पितर, प्रेत, सिद्ध, विद्याधर, नाग, चारण और भूतसघ तथा उनकी स्त्रियाँ और पुत्र, पुरुष-प्रतिहार तथा स्त्री-प्रतिहारिणी तथा उनके अधिकारी-वर्ग, उनके शस्त्र और अस्त्र और सब अप्सराओ के गण इत्यादि सब-के-सब प्रयोज्य नही कहे गये हैं ।।५-७।।

दीक्षित, व्रती, पाखंडी, नास्तिक, क्षुधा से व्याकुल, व्याधि, बधन, शस्त्र, अग्नि, तैल, रुधिर, पक, धूलि, शूल और ज्वरादि से पीडित लोग, मत्त, उन्मत्त, जड, नपुसक, नगे, अधे और बहिरे आदि भी प्रयोज्य नही होने चाहिएँ ।।८-९।।

दोनो की क्रीडाएँ, हाथियों का ग्रहण, देवासुर आदि के सग्राम, राजाओ की नटाट्या—ये भी भवन-भूषा मे प्रशस्त नही कहे गये हैं ।।१०।।

प्राणियो का युद्ध और उनका विमर्दन तथा मृगया भी प्रशस्त नही कहे गये हैं । रौद्र, दीन, अद्भुत, त्रास, बीभत्स और करुण—ये रस भी प्रयोज्य नही कहे गये हैं तथा हास्य और शृगार को छोड कर प्राणियो मे अन्य रसो का प्रयोग नही करना चाहिये ।।११-१२।।

अग्नि-यान, जल-यान, रथ-यान, विमान और आयतन, प्रचंड अग्नि से जलते हुए भवन और वन, पुष्प और फलो से रहित वृक्ष तथा पक्षियों के वास से दूषित, एक शाखा अथवा दो शाखाओ वाले, रूक्ष, भग्न, टूटे हुए, सूखे हुए,

कोटर वाले ऐसे वृक्षो के साथ-साथ कदम्ब, शाल्मली, शेलु, तार, छार और लुक आदि वृक्ष भी भूतो के घर होने के कारण इष्ट नही कहे गये हैं। कडुवे तथा काटेवाले पेड भी प्रशस्त नही कहे गये है। पक्षियो मे गीध, उल्लू, कबूतर, बाज, कौवा और कक आदि प्रशस्त नही कहे गये हैं। रात्रिचर पक्षी भी इष्ट नही कहे गये हैं। वनचरो मे हाथी, घोडा, भैसा, ऊँट, बिल्ली, गधा, बन्दर, सिंह, व्याघ्र, तरक्षु, सुअर, हिरण, सिआर प्रशस्त नही कहे गये हैं और जो क्रव्याद (मास-भक्षी) पशु-पक्षी है इन सब का घरो मे प्रयोग नही करना चाहिये और जो पर्वत और जगल मे रहने वाले हैं उनको भी नही करना चाहिये क्योकि इनके करने से आचार्य अर्थो से वियुक्त हो जाता है अर्थात् आचार्य को अर्थ-हानि उपस्थित हो जाती है। साथ ही साथ उसे घोर व्याधि एव बन्धन भी उपस्थित होते हैं। जहाँ पर ऐसे प्रयोग होते हैं उस घर के गृह-स्वामी को भी धन-हानि, पराजय, प्रवास, वन्धन, नाश तथा मृत्यु शीघ्र प्राप्त होती है। इस प्रकार गृहस्थो के घरो मे इन अप्रयोज्य वस्तुओ का वर्णन किया गया है ॥१२½-२०॥

प्रयोज्य—अब जो वहाँ पर प्रयोज्य है उनका वर्णन किया जाता है। जिसकी जिसमे भक्ति हो और जो जिसकी कुल-देवता हो उसको एक हाथ के प्रमाण से बनाता हुआ दोष को प्राप्त नही होता और भवन के दरवाज़ो के दोनो पार्श्वो पर दो अलकृत प्रतिहारो का निवेश करना चाहिये। वे दोनो वेत की छडी को हाथ मे लिये हो, तलवार और उसकी म्यान को धारण किये हो, रूप और यौवन से युक्त तथा चित्र-विचित्र वस्त्रो और आभूषणो से सजे हुए हो। इस प्रकार दोनो प्रतीहारो को योजित करना चाहिये ॥२१-२३॥

सखियो से घिरी हुई, हसाने वाले विदूषको और कचुकियो से अनुगत सुन्दर नारी-प्रतिहारियो को दरवाज़े के दोनो तरफ निवेशित करना चाहिये ॥२४-२५½॥

अपने अनुरूप, शख और कमल के उज्ज्वल लक्षणो से चित्रित, मुख से निकलते हुए रत्न और अशर्फियो के ढेरो को धारण करते हुए निधि (खजाने) प्रयोज्य हैं। इसी प्रकार पद्म पर बैठी हुई, पूर्ण कुम्भ वाली, रत्नो और वस्त्रो से विभूषित, टेढे एवं ऊँचे उठे हुए पुष्प, फल और पल्लव से भरे हुए पूर्ण कुम्भ, अकुश, छत्र, श्रीवृक्ष (वेल), आदर्श (शीशा) और चामरो से उपलक्षित शख और मछलियो की मालाओ से विभूषित **अष्टमगला** गौरी का द्वार पर निवेशन करना चाहिये ॥२५½-२८½॥

द्वारमण्डल के मध्य भाग मे स्थित, उत्तम गजो से स्नान कराई जाने

वाली, पद्मो पर बैठी हुई और पद्मो को हाथ मे लिये हुए खूब सजी हुई लक्ष्मी का निवेश करना चाहिये ॥२८½-२९½॥

बैल को अपने बछडे के साथ अथवा छत्र और माला से विभूषित धेनु की योजना भी विहित है। बाहरी और भीतरी भूमियो पर चित्र-विचित्र पत्र-लता का आलेख्य करना चाहिये जिसमे आहारार्थ निवेदित भक्ष्य फल वाले तथा नाना पुष्पो एव फलो से झुके हुए एव तिरछे स्थित वृक्ष दिखाई पड रहे हो। साथ-ही साथ उन पत्र-लता मे दूसरे चित्रण हो जैसे कमलिनियो के पत्तो पर रहने वाले हस, कारड और चक्र आदि। अपनी सुन्दर बाहुओ से खेलते हुए कुमारो का भी उसमे चित्रण हो। विचित्र आभूषण और वस्त्र धारण किये हुए और रतिक्रीडा मे सलग्न नारियाँ चित्रित हो। नायक को इच्छानुसार चित्रित करे और नारियो के चित्रण मे उन्हें पीले शरीर की कान्ति वाली, थोडे लेकिन सुन्दर भूषणो से सजी हुई, थोडी-सी शरम से झुकी तथा सुरतालस चित्रित करना चाहिये ॥२९½-३४½॥

उन्नत और ऊँची शाखा वाले पेडो से चलायमान लाल पत्ते वाले चम्पक, अशोक, पुनाग तथा नाना प्रकार के आम और तिलक आदि वृक्षो से एव अन्य छाया-वृक्षो, पुष्पो और फलो से युक्त इसी प्रकार अन्य वृक्षो से भी उद्यान की भूमियाँ बनानी चाहियें, जहाँ पर कोयलें और भौंरे कूजन एव गुञ्जन कर रहे हो ॥३४½-३६½॥

फल और पुष्पादि के अपने-अपने चिह्नो से अलकृत तथा सुन्दर समयोचित विशेष पक्षियो से युक्त ऋतुओं का आलेख्य करना चाहिये। कादम्ब, हिरण, क्रौंच, हस और सारस की मानो जजीर पहने हुए, किनारे पर उगे हुए वानीर (बेंत) और केतकी के समूहो से मण्डित, जल के भीतर लीन मछलियो से और नलिनी-वनो से सछन्न (ढकी हुई) दीर्घिकाओ (वापियो) का, घर की दीवालो के नीचे के भागो पर, आलेखन करे ॥३६½-३९½॥

पान-भूमियो का ऐसा आलेख्य करे—उत्पल-सहित जहाँ पर पद्मिनी के पत्र चित्रित हो और जहाँ पर इक्षु-रस तथा फलादि भोग मणि अथवा काचन के बर्तनो मे रखे हो ॥३९½-४०½॥

विविध प्रकार से बाजे बजाने वाली, नृत्य गीत मे विचक्षण, प्रसन्न-मुख, ललनाओ का प्रेक्षा (नाट्य-गृह) की भूमियो पर लेखन करना चाहिये ॥४०½-४१½॥

पिजडे मे बैठे हुए चकोर, तोते और सारिकाएँ, प्रहृष्ट परपुष्ट (कोकिल) मयूर और मुर्गे भी प्रशस्य हैं। ये सब चीज़ें जो बनायी गई है वे सब प्रयोज्य

कही गई हैं तथा ये सभी उपकरणों मे प्रशस्त मानी गई हैं ।।४१½-४३½।।

जैसा पहले अप्रयोज्यो मे बताया गया उसी प्रकार विनिन्दित तथा चिल्लाते हुए देवयोनि-गण और पुरुष-गण पीठो, शय्याओ और आसनो पर प्रयोज्य नही ।।४३½-४४½।।

पहले कही गयी जो प्रयोज्य वस्तुएँ हैं वे कक्षाओ मे और सभी देवकुलो मे भी शुभ मानी गई हैं ।।४४½-४५½।।

दिव्य-मानुष से सम्बधित आख्यान और आख्यायिका आदि मे जितने आलेख्य आदि शुभ कहे गये है, वे यहाँ सब शुभ कहे गये हैं ।।४५½-४६½।।

इस प्रकार से भवन, शयन-कक्षा और देवमन्दिरो आदि मे प्रयोज्य तथा अप्रयोज्य का अपनी बुद्धि से वर्णन कर दिया । जो स्थपति इस कहने के अनुसार प्रयोज्य का निर्माण करता है और अप्रयोज्य का वर्जन करता है वह राजाओ का और कारीगरो का पूज्य होता है ।।४६½-४७½।।

द्वार-गुण दोष

इस प्रकार से अखिल कर्मोपजीवियो के गृहो* का वर्णन करने के बाद अब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र गृहस्थो के घरो का वर्णन किया जाता है ॥१॥

भल्लाट, धनद, चरक अथवा पृथिवीधर—इन पदो पर माहेन्द्र-द्वार उत्तम वेश्म ब्राह्मण के लिये बनाना चाहिये ॥२॥

माहेन्द्र, अर्क (सूर्य) अथवा सत्य या आर्यक—इन पदो पर गृहक्षत-द्वार शुभ निकेतन क्षत्रिय के लिये बनाना चाहिये ॥३॥

याम्य, वैवस्वत अथवा गान्धर्व या गृहक्षत—इन पदो पर पुष्प-द्वार शुभ भवन वैश्य के लिये बनाना चाहिये ॥४॥

वारुण, पौष्पदन्त अथवा मैत्र अथवा आसुर पदो पर भल्लाट-द्वार उत्तम सदन शूद्र के लिये बनाना चाहिये ॥५॥

ब्राह्मणो का वास्तु प्राङ्मुख और घर दक्षिणाभिमुख होवे तो धन और धान्य से तथा पुत्र और पौत्रो से उनकी वृद्धि होती है ॥६॥

क्षत्रियों का वास्तु दक्षिणाभिमुख तथा भवन पश्चिमाभिमुख यदि हो तो उनका धन, धान्य और पराक्रम बढता है ॥७॥

वैश्यो के वास्तु का द्वार पश्चिम और भवन का द्वार उत्तर मे यदि हो तो वहाँ पर वे धन, धान्य तथा पुत्र और पशु आदि से वृद्धि को प्राप्त होते है ॥८॥

यदि वास्तु उत्तर-द्वार वाला हो और गृह पूर्वाभिमुख हो तो शूद्र के लिये उनकी धर्मवृत्ति धन धान्य के साथ बढती है ॥९॥

उत्सङ्गादि चार निवेश्य—एक ही शाला मे शुभ तथा अशुभ चार निवेश्य-द्वार-भाग बताये गये है। वे है—उत्संग, हीनबाहु, पूर्णबाहु और प्रत्यक्षाय। उत्संग नामक द्वार-निवेश वह कहलाता है जहाँ पर एक ही दिशा वाले वास्तु और वेश्म के दरवाजे हों। यह उत्संग सौभाग्य, सतान-वृद्धि, धन, धान्य और जय का देने वाला होता है। जहाँ पर प्रवेश करने पर वास्तु का घर बायें होता है, उस वास्तु को हीन-बाहुक नाम से वास्तु-विद्या-

* देखिये—वास्तु-मातृका, अ० २६

विशारदों ने निन्दित कहा है। उसमे रहने वाला व्यक्ति अल्प-वित्त (थोडे धन वाला), स्वल्प-मित्र और अल्प-वान्धव तथा स्त्री-जित (स्त्री के द्वारा जीता गया) कहा गया है। वह वहाँ नित्य विविध व्याधियो से पीडित रहता है। वास्तु मे प्रवेश करने पर यदि घर दाये होता है तो उसका प्रदक्षिण प्रवेश होने के कारण उसे पूर्ण-वाहुक जानना चाहिये। उस वास्तु मे रहने वाले मनुष्य निश्चय ही पुत्र, पौत्र, धन, धान्य और सुख को प्राप्त करते हैं। घर के पीछे के भाग का आश्रय लेकर यदि वास्तु-द्वार होता है तो वाये भाग से इसका प्रवेश होने के कारण यह प्रत्यक्षाय नामक निन्दित वास्तु कहा गया है ॥१०-१७॥

ब्राह्मण मुख्य नामक पद-वास्तु मे निवास करे और द्वि-नामक वास्तु मे क्षत्रिय वास करे। वितथ मे वैश्य और सुग्रीव मे शूद्र निवास करे। ये सव वर्णों के अनुरूप क्रमशः विशेष भेद हैं। इस प्रकार वास्तु-द्वारो एव निवेशो का वर्णन किया गया ॥१८-१९॥

भवन-भूमि-कल्पना—अव इसके वाद शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय एव विप्र वर्णो तथा विजयाभिलाषी राजाओ के भवनो की भूमि-कल्पना का वर्णन किया जाता है ॥२०॥

शूद्रो का साढे तीन भूमि वाला भवन कल्याण के लिये होता है। इससे वढकर जो होता है वह कुल का क्षय करता है ॥२१॥

साढ़े पाच भूमि वाला भवन वैश्य का घर वृद्धि करता है और इस प्रमाण को अतिक्रमण करने पर धन और वन्धु का नाश कहा गया है ॥२२॥

साढे छे तल वाला क्षत्रिय का श्रेष्ठ घर सम्पत्ति, वल और समृद्धि का करने वाला होता है और इस प्रमाण के अतिरिक्त वनाया गया मकान उस सम्पत्ति और वल का नाश करता है ॥२३॥

साढे सात खड वाला श्रेष्ठ मकान विप्र (ब्राह्मण) का होता है। वह स्वाध्याय, आचार और भोग के लिये अच्छा माना गया है और अधिक ऊँचा भयावह माना गया है ॥२४॥

राजसूय आदि यज्ञो से जो राजा यज्ञ करते हैं अर्थात् राजसूय आदि यज्ञ करने वाले राजाओ के उत्तम भवन साडे आठ तलो के वनवाये जाने चाहियें। जो अनेक यज्ञो का करने वाला राजा अथवा राजाधिप हो उसका भी उत्तम भवन साढ़े आठ खंड का ही वनवाना चाहिये ॥२५-२६॥

जो द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य) वाजपेय यज्ञ का समाहित-चित्त होकर करने वाला है अथवा जो द्विज एक कोटि गौवो का दाता होता है वह भी उसमे (साढे आठ तल वाले भवन मे) निडर निवास करे ॥२७॥

जैसा प्रमाण बताया गया है उसी प्रमाणानुकूल भवनो मे राजा आदि लोग बड़ी भारी वृद्धि को प्राप्त होते है। इसके प्रतिकूल अवृद्धि के भागी बनते है। पीठ और तल सहित वेश्म का साधारण मान सम्प्रकीर्तित किया गया है। अब इन भवनो की ऊँचाई के सम्बन्ध मे बताया जाता है। साधारण हस्त के प्रमाण से शूद्र का भवन २० हाथ ऊँचा विहित है। वैश्य के ४०, क्षत्रिय के ६०, ब्राह्मण के ८० और राजा के १०० हाथ के प्रमाण की भवन की ऊँचाई प्रशस्त मानी गयी है। इनसे अधिक ऊँचा प्रमाण मनुष्यो के लिए प्रशस्त नही कहा गया है ॥२८-३१½॥

देवो, दानवो, दैत्यो, पिशाचो, नागो, राक्षसो, सिद्धो, गन्धर्वो और यक्षो के भवन इस प्रमाण से अधिक प्रमाण वाले बनाने चाहिएँ ॥३१½-३२½॥

शूद्र का मकान एक खड से कम नही होना चाहिए और दो खड से कम क्षत्रिय का, ढाई से कम विप्र का और तीन से कम राजा का नही होना चाहिए ॥३२½-३४½॥

इन प्रतिपादित नियमो से हीन प्रमाण से यदि किसी अनभिज्ञ स्थपति के द्वारा यथाकथचित भवन निष्पन्न भी हो जाता है तो वह घर गृह-स्वामी के भय के लिए, सिद्धि-विनाश के लिए तथा उत्तमशील आदि के विपर्यय के लिए होता है। अब वास्तुओ मे द्वारो के गुणो एव दोषो का अब वर्णन करता हूँ। वह द्वार ऋद्धिदायक कहलाता है जो सुस्थित, चौकोर, सुन्दर, अपने द्रव्य से योजित, ऋजु, अपने दिग्भाग मे न छोटा, न ऊँचा, न कम, न टेढा और न पिण्डित और न बहिर्गत, न आघ्मात और न कृश, न मध्य भाग मे और न अन्तर त्रुटियो से गत और न वह विस्तृत हो न सक्षित हो ॥३४½-३७॥

पद के मध्य भाग मे दक्षिण, पद के बारहवें भाग मे सस्थापित द्वार वृद्धि को प्राप्त होता है और पुष्टि करता है ॥३८॥

द्वार-वेध—गर्त्ता, सङ्गमे, शृङ्गाट, वापी, कूप, कुम्भको, कोणो, वृक्षो स्तम्भ-स्यन्दन आदिको से जो दरवाजा वेध को प्राप्त होता है वह शुभ नहीं होता ॥३९-४०½॥

सवो को श्रोत्र मे प्रवेग करावे ॥४०½-४४½॥

ऊपर-ऊपर खडो मे द्वार पर द्वार वनाना चाहिए अन्यथा नही। अथवा प्रदक्षिण से ही यह करना चाहिए। इसके अतिरिक्त पुन. और किसी प्रकार से नही विहित है ॥४४½-४५॥

खडो के ऊपर-ऊपर मुख दाहिने करना चाहिए और वाये से द्वार और सीढियाँ नही वनानी चाहिएँ ॥४६॥

जिस दीवाल पर पहले दरवाज़ा वनाया गया हो उसी दीवाल पर ऊपर भी वनाना चाहिए तथा दूसरी दीवाल पर वह दरवाजा दायी ओर (प्रदक्षिण) वनाना चाहिए ॥४७॥

घर के मध्य भाग मे और पद के मध्य भाग मे द्वार नही वनाना चाहिए। न स्थूल मे, न पद मे, न सिरापात मे वह इष्ट है ॥४८॥

बिना अश स्थित, कुछ टेढे, क्रान्त द्रव्यो से मर्मवेध दोषावह नही होता और द्वारवेध भी कही ऐसी अवस्था मे दोषावह नही माना जाता ॥४९॥

यवन की अटारी की छाया और पुर के देवकुल की छाया, सोम और सूर्य की रश्मियाँ गृह-द्वार पर प्रवेश नही करनी चाहिएँ ॥५०॥

न प्राकार से और न कुडच और न फिर विटक से द्वार-मर्मों को अन्तर्हित करना चाहिए क्योकि ऐसा करने से कही-कही दोष हो जाता है ॥५१॥

द्वार-दोष—वेधादि—द्वार के वहुत उच्च होने पर राजा से भय और नीचा होने पर चोर से भय और टेढ़े होने पर कुल को पीडा और वाहर निकल जाने पर पराभव, आध्मात होने पर अत्यन्त दारिद्रय और मध्य भाग मे कृश होने पर रोग, रथ्या से वेध होने पर रोग, चवूतरे से वेध होने पर मरण, शृङ्गाटक से विद्ध होने पर पुत्रियो का वैधव्य, वापी अथवा कूप से विद्ध होने पर अतिसार रोग से भय, कोने से विद्ध होने पर मृत्यु-भय, वृक्षो से वेध होने पर रोग-भय, खम्भे से स्वामी का मरण, भ्रम से विद्ध होने पर धन-हानि, पनाले से वडा दु ख, वडा भय, वड़ा कलि—ये सव वेध-दोष उपस्थित होते हैं। इसलिए सव प्रयत्न करके द्वार-वेध नही होने देना चाहिए ॥५२-५६॥

जिस घर के आगे और पीछे से दोनो दीवालो के दरवाज़े दोनो आपस मे विद्ध होते है उस वास्तु को **भिन्न-देह** के नाम से कहा जाता है और वह स्वामी के लिए अशुभ करने वाला होता है। वहाँ पर स्थापित किसी भी वस्तु की वृद्धि नही होती ॥५७-५८॥

गृह की कुक्षि मे निर्मित द्वार सर्वरोग-भयंकर कहा गया है ॥५९½॥

माहेन्द्र-सज्ञक, सव मनोरथो को देने वाला, पूर्वाभिमुख द्वार प्रशस्त

कहा गया है। दक्षिण-द्वार गृहक्षत शुभ कहा गया है। गन्धर्व नामक द्वार भी कल्याण के लिए सदा बनाना चाहिए। जयावह पुष्पदन्त नामक द्वार पश्चिम मे प्रशस्त कहा गया है। भल्लाट नामक उत्तराभिमुख गृहस्वामी का द्वार प्रशस्त कहा गया है ॥५९३-६१॥

एकाशीति पद वाले उन चौकोर वास्तु मे जो अपदक द्वार है उनके आदि से अन्त तक सब फलो का वर्णन करता हूँ। यदि पूर्व से विपरीत दिशा मे द्वार तथा दक्षिण मे विपरीत दिशा मे द्वार-सन्निवेश हो तो सुत और पराक्रम का नाश होता है। आनुकूल्य मे सुत की प्राप्ति प्रेष्य आदि लाभ, अग्निभय, स्त्रीजय, ऐश्वर्य, राजा से प्रियता, क्रोध मे असत्यता और मनुष्य की क्रूरता क्रमश पूर्ववत कही गई है ॥६२-६३॥

उसी प्रकार पुत्र की प्राप्ति, नौकरो की नीचता हो। भोजन, वाहन व पुत्र की सम्पत्ति करने वाला हो। ईशान मे कृतघ्न और अवश हो और दक्षिण मे पुत्र व बल की हानि करने वाला हो। अपरोन्मुखो मे सुत की पीडा, रिपु की वृद्धि, अर्थ और सुत का अलाभ तथा अर्थनाश बताये गए है। इसी प्रकार नैर्ऋत्य दिशा के प्रातिकूल्य मे बन्धु-व्यसन रिपु-वृद्धि, स्त्री-क्लेशादि उत्पन्न होते है। द्वार-समाश्रित जो गुण और दोष हैं उनका ठीक तरह से निरूपण कर दिया गया। उन गुण-दोषो को शास्त्रज्ञ तथा शिल्पज्ञ स्थपति जान कर ससार मे पूजा को प्राप्त करते हैं ॥६४-६७॥

द्वार-भंग-फल

जो यहाँ पर नवकर्म प्रतिपादित किया गया है वह यज्ञ मे, गृह मे, ग्राम मे, पुर मे तथा नगर और पत्तन मे भी जानना चाहिए ।।१।।

इन सब मे अर्थात् सर्वत्र ही बाहुओ मे (मान-दण्डो मे) सस्थान, आकार, मान और ह्रास तथा वृद्धि विचक्षण स्थपति एक ही समान जाने ।।२।।

यूप (यज्ञ-स्तम्भ) की ही लकडी के समान गृह-दारु-कर्म मे निमित्तो को देखना चाहिए । पात मे पात और तक्षण मे तक्षण जानना चाहिए ।।३।।

यूप की ऊँचाई के समान लकडियो की भी ऊँचाई समझनी चाहिए । उनके भग से भग और समाधि से समाधि निर्दिष्ट की जानी चाहिए ।।४।।

नवीन कर्म मे जो चीज स्निग्ध अर्थात् सुश्लिष्ट, सुगन्धित तथा प्रियदर्शन हो वह मनुष्यो के लिए धन्य कही गयी है । यदि पुर या ग्राम अथवा गृह निष्प्रभ मालूम हो तो उसे इस प्रकार के लक्षणो से आयास-बहुल समझना चाहिए ।।५-६।।

नवीन कर्म मे जो वास्तु परिध्वस्तोपम तथा रुक्ष प्रतीत होती है तो उस वेश्म मे भ्रम, रोग तथा शोक अवश्यम्भावी समझना चाहिए ।।७।।

मनुष्यों से व्याप्त होने पर भी जो भवन निश्छाय अर्थात् कान्ति-विहीन दिखलाई पड़े वहाँ पर गृहस्वामी छे महीने तक भी जीवित नही रहता है, इसमे सशय नही ।।८।।

जो वेश्म अथवा पुर शून्य होता हुआ भी अशून्य-सा लगता हो वह सब कामनाओ और गुणो से युक्त धन्य समझना चाहिए ।।९।।

नगर का पूर्व भाग यदि रम्य तथा प्रिय-दर्शन दिखलाई पडे तो राजा के लिए प्रिय-भार्या, मनःस्वास्थ्य, धन और धान्य प्राप्त होते हैं ।।१०।।

पुर का यदि पूर्व-दक्षिण भाग प्रिय-दर्शन हो तो राजा को महद् यश और पुष्कल हेम की प्राप्ति होती है ।।११।।

पुर का दक्षिण भाग जब रमणीय प्रतीत होता है तो राजा को सेना-पति की प्राप्ति तथा पुष्कल धन-धान्य प्राप्त होता है ।।१२।।

पुनः पुर का दक्षिण-पश्चिम भाग यदि रमणीय प्रतीत होता है तो राजा

की अर्थ-सम्पत्ति और प्रजा-वृद्धि निश्चित है ॥१३॥

पुर के पश्चिम भाग के रमणीय होने पर राजा पुत्रो, बन्धुओ एव धान्य आदि से सम्पन्न होता है और उत्कृष्ट उन्नति को भी प्राप्त करता है ॥१४॥

पश्चिमोत्तर भाग के रमणीय होने पर राजा को, नौकरो, पुत्रो और वाहनो से, उत्तरोत्तर वृद्धि होती है ॥१५॥

पुर के उत्तर भाग के रमणीय होने पर राजा सब शत्रुओ पर विजय प्राप्त करता है और पुरोहित की वृद्धि होती है ॥१६॥

यदि पुर का पूर्वोत्तर भाग सुन्दर हो तो वहाँ पर राजा का शीघ्र उत्तरोत्तर आनन्द समझना चाहिए ॥१७॥

पुर आदि के बन जाने पर जो भाग सुन्दर न दिखाई पडे उसके उसी भाग की क्षति समझनी चाहिए ॥१८॥

यदि नवीन पुर-द्वार मे किवाड टूट जाता है तो उससे स्त्रीनाम वाली किसी वस्तु का अथवा स्वय स्त्री का नाश समझना चाहिए ॥१९॥

देव-मदिर मे, पुर-द्वार मे, प्राकार मे, अट्टालिकाओ मे, हस्ति-शालाओ मे, अश्व-शालाओ मे, रथ-शालाओ मे, कोष्ठागार और आयुधागार मे यदि कोई शुभ अथवा अशुभ निमित्त दिखाई पड़े तो वह राजा को बता देना चाहिए ॥२०-२१॥

जहाँ ऊर्ध्ववश का भग दिखलाई पडे वहाँ राजा विनाश को प्राप्त होता है ॥२२½॥

नवीन कर्म मे अर्गला, पीलिका और कुची के भग होने पर यदि ग्राम मे उनका नाश होता है तो ग्राम नष्ट होता है। जो राष्ट्रो अर्थात् राज्यो के लिए निरूपित अशुभ है वही कुटुम्बियो के लिए गृह-निर्माण मे भी अपशकुन है। नवीन कर्म मे यदि कोई चीज टूट जाती है अथवा नम जाती है अथवा विध्वस्त हो जाती है या फट जाती है तो कुटुम्बी का मरण निश्चित है ॥२२½-२४॥

नव-निर्मित गृह मे सब निमित्तो मे शुभ अथवा अशुभ फल अधिक से अधिक एक साल लेना चाहिए। एक साल के बाद तो उसे पुराना निर्दिष्ट कर देना चाहिए ॥२५-२६½॥

नवीन कर्म के सम्पन्न हो जाने पर जहाँ पर तुम्बिका टूट जाती है वहाँ की श्रेष्ठ महिला छः महीना मे विनाश को प्राप्त होती है ॥२६½-२७½॥

इसी प्रकार से जिसका नवीन सदन विनष्ट हो जाता है, वह नौकर, प्रेष्य तथा दास आदि के विनाश से नाश को प्राप्त हो जाता है ॥२७½-२८½॥

जिस भवन के नव-कर्म मे नवीन पृष्ठ-वंश फट जाता है वहाँ पर कुटुम्बी एक साल के अन्दर मर जाता है और उसके विशेष रूप से फट जाने पर नौकर मर जाता है ।।२८½-२९।।

लुमाओ के टूटने पर कन्या का मरण आदिष्ट किया गया है और मुडको के नष्ट होने पर मित्र का नाश कहा गया है ।।३०।।

अनुपूर्वो के फट जाने पर पुत्रो का मरण ध्रुव समझना चाहिए और मुड-गोधाओ की विपत्ति मे कुटुम्बी की माता का विनाश कहा गया है ।।३१।।

नाग-पाशक के भग होने पर भृत्यो का मरण बताया गया है। कपाट मे भ्रातृ-मरण और अर्गला मे स्त्रीमरण होता है ।।३२।।

अर्गला के पार्श्व के विनष्ट होने पर पुत्र का मरण कहा गया है और द्वार-वध के विनष्ट होने पर तो शीघ्र कुलक्षय समझना चाहिए ।।३३।।

जिसका दृढ इन्द्रकील मूल से फट जाता है उसके पुत्र सहित पशुवर्ग की कुल-क्षति बतायी गयी है ।।३४।।

जिसका तोरण टूट जाता है उसका द्रव्य नष्ट होता है और गृह-स्वामी का मरण तेरह दिन मे समझना चाहिए ।।३५।।

वास्तु के मध्य भाग के विनष्ट होने पर कुल का वृद्ध विनाश को प्राप्त होता है। जहाँ पर नव कर्म के सम्पन्न होने पर सोपान भिन्न हो जाता है, उसके नौकर, गौवे और सोना विनाश को प्राप्त होते है ।।३६-३७½।।

जिसकी वेदिका फट जाती है उसकी भार्या विनाश को प्राप्त होती है ।।३७½-३७।।

गवाक्ष यदि नष्ट हो जावे अथवा दृढ पट्ट-स्तम्भ या गज-शुण्ड नष्ट हो जावे अथवा अश्व या नवीन कपोतालिया और स्थपनी-पट्टिकाएँ फट जावे तो स्त्री का विनाश समझना चाहिए ।।३८-३९½।।

विटक के अथवा तुला के किसी प्रकार भग होने पर अथवा शाला-स्तम्भ के विनाश होने पर गृहस्वामी की भार्या नष्ट हो जाती है ।।३९½-४०½।।

स्तम्भ का शीर्ष यदि नष्ट हो जावे अथवा फट जावे अथवा वह मजबूत खभा ही टूट जावे अथवा प्रतिमोक का भग उपस्थित हो तो स्वामी का वध होता है। भगवाहिनी अर्थात् जल-निर्गम-मार्ग के नष्ट होने पर कुल के वृद्ध का वध समझना चाहिए। इसी प्रकार आकाश-तलक के प्रति छिद्र होने पर पुत्र और कुटुम्बी छे महीने के अन्दर नष्ट हो जाते है, इसमे कोई सशय नही ।।४०½-४२।।

प्रासाद-मडल के भग्न होने पर और बलभियो के भग्न होने पर गृह-स्वामी की भार्या का निस्संदेह नाश होता है ।।४३।।

प्रलीन अथवा विलीन प्रासाद जब नष्ट हो जाता है तो प्रलीन मे भृत्य की मृत्यु और विलीन मे धनक्षय कहा गया है ॥४४॥

मिश्र प्रासाद के नष्ट होने पर सब वृद्धिया नष्ट हो जाती हैं अथवा वही पर मरण होता है अथवा कुष्ट की व्याधि निर्दिष्ट की गयी है ॥४५॥

जिन जिन स्थानो मे भग अथवा विनति प्रकीर्तित हुई वहाँ पर उसका फल यह है कि कोई-न-कोई उपद्रव अथवा विघात उपस्थित होता है ॥४६॥

इनसे से युक्त यदि वे स्थान सुन्दर दिखलायी पडते है तो धन, आयु, तथा हर्ष समझना चाहिए ॥४७॥

वर्गिका के बीच की स्थूणा अथवा शालापाद यदि नष्ट हो जाता है तो गृह-स्वामी अवश्य दु ख को प्राप्त होता है—इसमे सशय नही ॥४८॥

इसलिए सचेत एव बुद्धिमान् स्थपति इस बलाबल का सप्रधारण करके ही बल, धन, आयु और यश की प्राप्ति करता है ॥४९॥

इस प्रकार से सूचित किये गए निमित्तो के बलाबल को समझकर जो मतिमान तथा शास्त्रज्ञ व्यक्ति स्पष्ट आदेश करता है वह यश तथा धन को प्राप्त करता है तथा भवनो का भोग करता है ॥५०॥

तोरण-भङ्गादि-शान्तिक

पुराना अथवा नया बनाया गया अथवा अर्ध-निर्मित देवताओ का अथवा राजाओ का तोरण, यदि गिर जावे, टूट जावे, जल जावे अथवा लच जावे, सट जावे या दावाग्नि, बिजली और जल आदि से वह कदाचित् नष्ट हो जावे तो उनके दोषो का वर्णन करता हूँ और साथ ही साथ शान्ति का उपाय बताता हूँ ॥१-३½॥

यदि सम्पूर्ण तोरण गिर जावे अथवा किसी का शिर किसी तरफ गिर जावे तो राजाओ के लिए, सेनापतियो के लिए, प्रतीहारो और पुरोहितो के लिए, प्रधान घोडो और हाथियो के लिए, ब्राह्मणो और पुरवासियो के लिए मृत्यु-भय समझना चाहिए और इस शकुन से दुर्भिक्ष भी निर्दिष्ट किया गया है। इसलिए उसकी शान्ति के लिए विद्वान् को यह विधान करना चाहिए—धीर स्थपति, यज्ञकर्ता ब्राह्मणो और पुरोहितो के साथ, नगर की चारो दिशाओ मे रात मे सहोम बलि देवे। कोनो पर, चत्वरो पर, शृङ्गाटो मे, राजवेश्म मे, इन स्थानो मे ब्राह्मणो आदि से अक्षत सहित सुगन्धित द्रव्यो से, कलशो से, सफेद मालाओ और वस्त्रो से ढकी हुई वेदी का निष्पादन करवा कर वहाँ पर शान्ति-कारक होम और बलि करवाना चाहिए। इस प्रकार से जो कुछ पाप अथवा दोष उत्थित होता है वह सब शान्त हो जाता है ॥३½-९½॥

तोरण का भङ्ग राष्ट्र-भङ्ग निर्देश करता है अतः इसकी शान्ति के लिए पूर्व-प्रतिपादित विधान करवाना चाहिए ॥९½-१०½॥

यदि नगर मे कोई एक तोरण भी जल जावे तो राष्ट्र और नगर के लिए अग्निभय समझना चाहिए और बाहर तथा भीतर ब्राह्मणो को इसी विधि का प्रयोग करना चाहिए ॥१०½-११॥

तोरण के नत अथवा शीर्ण अथवा भग्न होने पर व्याधि एव पीडा विनिर्दिष्ट होती है। अत. पुनः सस्कार के लिए होम और बलि करना चाहिये ॥१२॥

हवा से अथवा बिजली से यदि तोरण टूट जावे तो उसमे रोग प्रवर्तित होते हैं और कुल की पीडा और धन का क्षय भी आपतित होता है। अतः

शान्ति-कर्म करना चाहिए जिससे वह शान्तिकर हो जावे। इस प्रकार से पहले शान्ति करने के बाद फिर संस्कार करना चाहिए ॥१३-१४॥

संस्कार मे यह आवश्यक है कि पूर्व तोरण से इस तोरण का विशिष्ट निर्माण होना चाहिए। दृढ द्रव्यो से युक्त, दृढ सन्धियो से निगूढ, विविध रूप-कर्म से युक्त, मनोरम, सुस्थान वाला, अकुब्ज, अनत और पहले से उत्कृष्टतर बना कर उसका न्यास करे और फिर ब्राह्मणो से शान्ति-पाठ करावे ॥१५-१७½॥

पुराने अथवा नये बनाए हुए अथवा आधे बनाए हुए प्रासाद मे अथवा घर मे यदि कबूतर प्रवेश कर जावे तो दोष पैदा होते है और उसी प्रकार से शान्ति-कर्म करना चाहिए ॥१७½-१८॥

चतुर्विध कपोत तथा तत्प्रवेश-दोष—यह कपोत पाप की जड है वह नीच पक्षी कहलाता है। यह साक्षात् काल-मूर्ति माना गया है। तपोधन मुनियो के द्वारा यह चार प्रकार का कबूतर बताया गया है—श्वेत, विचित्र-कण्ठ, विचित्र तथा कृष्णक। यदि भवन मे कहीं पर श्वेत कबूतर प्रविष्ट कर जावे तो कीर्ति, विद्या, धन, पुण्य शीघ्र नष्ट हो जाते हैं और नित्य रोग बढते हैं तथा शिशु-पीडा होती है। विचित्र-कंठ कबूतर स्त्री को नाश करता है और विचित्र सब पुत्रों को नष्ट करता है। सब सिद्धियो को खराब कर कृष्णक कबूतर कुल का नाश करता है। सब प्रकार के रोग बढते है, विपदाएँ और व्यसन तथा बन्धन आदि इस कपोताधम के प्रविष्ट होने पर आपतित होते हैं। इसलिए यत्नपूर्वक प्रायश्चित्त करना चाहिए ॥१९-२४॥

पूजा करे तथा फिर ब्राह्मणो से स्वस्तिवाचन करावे। तदनन्तर अपने धन का श्वेत कपोत की शान्ति मे एक चौथाई भाग ब्राह्मणो को अर्पण करे, चित्र-कठ मे आधा, सर्व-चित्रक मे तीन चौथाई और कृष्णक मे सब धन ब्राह्मणो को दे देवे। इस प्रकार से घर मे सब दोषो का निराकरण करने वाली शान्ति होती है। गृह-स्वामी महती श्री को प्राप्त करता है और उसे धन-लाभ भी होता है। पुत्रो तथा पौत्रो से वृद्धि को प्राप्त करता है और वह सयत आत्मा दीर्घायु को प्राप्त करता है तथा वह इस प्रकार की शान्ति करके, जिस प्रकार शरत्कालीन चन्द्र मेघो से मुक्त होकर उज्ज्वलता को प्राप्त करता है, उसी के समान वह सब पापो से विमुक्त होता है ॥२५-३५॥

गृह-दोष-निरूपण

अब गृह आदि के अप्रशान्त-समुच्छ्रित दोषों का संग्रह किया जाता है, क्योंकि एक ही जगह कहा हुआ सुन्दर होता है। इसलिए ये सब हम यहाँ एक स्थान पर कहते हैं ॥१॥

सर्वप्रथम भूमि-प्लव पर विचार करते हैं। नैऋर्त्य, वारुण, याम्य, वायव्य, आग्नेय इन दिशाओं की ओर जो भूमि निचली होती है वह निन्दित कही गई है। इसी प्रकार मध्य-प्लवा अर्थात् बीच में निचली भूमि व्याधि देती है। अरक्तावही भूमि दारिद्र्य लाती है। वह्नि-प्लवा भूमि अग्नि का भय लाती है, दक्षिण-प्लवा मृत्यु लाती है, रक्ष-प्लवा रोग लाती है और पश्चिम-प्लवा धान्य और धन का नाश करती है ॥२-३॥

मरुत्प्लवा भूमि कलह, प्रवास और रोग को लाती है तथा मध्य-प्लवा जो भूमि होती है वह सर्वनाश का कारण बनती है ॥४॥

तुषा (भूसी), हड्डी, केश, कीड़ों की खाल, घास, भस्म, ऊपर आदि से युक्त तथा खर्परों और अंगारों वाली, दुष्ट जन्तुओं एवं मनुष्यों वाली भूमि त्याज्य कही गई है ॥५॥

चैत्र में भवन-निर्माण करने पर वह शोक-कारक वेश्म कहा गया है। ज्येष्ठ में मृत्यु-प्रदायक, आषाढ़ में पशु-नाश करने वाला, भाद्रपद में सूना, आश्विन में लड़ाई-झगड़ा वाला, कार्तिक में नौकरों का नाश करने वाला और माघ में अग्निभय देने वाला होता है। अतः इन महीनों में वेश्म का निर्माण नहीं कराना चाहिए ॥६-७॥

वह्नि में घर में तथा पृष्ठ-वंश के पश्चिम भाग में तथा पूर्व-प्रासाद-कर्णों में गौन (स्तम्भ) आदि की योजना पूर्व दिशा में विहित है ॥८॥

पूर्व-पश्चिम-दिङ्मूढ वास्तु स्त्री-नाश करने वाला होता है और उत्तर-दिङ्मूढ-वास्तु निर्माण-समाप्ति को प्राप्त नहीं होता है। वह मृत्यु-दायक कहा गया है, अतः पुर में प्रासाद एवं मन्दिर का निर्माण पूर्वाभिमुख प्रशस्त माना गया है ॥९-१०॥

चलित, चलित, भ्रान्त तथा विसृत वास्तु त्याज्य कहा गया है। जो

वास्तु मुख-विनिष्क्रान्त होता है उसे वलित कहते हैं ।।११।।

पृष्ठ-विनिष्क्रान्त-वास्तु को चलित कहते है । भ्रान्त-सज्ञक वास्तु दिङ्मूढ होता है और कर्ण-हीन प्रासाद विसूत्र कहलाता है । अब इनका फल कहता हूँ ।।१२।।

वलित मे स्थान-चलन, चलित मे लडाई-झगडा, भ्रान्त मे स्त्री-विनाश तथा विसूत्र भूरि-शत्रु-कारक कहा गया है ।।१३।।

मूषकोत्कर तथा बाबी वाली और सर्प के समान टेढी, छिन्न, भिन्न और विकर्ण भूमि वास्तु-कर्म मे शुभ नही मानी गई है ।।१४।।

मूषकोकरर भूमि अर्थ का नाश करती है, वल्मीकिनी (बाबी वाली) सुत का नाश करती है, विकर्ण-भूमि कर्ण-रोग पैदा करती है । छिन्ना विनाश करने वाली, भिन्ना भेद करने वाली तथा कुटिला भूमि मति मे वक्रता लाने वाली कही गई है ।।१५।।

पाद सहित अथवा तीन भाग सहित या डेढ और दुगुना ही जो मुखायत वेश्म होता है वह अनिष्ट-फल-दायक कहा गया है । जो द्विशाल, त्रिशाल अथवा चतुःशाल भवन मूषा-रहित होता है वह भी अनिष्ट-फल-प्रदायक कहा गया है । सामने से, पीछे मे अथवा बगल से यदि अलिन्द-वर्जित शाला होती है तो वह गृह मे प्रशस्त नही कही गई । हाँ, देव-मन्दिर मे ठीक है ।।१६-१८।।

दूसरे घर के पृष्ठ पर स्थित द्वार वाला वेश्म खादक कहा गया है । ऐसा वह वेश्म दोनो गृह-स्वामियो के लिए परस्पर विरोध के लिए होता है ।।१९।।

वेश्म-मर्म-दोष-चतुष्टय—वेश्मो के चार मर्म-दोष कहे गए है—**सशल्य, पादहीन, समसन्धि** तथा **शिरोगुरु** । वास्तु-क्षेत्र के जिस अग मे जिसका रास्ता प्रर्वातत होता है उस वास्तु का उस भाग से वह अग छिन्न निर्दिष्ट किया गया है । उस छिन्नाग भवन को **विकल** कहते हैं और वह भयदायक तथा सर्वदोषकारक कहलाता है । वह गृह-स्वामी के उसी अग का भग करता है जिससे वह स्वयं छिन्न अथवा विकल है । उसका वेध भी अन्यथा फल वाला होता है ।।२०-२२।।

यदि मार्ग का अपने दोनो घरों के मध्य से निर्वाह होता है तो द्वार-वेध प्रतिपादित दोपो को निश्चय ही वह प्राप्त होता है ।।२३।।

दोनो घरो के पार्श्वों मे जब एक ही मार्ग जाता है तो उसे मार्गवेध कहते हैं और वह शोक एव सन्ताप-कारक होता है ।।२४।।

उत्सङ्गादि-प्रवेश-चतुष्टय—प्रवेश चार बताये गए हैं—**उत्संग, पूर्णबाहु, हीनबाहु** और **प्रत्यक्षाय** ।।२५।।

जहाँ पर वास्तु का द्वार गृह के सम्मुख होता है उसको उत्संग कहते है । प्रदक्षिण (गृह के दक्षिण भाग मे) प्रवेश से पूर्णबाहु, बायें से हीनबाहु और पीछे से वास्तु-प्रवेश को विद्वानो ने प्रत्यक्षाय नाम से समुद्दिष्ट किया है ।।२६-२७।।

उत्सङ्ग नामक प्रवेश मे कुटुम्बी की सन्तान-हानि होती है अथवा उसके धन, धान्य का नाश होता है या उसकी निश्चय मृत्यु कही गई है । पूर्ण-बाहु वास्तु मे बसने वाले स्वामी को पुत्र-पौत्र एव नित्य धन-धान्य सुख प्राप्त होते हैं । हीनबाहु-प्रवेश मे घर का मालिक अल्प-मित्र, अत्यल्प-बान्धव वाला अथवा अल्प-वित्त होता है । वह स्त्रियो से जित और रोगो से पीडित रहता है । जिस वेश्म मे प्रत्यक्षाय प्रवेश विहित होता है उसमे रहने वाले मनुष्यो का निश्चित धन-नाश होता है ।।२८-३१।।

भूषाओ की अ-स्थान-योजना से शाला-भेद दोष प्राप्त होता है । वहाँ पर रहने वाला मनुष्य मृत्यु-दु ख एव रुग्णता को प्राप्त करता है ।।३२।।

उत्तर-दक्षिण शालाओ मे और पूर्व-पश्चिम-अभिमुख शालाओ मे अन्यथा-स्थित द्वार वध-कारक एव बन्धन-कारक होता है ।।३३।।

भूषागत भ्रमो को तो करना चाहिए परन्तु शाला का भेदन नही करना चाहिए क्योंकि भ्रम-भग्न शालाओ मे कुटुम्बी विपत्ति प्राप्त करते हैं । जहाँ पर पीछे से अथवा बगल से शाला-भेद होता है वहाँ पर निश्चित रूप से गृह-स्वामी का धन-नाश कहा गया है ।।३४-३५।।

जहाँ पर पश्चिमाभिमुख दो शालाएँ होती हैं उसे विफोकिल नामक भवन कहते हैं, वहाँ पर रहने वालो की आयु, पशु तथा धान्य नाश को प्राप्त होते हैं ।।३६।।

सीमा-शाला मे प्रभिन्न प्रासाद और गृह की ऋद्धि अस्थिर होती है और उसकी स्थिति चिरकाल तक सम्भव नही है ।।३७।।

गर्भ मे चन्द्रावलोकना सर्व-दोष करने वाली समझनी चाहिए । वहाँ पर भूषा के बिना वह स्थान विनाश के लिए और गवाक्ष के होने पर मनोरथों के उच्छेदन के लिए कहा गया है ।।३८।।

जब गर्भ अथवा कुक्षि, पृष्ठ और कक्षा भेद को प्राप्त होते हैं तब गृह-स्वामी कठोर दारिद्र्य को प्राप्त होता है ।।३९।।

गर्भ-भाग मे दोनों तरफ दोनों पक्षो का तथा कर्ण-भित्ति तक जाने वाले दोनों पक्षों का विधान है । दक्षिण और उत्तर मे दोनो कुक्षियाँ पीछे मे पीछे की ओर प्रादिष्ट हैं । स्थापित द्वार के नरोत्र होने पर गृह-स्वामी

अपस्मार रोग (मिरगी) होता है और वहाँ पर द्वार के बनाने पर उसका अनर्थ होता है ।।४०-४१।।*

जहाँ पर कटे-पिटे गवाक्ष और अवलोकन बनाये जाते है वहाँ पर प्रसूति नही होती है और यदि वह होती भी है तो नष्ट हो जाती है ।।४३।।

दक्षिण की दीवाल के चुनने पर यदि वह बाहर चली जाती है तो वहाँ व्याधि का भय, नृप-दड-भय समझना चाहिए। जब पश्चिम दीवाल बाहर निकल पडती है तो धन-हानि समझनी चाहिए और चोरो से भय भी आपतित होता है ।।४३-४४।।

जब उत्तर की दीवाल चुनने पर बाहर निकल जाती है तो गृह-स्वामी और राज (स्थपति) दोनों के लिए बड़ा भारी व्यसन उपस्थित होता है। जब पूर्वाभिमुख भित्ति के चयन में उसका अग्रभाग बाहर निकलता है तब गृह-पति के लिए तीव्र राज-दड-भय कहा गया है। जब चीयमान प्राग्दक्षिण कर्ण बाहर निकल पडता है तो वहा पर भीषण अग्नि-भय और प्रभु का सशय समुपस्थित होता है। दक्षिण-पश्चिम कर्ण जब वहिर्मुख होता है तो वहा पर कलह आदि उपद्रव और भार्या का सशय कहा गया है। जहा पर उत्तर-पश्चिम कर्ण चुने जाने पर बाहर निकल पडता है तो वहा पर पुत्र, वाहन और नौकरो के लिए उपद्रव पैदा होता है। जब पूर्वोत्तर कर्ण बहिर्मुख हो जाता है तब गऊओ का, बैलो का और गुरुओं का नाश होता है ।।४५-५१।।

जिस भवन की चीयमान चारो दिवाले बाहर निकल जाती हैं तो वहा पर उसे **मल्लिका-कृति** मन्दिर की सज्ञा से पुकारा जाता है। उस प्रकार के घर मे जैसा व्यय होता है वैसी आय नही होती है और उसके ही दोष से दुःखित होकर उसका मालिक भाग जाता है। चुना हुआ जो वेश्म चारो तरफ से संक्षेप को प्राप्त करता है उसको सक्षिप्त कहा गया है और वह मध्य से विस्तृत होता है। उसको **मृदंगाकृति-संस्थान** की संज्ञा से पुकारते हैं और वहा पर व्याधि का भय उपस्थित होता है।

आदि से और अन्त से विस्तृत तथा मध्य से संक्षिप्त जो वेश्म होता है वह वेश्म **मृदु-मध्य** के नाम से उद्दिष्ट किया गया है और वहा पर क्षुधा का भय उपस्थित होता है। विपम, उन्नत, कर्णों से घर क्षयकारी होता है। दीवालो के समान पूर्व-प्रतिपादित कर्णो मे भी यही फल विहित है ।।५२-५७।।

मनुष्यो के भवन मे द्वार व मध्य मे कभी भी नही करना चाहिए। मध्य मे द्वार करने से कुल का नाश होता है। एक द्वार दूसरे द्वार से विद्ध होने पर

***टि०—४२वां श्लोक भ्रष्ट है अतः अनुवाद नहीं दिया गया।**

अशुभकारक होता है और अनिष्ट द्रव्य से सयुक्त वह धन-धान्य का विनाश-कारी होता है ॥५८-५६॥

नवीन द्वार पुराने द्वार से सयुक्त होने पर दूसरे स्वामी की इच्छा करता है। नीचे से ऊपर विद्ध द्वार राज-दण्ड देने वाला होता है और वह निन्दित कहा गया है ॥६०॥

नया द्रव्य पुराने से सयुक्त होने पर कलि-कारक अर्थात् झगडा करने वाला होता है और न मिश्रजाति के द्रव्य से निर्मित द्वार अथवा वेश्म शुभ कहा गया है ॥६१॥

घर के स्थानो मे जो द्रव्य अधिवासित कर प्रतिष्ठित किया जाता है, उसके चालन से गृह-स्वामी का भी चलन उत्पन्न होता है। दूसरे वास्तु से च्युत द्रव्य दूसरे वास्तु मे प्रयुक्त नही करना चाहिए। ऐसे प्रासाद मे पूजा नहीं होती है और न गृह मे गृह-पति वस पाता है ॥६२-६३॥

देव-दग्ध द्रव्य से जो-भवन बनाया जाता है उसमे गृह-स्वामी निवास नहीं कर पाता है और यदि निवास करता है तो नाश को प्राप्त होता है ॥६४॥

सूर्य से उत्पन्न वृक्ष की छाया और ध्वज की छाया निन्दित कही गई है। द्वार के अतिक्रमण मे यह छाया क्षुधा, व्याधि और कलहकारक होती है ॥६५॥

प्रासाद के शिखर की छाया को ध्वज-छाया कहते है ॥६६½॥

तीसरी, पाचवीं, सातवी गृह-नाराए गृहपति के लिये शुभ नही कही गई हैं ॥६६½-६६॥

अपने आप उद्घाटित द्वार उच्चाटनकारी होता है। वह धन-क्षय, बन्धु-वैर अथवा कलह करने वाला होता है ॥७३॥

जो द्वार अपने आप बद हो जाता है वह बडा दु खदायी होता है। आवाज के साथ बन्द होने वाला द्वार भी भयकारक, पाद-शीतल और गर्भ-पातक होता है ॥७४॥

द्रव्य अधोमुख नही करना चाहिए और न पश्चिम-दक्षिणाभिमुख ही करना चाहिए, क्योकि पश्चिमाभिमुख मे परिक्लेश और दक्षिणाभिमुख मे शून्यता प्राप्त होती है ॥७५॥

स्तम्भ द्वार और दीवार को विपरीत नही बनवाना चाहिए क्योकि इनके वैपरीत्य से मनुष्यो को बहुत दोष होते हैं ॥७६॥

मूलसूत्र के अनुसार ऊपर की भूमि का निर्माण करना चाहिए जो वेश्म नीचे से ऊपर तक बराबर है वह सन्ताप-कारक है। नीचे की भूमि मे जो क्षण होते हैं उनके समान ऊचे की भूमि मे भी वे होने चाहिएँ ॥७७-७८½॥*

जिस भवन मे शाला नीची होती है और अलिन्द अधिक होता है वहा पर निधन, शोक और भय समुपस्थित होते है ॥७८½-७९॥

मूल-द्वार के अनुसार ऊपर के खडो मे दरवाजो को बनाना चाहिए। इनके विपरीत द्वारो के सन्निवेश भय-प्रदायक माने गए हैं ॥८०॥

द्वार के आध्मात होने पर क्षुधा का भय उपस्थित होता है। टेढा होने पर कुल-विनाश आपतित होता है, अतिपीडित द्वार पीडा करने वाला और अन्तर्नत (झुका हुआ) द्वार क्षयकारी कहा गया है। बाहर से झुका हुआ द्वार प्रवास-कारक होता है एव दिग्भ्रान्त द्वार से दस्युओ से भय कहा गया है ॥८१-८२½॥

मूलद्वार यदि दूसरे द्वार से विद्ध हो जाता है तो क्षय करता है ॥८२½-८२॥

चौराहे की गली से विद्ध द्वार प्रवास और नौकरो से द्वेष समुपस्थित करता है। ध्वजा से विद्ध-द्वार द्रव्य का नाश करता है तथा वृक्ष से विद्ध होने पर शिशुओ का दोष-दायक होता है ॥८३॥

कीचड से विद्ध होने पर शोक, जल से व्यय, कूप से अपस्मार (मिरगी) और दैवत (देवमदिर) से विद्ध होने पर विनाश, खंभो से विद्ध होने पर स्त्रियो का दूषण, [illegible] से विद्ध होने पर कुल का नाश—ये दोष कहे गये हैं ॥८४-८५½॥

प्रमाण से अधिक द्वार-निर्माण राजा का भय उपस्थित करता है। मान से कम द्वार [illegible] और चोरों से भय उपस्थित करता है। [illegible]

---

* आगे का पाठ भ्रष्ट है।

में विद्ध होने पर द्वार व्याधिया लाता है और धन का क्षय करता है। देव-राज से बन्धन और भय के साथ ऐश्वर्य का नाश बताया गया है। वापी-वेध से सन्निपात-भय बताया गया है। कुलाल-चक्र से हृदय रोग, जल से दारिद्र्य, कलकूट से रोग और व्याधिया तथा आपाक से पुत्र-नाश, उदूखल से निर्धनता और शिला से अश्मरी रोग (मिरगी), जल के घडे से दुर्मन्त्री और भस्म से बवासीर आदि दोष बताये गये हैं। इसी प्रकार छाया से विद्ध द्वार मे गृहस्वामी के लिए दारिद्र्य उपस्थित होता है और स्थल-स्यन्दन तथा वावी आदि से विदेश-गमन प्राप्त होते हैं ॥८५½-९०॥

कृश, विकृत, अत्युच्च, कराल, शिथिल, पृथु, वक्र, विशाल, उत्तान, स्थूलाग्र, स्वकुक्षिक, स्वपाद-चलित, ह्रस्व, हीन-कर्ण, मुखानत, पार्श्वग, सूत्र-मार्ग-भ्रष्ट—ऐसे द्वार शुभ नही कहे गये हैं। ऐसे द्वार घोर नाश करने वाले एव स्वामी की सम्पदाओं का विनाश करने वाले कहे गये हैं और उसमे रहने वालो के लिए सदैव कलह उपस्थित रहता है। अत ऐसे दरवाजे का सदैव त्याग करना चाहिए ॥९१-९३॥

भीतर के द्वार से बाहर का द्वार न तो ऊँचा करे और न सँकरा करना चाहिए। उच्च अथवा विसकट वह द्वार कल्याण-कारक नही होता है। जब द्वार के मध्य-भाग मे पट्ट-सन्धि किसी तरह उपस्थित हो जाती है तो बनाने वाले का विनाश और कुल का नाश समुपस्थित होता है। दरवाजे पर तुला अथवा उपतुला यदि टेढी बना दी जाती है तो स्वामी के लिए दारिद्र्य, व्याधि एव सन्ताप आपतित होते हैं ॥९४-९६॥

यदि भवन मे जयन्तियाँ अनुवंश को प्राप्त होती हैं तो वित्त और आयु की अल्पता और अनारोग्य उपस्थित होते हैं। उदुम्बर मे विनिहित तुला का नाम ललाटी होता है। वह कन्याओं का दूषण अथवा मरणकारक होती है ॥९७-९८॥

ललाटी के बराबर छत्राग के उदर मे यदि तुला का न्यास किया जाता है तो उसको भी ललाटिका कहते हैं। यह पुत्र का क्षय करने वाली होती है। तुला-पिंड के साथ विन्यस्त तुला यज्ञोपवीतिनी समझनी चाहिए। इसमे रहने वाले कुटुम्ब के लिए बडा दुःख व्यसन और अशुभ उपस्थित होता है ॥९९-१००॥

यदि किसी प्रकार भी मध्य भाग मे एक भी भार-तुला विद्ध हो जाती है तो कुयोग भग्न होता है और धन घट जाता है ॥१०१॥

सम्पूर्ण तुलाग्र-भागों मे द्वारा भित्ति-भेद नही करना चाहिए। अतएव

पर भार-पट्ट का न्यास कुलक्षय करता है। अयुक्तो और युक्तो की यदि भार-पट्ट मे सन्धि होती है तो बनाने वाले का ज्येष्ठ पुत्र विनाश को प्राप्त होता है ॥१०२-१०३॥

अनुवश मे न तो कभी भोजन करना चाहिए और न कभी शयन करना चाहिए। भोजन करने वाले का अर्थनाश और सोने वाले को महारोग होता है। अनुवश मे नाश और रोग तथा उसके तिर्यक् स्थित होने पर राक्षस-भय आपतित होते हैं। शयनागार मे नागदन्त (खूंटी) के विन्यास मे मरण कहा गया है ॥१०४-१०५॥

कर्ण, पक्षिराज गरुड, घटा, ध्वज, छत्र, कुमार, सिंह-कर्ण तथा कपोतालि—ये घर मे वर्जित हैं। इनके अतिरिक्त इन्द्र-कील, शुक, तुम्बी और अर्धवंश भी वेश्म मे नही रखना चाहिए और यदि निर्मित होते है तो सर्व-दोषकारक कहे गए है ॥१०६-१०७॥

गृह पाँच प्रकार से नमता है—अतिक्षिप्र, चिरोत्पन्न, कृश-द्रव्य, अपाहित तथा अप्रतिष्ठित-सस्थान। जिस प्रकार से बहुत मोटे और बौने शरीर से मनुष्य कुरूप और दुर्बल होता है उसी प्रकार अतिस्थूल एव छोटे द्रव्य से भवन भी विरूप तथा अशक्त होता है ॥१०८-१०९॥

जीर्ण, घुणक्षत, मिश्र, हीन, वक्र, चड, तुड, वक्रकोण, मन्विविद्ध, अल्पमूलक, वज्रमध्य, स्थूलमूल, कुक्षिभिन्न, भिन्नमूल, कूर्मपृष्ठ तथा पक्षहीन जो लकडी होती है वह गृहद्रव्य मे प्रयोज्य नही है ॥११०-१११॥

हाथी, घोडे, अग्नि, जल, वायु के द्वारा गिराये गए वृक्षो को काम मे नहीं लाना चाहिए। इसी प्रकार बहुत से पक्षियो के घोसले वाले, कौवे और उल्लू से सेवित, मधुगृह, पिशाच एवं सर्प से दुष्ट, चैत्य और श्मशानो मे पैदा होने वाले, चौराहो, तिराहो तथा महानदियो के सगमो एव मार्गो पर पैदा होने वाले, मन्दिरो मे पैदा होने वाले, अपर भाग से सूखे, क्षत-पत्र वाले, वल्लीपिनद्ध, सूखे, कोटर तथा ग्रन्थियो से सकुल, दक्षिण तथा पश्चिम दिशा मे पतित, तथा काटेदार—ऐसे वृक्षो का भी वर्जन करना चाहिए। साथ ही साथ कपित्थ, उदुम्बर (गूलर), अश्वत्थ, शिरीष, वट, चम्पक, कोविदार, धव, अरिष्ट, श्लेष्मातक, विभीतक तथा सप्तच्छद और दूध तथा पुष्प-फल देने वाले ऐसे वृक्षो का भी वर्जन कहा गया है ॥११२-११६॥

दरवाजो से अथवा दीवालो से जहाँ मर्म पीडित होते हैं वहाँ गृहस्वामी को दारिद्रय एव कुलहानि आपतित होते हैं। स्तम्भो से मर्म-पीडन स्वामी का विनाश, तुलाओ से ध्रुव स्त्रीवध, सग्रहो से बन्धुनाश और जयन्तियो से स्नुषा

(गृह) का नाश कहा गया है। मर्म-स्थानों में स्थित कायों से गृहपति का कार्य निपीड़ित होता है। मर्मस्थ सन्धिपालों से मित्र-वियोग उपस्थित होता है। नागदन्तों से गृह-पीड़ा, नागपाशों से धनक्षय तथा मर्मस्थित कपिक्षकों से नौकरों की हानि होती है। पट्-दारक, अनुसर, गवाक्ष और आलोकन यदि मर्मस्थान में विनिविष्ट होते हैं तो महाभय होता है ॥११७-१२१॥

स्तम्भों के द्वारा अथवा द्वार-मध्यों के द्वारा अथवा तुलाओं, नागपाशकों, वातायनों और नागदन्तों के द्वारा, द्वार-मध्य निपीड़ित होने पर व्याधियाँ बढ़ती हैं तथा धन-नाश, कुलक्षय, राज-दण्ड-भय और पुत्रों का दुःख उपस्थित होता है। पट्-दारुकों के मध्य भागों में अथवा द्वार के मध्य भागों में कर्ण-द्रव्यादि द्रव्यों के विद्ध होने पर ऐसा ही फल होता है ॥१२२-१२४॥

नागदन्तों से, स्तम्भों से तथा वातायनों से विद्ध शय्या गृह-स्वामी के लिए शस्त्र और चोरों से भय उपस्थित करती है ॥१२५॥

गृह के मध्य भाग में निर्माण किया गया द्वार द्रव्य-कोश का नाश करता है तथा मालिक के लिए लड़ाई-झगड़ा लाता है अथवा उसकी स्त्री के लिए दोष उपस्थित करता है ॥१२६॥

एकोत्तर द्रव्य से भी महामर्म के पीड़ित होने पर गृहस्वामी का सर्वस्व नाश तथा ध्रुव मरण उपस्थित होता है ॥१२७॥

द्वार, स्तम्भ, तुला, अलिन्द और चय के पूर्वोक्त दोषों से घर शून्य होता है तथा विशूल नागदन्त में भी ऐसा ही फल होता है ॥१२८॥

विभाग-हीन, पद-हीन ऐसे रूपस्थान वास्तुओं में तथा यक्षों, मातृकाओं आदि की क्रियाओं में रोग से निस्सन्देह मृत्यु होती है ॥१२९॥

कड़वे, काँटे वाले, दुर्गन्धि, गुह्यक आदि देवयोनियों से आश्रित पेड़ों को पुर, प्रासाद और वेश्म के समीप न लगावें। बेर, केला, अनार, नीबू जिस घर में उगते हैं उस घर का उत्थान नहीं होता ॥१३०-१३१॥

उचित प्रमाण से अधिक द्रव्य से द्रव्य का नाश होता है। विहित प्रमाण से अधिक प्रमाण पुत्र का नाश करता है। ऊँचाई की अधिकता, पृथुता और विस्तार का आधिक्य सन्तान का नाश करता है ॥१३२॥

स्तम्भाग्रों, दीवालों, पट्टों, शीर्षकों तथा भवनों, आलोकनों, तोरणों, शालकों, मत्तों, कूटों, तोरग्रहणों, शालाओं एवं उन्नमागों, तुलाओं, सन्धि-पालकों, भवन के अग्रभागों, वेदिकाओं, स्थानों एवं नूतन जालों के द्वारा घात-प्राप्त आदि के दोषों से गृहस्वामी का ध्रुव नाश कहा गया है तथा रोग, दारिद्र्य, दुःख, पीड़ा, निर्धनता उत्पन्न होती है ॥१३३-१३५॥

गृह-सामान्य-दोष—उच्चच्छाद्य, छिद्रगर्भ, भ्रमित, नमित-मुख, हीनमध्य, नष्टसूत्र, शल्यविद्ध, शिरोगुरु, भ्रष्टालिदक-शोभ, विषमस्थ, तुलातल, अन्योन्य-द्रव्य-विद्ध, कुपद-प्रविभाजित, हीन-भित्ति, हीन-उत्तमाग, विनष्ट, स्तम्भ-भित्तिक, मिश्रशाल, त्यक्तकण्ठ, निष्कंद, मानवर्जित और विकृत—ये दोष गृह-स्वामी के लिए अनिष्ट-फल-दायक होते हैं। इसलिए इन दोषो को त्याग कर शुभ गृह का निर्माण करना चाहिए ॥१३६-१३९॥

इस प्रकार का गृह (भवन) स्वामी और राज (स्थपति) दोनो के लिए दोषावह होता है। इसलिए इन दोषो से बचने के लिए कारीगरो को प्रमाद नही करना चाहिये। कीर्ति की कामना रखने वाले उन लोगो को इन्हे ठीक तरह से समझकर गृह-निर्माण करना चाहिए ॥१४०॥

गृह-शान्ति-कर्म-विधि

अब शान्ति-कर्म का विधान कहेंगे। ठीक तरह से दिक्पालो की पूज करके और क्रमश शान्ति-मन्त्रो के द्वारा आहुति देकर विचक्षण स्थपति स्वणि घटो से कर्णिका का स्नान करावे। उसे सब गन्धो से अनुलिप्त कर, माल आदि से विभूषित तथा विवासित कर और मूल मे मधु से लेप कर दोष प्रशमनार्थ शान्ति के लिए उसको मूल मे ही निखातन करना चाहिए ॥१-३॥

मधु, कुम्भ और अरिष्ट तथा शैवाल के साथ-साथ विविज्ञ स्थपति श्रे ब्राह्मणो से मागलिक पाठ कराता हुआ पवित्र एव प्रयतात्मा होकर उ कर्णिकाओ की स्थापना करनी चाहिए। इस विधि से चारो वर्णो का क विहित है ॥४-५॥

कर्णिका को आरोपित कर उसे फिर उखाड कर उसका जिस भव मे आरोप किया जाता है वह भवन पूर्णता को प्राप्त नही होता और वहाँ प गृह-स्वामी विनाश को प्राप्त होता है। जिस भवन मे उखाड कर जो लकड़ काटी जाती है अथवा वह फिर ताडित की जाती है, ऐसे भवन मे सब प्रका से गृह-स्वामी का धन, धान्य नाश को प्राप्त होता है ॥६-७॥

वल्ली से निपीडित लकडी यदि प्रवेश मे गाडी जाती है तो घोर सर्प भय का उत्पात प्रादुर्भूत होता है। उठाने पर कर्णिका की सब प्राणियो के अभिघर्षण से रक्षा करनी चाहिए। नवीन कर्म मे मृग तथा व्याल अशकुन क गए है और यदि कर्णिका पर चढ जाते है तो वहाँ पर ये दोष कहे गए है कर्णिका का अपीडन अथवा उसके लाये जाने के अवसर पर यदि कौवे उस प बैठते है तो गृह-स्वामी का प्रवास कहा गया है। उसका अन्न और पान नष्ट हो जाता है। मयूर के अधिरोहण करने पर राजा उस घर को पाँच वर्ष के बाद छीन लेता है। कोकिलो के चढने पर वर्गो मे दो वर्षो के बाद क भारी भय उपस्थित होता है। कापोतो के अधिरोहण से तीन वर्ष तक क भय कहा गया है। तोते के चढने से कलह आदि होते है और वह घर निष्पन्न नही होता। मुर्गे के अधिरोहण से अग्निभय जानना चाहिए अथवा राजा से बडा भय समझना चाहिए। सारिका के अधिरोहण से गृह-स्वामी की स्त्रिय

का दुराचरण कहा गया है और सर्प के आरोहण मे घर निष्ठा को प्राप्त नही होता है। कुलिङ्ग के अधिरोहण मे स्त्री-पुरुषो मे पापाचरण आपतित होते है। कबूतर के अधिरोहण मे स्त्री-पुरुष अपने से बुजुर्गों के साथ गम्यागमन करते है। विडाल के अधिरोहण मे दासो का पूरा कुल निपीडित होता है और इस घर को अग्नि अथवा जल या फिर हाथी नाश करता है ।।८-१६।।

वन के पक्षियो के द्वारा घर्षण होने पर यह फल है कि एक वर्ष के अन्दर युवको की मृत्यु हो जाती है। मधु के आसग मे धनक्षय, उल्लू के घर्षण अथवा दर्शन मे दु स्वप्न-दर्शन तथा बालको का मरण कहा गया है। डरे हुए किसी पशु-पक्षी के निलीन होने पर उस घर को राजा छीन लेता है ।।१७-१८।।

जब अग्रभाग मे कर्णगत धूम्र दिखाई पडे तो उस घर को शीघ्र या तो अग्नि जला डालती है अथवा बिजली नष्ट कर देती है ।।१९।।

जहाँ पर गीध आरोहण करता है उसको ब्राह्मण के चरण से स्पर्श करावे और उसको सब हलो से जुतवा कर बीज बुआवे। वहाँ पर गौओ को दुहावे, शान्ति-कर्म को करावे और मेघ के बरसने पर फिर वहाँ पर गृह-निर्माण करवाना चाहिए ।।२०-२१।।

जिन-जिन घरो के अगो मे मधु का संचय होता है, तदनुरूप उस अग का वध कहा जाता है। प्रेपणी मे उपद्रव समझना चाहिए। इसलिए शिखा के अग्रभाग मे मुकुटो का रोपण विहित है और जब तक वह अच्छा न लगने लगे तब तक चारो तरफ से रक्षा करनी चाहिए ।।२२-२३।।

पक्षियो के लीन होने पर कोई भी चीज प्रशस्त नही कही गई है। इस-लिए पूर्व-प्रतिपादित उत्पात से प्रयत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए ।।२४।।

गृहो की लकड़ियो के भग होने पर अब शान्ति-हवन कहा जाता है। इन्द्रकील, महाकूट, पृष्ठवंशोत्तर दोनो घर (बडहरा), रस्सी, दोनो अलिन्दपाद—

भूनिका स्त्री-विनाश के लिए और वेधन गृह-नाश के लिए होता है। संन्धि और सन्धिपालियां मित्रनाश के लिए कही गयी हैं ॥३१½-३२½॥

नये घर मे नई लकड़ी निर्माण को प्राप्त होती हुई अथवा निर्माणावस्था मे होती है अथवा आयोज्यमान या युक्त हो वह एक साल मे यदि भग होती है तो शरीर-नाश उपस्थित होता है और टूट-फूट जाता है। ऐसी अवस्था मे उस घर को ब्राह्मण के आधीन करके और रत्नो से दूसरे का नक्शा खीचकर नवीन वस्त्रो से ढक कर फिर उसका भेदन प्रारम्भ करना चाहिए ॥३२½-३४॥

दग्ध, भिन्न, प्रचलित, विनत, विद्युत्-हत, विरुद्ध, दलित तथा सन्न आदि मे सब जगह की ओषधियो को स्मरण कर शान्तियां करानी चाहिएँ और विधिवत हवन करके ब्राह्मणो से स्वस्ति-पाठ कराना चाहिए ॥३५-३६॥

जिसकी स्थूणिका टूट जाती है उसकी कीर्ति नष्ट हो जाती है। चन्द्रमा तथा सूर्य इन दोनो की पूजा करनी चाहिए, तब वह दोष नष्ट हो जाता है और इसी प्रकार वृक्ष लाकर उसकी प्रतिकृति बनवानी चाहिए। ऐसा करने पर गृह-स्वामी सुखी होता है। उसकी कीर्ति और आयु ध्रुव होती है ॥३७-३८½॥

जिसका मस्तक टूट जाता है उसका पौरुष नष्ट हो जाता है। अत पुष्य नक्षत्र मे उसका प्रायश्चित्त करना चाहिए और उसी प्रकार का वृक्ष लाकर मस्तक की दूसरी प्रतिकृति बनानी चाहिए। ऐसा करने से वह सुखी होता है और उसका बल बढ़ता है ॥३८½-४०½॥

बनवानी चाहिए। ऐसा करने पर वह सुखी होता है और पुत्र-पौत्रो से बढता है ॥४६-४७॥

जहाँ पर उपधी टूटती है वहाँ पर अमात्य (मन्त्री) का विनाश कहा गया है। अत वहाँ पर इन्द्र की पूजा करनी चाहिए और प्रायश्चित्त करना चाहिए और उसी प्रकार का वृक्ष लाकर दूसरी उपधी बनानी चाहिए। ऐसा करने पर सौख्य होता है और मन्त्रियो से वह बढता है ॥४८-४९॥

जिसका काय व्यथित होता है उसका प्रेरक (नौकर) नाश को प्राप्त होता है। अत· यक्षदेव की पूजा करके प्रायश्चित्त करना चाहिए और उसी प्रकार लकडी लाकर काय की प्रतिकृति बनवानी चाहिए। ऐसा करने पर वह सुखी होता है और नौकरो से बढता है ॥५०-५१॥

जिसकी तुला व्यथित होती है उसकी कुटुम्बिनी व्यथित होती है। अत· मेदिनी की पूजा करके प्रायश्चित्त करना चाहिए और उसी प्रकार का वृक्ष लाकर उसको सजाकर स्थापना करनी चाहिए। तदनन्तर बुद्धिमान् व्यक्ति निरीक्षण करता हुआ और क्रियाओ को करावे, उसे सजाकर फिर नवीन वस्त्रो से ढककर ब्राह्मणो से स्वस्ति-वाचन करवाने के बाद उसकी प्रतिकृति बनवानी चाहिए। ऐसा करने पर वह सुखी होता है और धनो से वृद्धि पाता है ॥५२-५५½॥

कर्णिकाओ मे खूंटा अथवा मालापाद के टूटने पर भवनपति इस भग उत्पात से दु·खी होता है अतः प्रज्ञावान् शास्त्र के जानकार स्थपति को बुलाकर वास्तु-विभाग से जो देव निश्चित किया जावे, उसको आहुति देकर प्रायश्चित्त करना चाहिए। ऐसा करने से वह सुखी होता है और सब प्रकार से बढता है ॥५५½-५८½॥

जहाँ पर युग व्यथित होता है वहाँ पर पशु-पीडन कहा गया है। अतः ईशानदेव की पूजा करके प्रायश्चित्त करना चाहिए और उसी प्रकार का वृक्ष लाकर युग की प्रतिकृति बनवानी चाहिए। ऐसा करने पर उसको सुख और पशु-वृद्धि प्राप्त होती है ॥५८½-६०½॥

तुला अथवा······(?) पाद जिसका टूट जाता है उसका फल आयु-हानि कही गयी है। ऐसी दशा मे बलदाऊ जी की पूजा करनी चाहिए और प्रायश्चित्त करने के बाद उसकी प्रतिकृति का निर्माण करना चाहिए। इस शान्ति-कर्म से वह कुटुम्बी सुखी होता है ॥६०½-६२½॥

नवीन कर्म मे जिसका माहेन्द्र नामक द्वार नष्ट हो जाता है उसे इन्द्रदेव की पूजा करके प्रायश्चित्त करना चाहिए। गृहक्षत नामक द्वार के नष्ट होने पर

यम की पूजा करनी चाहिए। पुष्पदन्त नाम के द्वार के विगड जाने पर वरुण की पूजा करनी चाहिए। नवीन घर में जिनका भल्लाट नामक द्वार बिगड जाता है, वहां चन्द्रमा की पूजा करके प्रायश्चित्त करना चाहिए। अत इस शान्ति को करने से कुटुम्बी सुखी होता है ॥६२½-६५॥

जिस स्थूणाराज का अग्रभाग दाहिनी तरफ टेढा हो जाता है, वहां पर शरीर विषाद प्रतिवर्ग व्यथा को प्राप्त होता है। पीछे से दीर्घशोक, उत्तर से धन-क्षय, पूर्व से राज-दण्ड अत उसको सीधा (ऋजु) बनाना ही प्रशस्त कहा गया है ॥६६-६७॥

जिन वेश्म के चार अंग—तुला, पृष्ठवंश, धारणी अथवा उत्तराम्बर बिगडते हैं तो वहां पर पहले कहे गये पूजा-विधान के अनुसार प्रायश्चित्त करना चाहिए। ऐसा करने से उसे धन्य, मांगलिक, पुष्टिदायक सन्तान वृद्धि करने वाला कहा गया है ॥६८-६९॥

इस प्रकार से गृह-सम्बन्धी निमित्तों को जानकर और पूर्वोद्दिष्ट सब शकुनों को जानकर अलग-अलग पूर्व-प्रतिपादित शान्ति-विधान करता हुआ गृहपति कीर्ति, सुख, धन और आयु को प्राप्त करता है ॥७०॥

अनुक्रमणी

अनुक्रमणी

ख

ग

घ

च

च

छ

ज

त

द

फ

ब

भ

श

रेखा-चित्र

पुर अथवा ग्राम-नगर के रेखा-चित्र

नन्द्यावर्त (चतुरस्र)

नन्द्यावर्त (वर्तुल)

स्वस्तिक

卐

पद्मक

कार्मुक

प्रस्तर